प्रकाशक
बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्
सम्मेलन भवन पटना ३

शकाब्द १८८८ विक्रमाब्द २०१६ खृष्टाब्द १९५९

मूल्य सजिल्द ५.७५ न पै

मुद्रक
तपन प्रिंटिंग प्रेस
पटना

वक्तव्य

सन्तमत के सम्प्रदाय और पन्थ अनेक प्रकार के हैं। उनमें से नाथपन्थी कबीरपन्थी दादूपन्थी आदि सन्तों के सम्प्रदाय पर हिन्दी में कई अच्छी पुस्तकें निकल चुकी हैं। किन्तु जहाँ तक हमें पता है सरभंग-सम्प्रदाय पर हिन्दी में यही पहली पुस्तक है। इस प्रकार इसके द्वारा हिन्दी के सन्त-साहित्य में एक नये अध्याय का आरम्भ होता है।

यद्यपि विद्वान् लेखक ने इस विषय में आगे भी शोध करने की आवश्यकता बतलाई है तथापि इस विषय के शोध-क्षेत्र को उर्वर बना देने का श्रेय उन्हीं को मिलेगा। उन्होंने वैदिक साहित्य से इसका सूत्र ढूँढ़ निकाला है और ऐसे संकेत भी दिये हैं जिनका सहारा लेकर भविष्य के अनुसन्धायक सफलता के मार्ग पर अग्रसर हो सकेंगे।

सरभंग सम्प्रदाय अघोरपन्थियों का मत कहा गया है। पुष्पदन्ताचार्य के शिव-महिम्नःस्तोत्र से अघोर-पन्थ की श्रेष्ठता प्रमाणित है। कहते हैं कि इसकी सिद्धि का मार्ग बड़ा बीहड़ है। इस पन्थ के परम सिद्ध सन्त 'कीनाराम' के विषय में कहा जाता है कि वे सदेह विदेह थे। उनकी जीवनी काशी के प्रसिद्ध हिन्दी दैनिक 'आज' (२१ नवम्बर, १९५१ ई०) में छपी थी जिसके अनुसार कीनाराम का शरीरपात १[illegible]८ वर्ष की आयु में सन् १७७८ ई० में हुआ था। उनकी तेजस्विता की कहानियाँ आज भी बिहार के पश्चिमी और उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों में सुनी जाती हैं। वर्तमान काल के एक विद्वान् औघड़पन्थी महात्मा के कथनानुसार अघोर-सम्प्रदाय की साधना विधि अत्यन्त कराल कठोर है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि दुस्साध्य साधना से प्राप्त सिद्धि भी बड़े ऊँचे स्तर की होती होगी।

सरभंग-सम्प्रदाय के एक पहुँचे हुए सन्त बाबा गुलाबदास के उत्तराधिकारी उस दिन परिषद्-कार्यालय में पधारे थे। काशी के सेनपुरा मुहल्ले में उनका पुराना मठ है। वहाँ से वे [illegible] नामक मासिक पत्र हिन्दी-अँगरेजी में निकालते हैं। उनसे सरभंगी सन्तों की कुछ चमत्कारपूर्ण चर्चा सुनकर ऐसा अनुभव हुआ कि आध्यात्मिक जगत् में इस सम्प्रदाय की उपलब्धियाँ भी बड़े महत्त्व की हैं। प्रस्तुत पुस्तक से इस बात की सचाई प्रकट हो जायगी।

पुस्तक-लेखक डॉक्टर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री संस्कृत अँगरेजी और हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं। वे बिहार-राज्य के सारन जिले के निवासी हैं। पहले वे पटना विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे। विदेश-यात्रा से लौटने पर वे बिहार-सरकार के शिक्षा विभाग में उच्च पदाधिकारी हुए। कुछ साल भागलपुर के टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज के आचार्य रहकर बिहार-राज्य के संयुक्त लोकशिक्षा निदेशक हुए और अब मुजफ्फरपुर के लंगट

सिंह कालेज के प्राचार्य हैं। वे हिन्दी के यशस्वी निबन्धकार और आलोचक हैं। उनकी कई समीक्षात्मक साहित्यिक पुस्तकें हिन्दी-संसार में समादृत हो चुकी हैं। परिषद् से भी उनका एक ग्रन्थ पहले ही प्रकाशित हुआ है—'सन्तकवि दरिया : एक अनुशीलन'। उसमें उन्होंने बिहार के कबीर कहे जानेवाले दरियादास की रचनाओं का आलोचनात्मक अध्ययन उपस्थित किया है। सन्त-साहित्य के लुप्तप्राय रत्नों का उद्धार और मूल्यांकन करके उन्होंने हिन्दी-साहित्य की चिरस्मरणीय सेवा की है।

जब शास्त्रीजी परिषद् के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थशोध विभाग के अध्यक्ष थे, तभी उन्होंने इस विषय की पुरानी पोथियाँ और इस सम्प्रदाय के मठों तथा सन्तों की खोज कराई थी। चूँकि वे परिषद् के सदस्य भी हैं इसलिए इस विषय में उनकी शोध प्रवृत्ति और गहरी पैठ देखकर परिषद् ने उनसे अनुरोध किया कि उसकी भाषणमाला के अन्तर्गत वे इस विषय पर भाषण करें। तदनुसार उन्होंने सन् १९५७ ई० में १८ जनवरी (मंगलवार) को अपना भाषण प्रस्तुत किया। वही इस पुस्तक में प्रकाशित है। आशा है कि यह गवेषणापूर्ण पुस्तक हिन्दी के सन्त-साहित्य पर अन्वेषण करनेवालों को नई दिशा सुझावेगी।

वैशाख-पूर्णिमा, शकाब्द १८८०
विक्रमाब्द २०१५

शिवपूजनसहाय
(संचालक)

संतमत का सरभंग सम्प्रदाय

लेखक डॉ धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री

प्रारम्भिकी

'सरभंग'-संतों के संबंध में मुझे जो सर्वप्रथम जिज्ञासा हुई उसकी प्रेरणा चंपारन के बैंगरी ग्राम निवासी श्रीगणेश चौबे से मिली। जब मैं बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के हस्तलिखित ग्रन्थ-अनुशीलन विभाग का निर्देशन कर रहा था तब चौबेजी के सहयोग से चंपारन के सरभंग संतों की 'बानियों' के अनेक हस्तलिखित संकलन प्राप्त हुए। कुछ मुद्रित पोथियाँ भी उपलब्ध हुईं। आश्चर्य है कि जिस संप्रदाय का बिहार-राज्य में व्यापक रूप से प्रचार है और 'अघोर-संप्रदाय' के रूप में जो समस्त भारत में फैला हुआ है एवं जिसका प्रचुर साहित्य विद्यमान है उसके संबंध में जानकारी का अभाव भी उतना ही व्यापक और विपुल है। पिछले सात वर्षों में मुझे तीन-चार बार चम्पारन के कुछ स्थानों के परिभ्रमण का अवसर प्राप्त हुआ और जब-जब ऐसा सुयोग मिला मैंने अपने अनुसन्धेय विषय के संबंध में परिचय प्राप्त करने की चेष्टा की। बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद् के तत्त्वावधान में हस्तलिखित ग्रन्थों के स्थायी अनुसंधायक श्रीरामनारायण शास्त्री ने जिस निष्ठा तथा तल्लीनता के साथ सहयोग दिया और मूल सामग्री एकत्र करने की चेष्टा की, वह प्रशंसनीय है। श्रीनारायण शास्त्री ने भी कुछ दिनों तक सरभंग-सम्प्रदाय-संबंधी साहित्य तथा सूचनाओं का संकलन किया। श्रीराजेन्द्रप्रसाद तिवारी ने अनेक अस्पष्ट तथा दुर्लिखित पोथियों की स्पष्ट पांडुलिपि की। श्रीशीतलप्रसाद श्रीनागेश्वरप्रसादसिंह श्री श्रीगोपीकृष्णप्रसाद श्रीश्यामसुन्दरसहाय तथा श्रीसुशीलकुमार सिन्हा ने भाष्यमाला को अंतिम रूप देने और स्वच्छ पांडुलिपि तैयार करने में सहायता दी। पीरी (सारन) मठ के बाबा सुखदेवदास बारा-गोविन्द (चंपारन) मठ के बाबा बैजूदास देव बरजी (मुजफ्फरपुर) के श्रीराजेन्द्रदेव श्रीतारकेश्वरप्रसाद तथा श्रीविजयचन्द्रकिशोर शर्मा (माधिहारी) श्रीठाकुर पूरनसिंह चौहान (अमहिया) आदि ने सामग्री तथा सूचना-संकलन में सहयोग दिया।

असम (आसाम) की यात्रा में जिन विद्वानों और साधकों से सहानुभूति सौहार्द एवं सत्परामर्श की प्राप्ति हुई उनमें उल्लेखनीय हैं—श्रीमहेश शर्मा श्रीविपिनचन्द्र गोस्वामी श्रीरमणीकान्त शर्मा श्रीत्रिपुरानाथ स्मृतितीर्थ श्रीजिबल चौधरी श्रीनिर्मलकुमार महन्त आदि। पटना विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के प्राध्यापक तथा मेरे भूतपूर्व सहयोगी श्रीरामखेलावन सिंह ने सामग्री-संकलन विचार विनिमय तथा श्रुतिलिपि-लेखन में बहुमूल्य सहयोग प्रदान किया। मैं इन सभी सज्जनों का तथा अन्य मित्रों का जिनकी चर्चा नहीं कर सका ऋणी हूँ। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने सरभंग सम्प्रदाय के संबंध में भाष्यमाला प्रस्तुत करने के लिए निमंत्रित कर मेरी साहित्य-साधना को उत्प्रेरित किया है अतः मैं परिषद् का अत्यन्त

आभारी हूँ। परिषद् के सभी अधिकारियों तथा कर्मचारियों की आत्मीयता मैं अर्जित कर सका—यह मेरे लिए गौरव का विषय है। शायद प्रत्येक का नामोल्लेख अनावश्यक है।

बिहार में अनेकानेक संत मत तथा संप्रदाय फूले फले हैं; किन्तु अभी तक हमें उनमें से बहुतों की जानकारी सुलभ नहीं है। उनका साहित्य यहाँ-वहाँ मठों में या भक्तों के पास अरक्षित रूप में पड़ा हुआ है। यदि हम बिहार के अज्ञात अथवा अल्पज्ञात धार्मिक साहित्य के अन्वेषण तथा गवेषणा के लिए अनुसंधायकों का एक मंडल तैयार करें और वह वैज्ञानिक ढंग से तथा व्यवस्थित निर्देशन के अधीन काम करे, तो शायद हम ऐसे अनमिनत मोती विस्मृति-समुद्र के गहरे गर्त से निकाल सकेंगे जो हिन्दी-साहित्य के गलहार में पिरोए जाकर उसमें चार चाँद लगा सकेंगे।

प्रस्तुत मापदमाला को पाँच खंडों में विभक्त किया गया है—पीठिका के रूप में पृष्ठभूमि और प्रेरणा; सिद्धान्त; साधना आचार-व्यवहार तथा परिचय। इसके लिए जिस मूल सामग्री का उपयोग किया गया है उसका एक बड़ा अंश हस्तलिखित रूप में है। जो सामग्री मुद्रित रूप में उपलब्ध है उसका भी प्रचार भक्तों के सीमित क्षेत्र में ही है। अतः आवश्यकता है कि सरभंग अथवा 'औघड़'-मत-संबंधी समस्त मुद्रित तथा हस्तलिखित साहित्य को एकत्र किया जाय और उसे सुसंपादित कर प्रकाशित किया जाय। मैंने इस मापदमाला के द्वारा अनुशीलन की एक नई दिशा की ओर संकेत मात्र किया है। मैं आशा करता हूँ कि अन्य साहित्यानुरागी मनीषी एवं तत्त्वान्वेषी बन्धु इस दिशा में आगे बढ़ेंगे और इस इल्की-सी दीप शिखा से अनेकानेक ऐसे दीपों की माला प्रज्वलित करेंगे, जिनकी आलोक किरणों से अभी साहित्य साधना एवं चिन्तन का जगत् वंचित है।

पटना,
२१.१.१९५९ ई०

धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री

विषयानुक्रमणी

चौथा अध्याय

परिचय

परिशिष्टाध्याय

पूरक सामग्री

०

पीठिकाध्याय

पृष्ठभूमि और प्रेरणा

पृष्ठभूमि और प्रेरणा

संतमत की जिस शाखा अथवा सम्प्रदाय का विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है, उसे सामान्यतः 'अघोर' अथवा 'औघड़' कहते हैं किन्तु सारन और चम्पारन में, मुख्यतः चम्पारन में इसे 'सरभंग' कहा जाता है। जन-सामान्य में 'औघड़' शब्द भी प्रचलित है। 'सरभंग'-मत एक धार्मिक सम्प्रदाय है और अतः इसमें तीन पक्षों का होना अनिवार्य है— सिद्धान्त-पक्ष, साधना-पक्ष और व्यवहार पक्ष। दर्शन (Philosophy) और धर्म (Religion or Faith) में मुख्य अन्तर यही है कि दर्शन में प्रधानतः सिद्धान्त-पक्ष का प्रतिपादन होता है और यदि आचार-व्यवहार के नियमों का प्रतिपादन होता भी है तो सिद्धान्तों की व्याख्या, स्पष्टीकरण अथवा अनुपूरक के रूप में। इसके विपरीत धर्म अथवा सम्प्रदाय किसी सिद्धान्त को लेकर चलता अवश्य है किन्तु साथ-ही-साथ वह अनेकानेक धार्मिक कृत्यों का विधान करता है और जीवन के लिए भक्ति, साधना एवं आचार विचार के नियमों का निर्धारण भी करता है। 'सरभंग' मत के सिद्धान्तों, साधनाओं, विधि-व्यवहारों एवं आचार-सम्बन्धी नियमों की चर्चा उस मत के संतों की 'बानियों' के आधार पर कुछ विस्तार के साथ मुख्य ग्रन्थ में की गई है। यहाँ अध्ययन की पूर्व-पीठिका के रूप में हम उनका विवेचन-मात्र करना चाहेंगे।

संक्षेप में इस मत के सिद्धान्त-पक्ष की निम्नलिखित मान्यताएँ हैं—

१ परमात्म-तत्त्व और आत्मतत्त्व (शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व) मूलतः अभिन्न एवं अद्वैत हैं।

२ त्रिगुणात्मक प्रकृति से विकसित भौतिक जगत् भी परमात्म-तत्त्व अथवा ब्रह्म-तत्त्व से भिन्न नहीं है।

३ ईश्वर, जीव और प्रकृति के मिथ्या भेद का आभास माया अथवा अविद्या के कारण होता है।

४ परमात्मा त्रिगुणातीत अथवा निर्गुण है।

५ पञ्चभूतों से निर्मित सृष्टि त्रिगुण विशिष्ट अथवा सगुण है।

६ अद्वैत में द्वैत के अध्यास का निराकरण ही ज्ञान है और ज्ञान ही मोक्ष है।

साधना-पक्ष

१ मोक्ष की प्राप्ति का साधन योग है।

२ हठयोग और ध्यानयोग में ध्यानयोग अधिक श्रेयस्कर है।

३ ध्यानयोग के द्वारा पिण्ड में ब्रह्माण्ड का, आत्मा में परमात्मा का, शिव में शक्ति का मिलन ही नहीं तादात्म्य सम्पन्न होता है।

४ योग के साथ-साथ भक्ति अनिवार्य है और भक्ति में नाम तथा जप आवश्यक है।

५ साधना-पथ के दो पक्ष हैं—दक्षिण एवं वाम। वाम पक्ष में पंच मकार सिद्धि के सहायक हैं। स्वयं 'शक्ति' के प्रतीक 'भाईराम' भी साधिका के रूप में साधक की सहचरी रह सकती हैं। शक्ति के प्रतीक के रूप में कुमारी की पूजा भी साधना का एक अंग है।

६ निर्जन स्थान मुख्यतः श्मशान साधना के लिए विशेषतः अनुकूल होता है। शव-साधन साधना का एक प्रमुख अंग है।

७ साधना-पथ के पथिक के लिए गुरु का निर्देशन अनिवार्य है।

व्यवहार-पक्ष

१ मन तथा इन्द्रियों की वासनाओं पर विजय प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

२ सत्य अहिंसा धैर्य सम-दृष्टि, दीनता आदि गुण भक्तों अथवा संतों की विशेषताएँ हैं। फलतः संत को लोक-कल्याण की दृष्टि से जड़ी-बूटी औषध तथा मंत्रोपचार आदि का ज्ञान होना चाहिए।

३ जाति-पाँति ऊँच-नीच आदि बाह्याचार एवं पाखण्ड हैं।

४ सत्संग सेवा तथा भक्ति का परम कर्त्तव्य है।

५ संतों की समाधि पूजा की वस्तु है।

६ समदर्शी होने के नाते संत को छुआछूत और भक्ष्याभक्ष्य आदि के भेद भाव तथा निषेधों से परे होना चाहिए।

अब हम यह विचार करें कि उपर्युक्त तीनों पक्षों की जिन प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया गया उनकी पृष्ठ-भूमि क्या है। भारत का सबसे प्राचीन साहित्य वैदिक साहित्य है। वेद चार हैं—ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद। इनमें जो सूक्त अथवा मंत्र संकलित हैं वे 'श्रुति' कहलाते हैं, क्योंकि वे अत्यन्त प्राचीन काल से श्रवण-परम्परा की एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के ऋषियों को मिले। उन्हें ही संग्रहीत तथा सम्पादित कर कालान्तर में ऋग्वेदादि संहिताओं (सम्+धा+क्त) का निर्माण अथवा संकलन हुआ। वेदों में अग्नि इन्द्र वरुण रुद्र आदि देवों की स्तुतियाँ गाई गई हैं और उनसे अनेकात्मक प्रार्थनाएँ की गई हैं। इसी को ध्यान में रखते हुए वैदिक साहित्य के पाश्चात्य विद्वानों ने यह लिखा है कि वेदों में बहुदेववाद (Polytheism) है। किन्तु उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि उनमें अनेकानेक ऐसे मंत्र हैं जो स्पष्ट रूप से 'एकदेववाद' को प्रतिपादित करते हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल का निम्नांकित मंत्र देखिए—

> सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
> छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश ॥१ ।१ ।११४॥

अर्थात् एक ही सुपर्ण देव को विप्र कवि गण अपनी वाणियों से अनेकधा कल्पित करते हैं। इस मंत्र के देवता हैं विश्वेदेवाः। 'विश्वेदेवा'—अर्थात् समस्त देवों को एक इकाई मानना भी यह सूचित करता है कि ऋग्वेदीय ईश्वर-भावना बहुदेववाद के स्तर को लाँघकर

एकदेवत्व के उद्यान धरातल पर पहुँच चुकी थी। भूतस्य जातः पतिरेक 'या देवेष्वधि देव एक' आदि मंत्रांश एक सर्वोपरि देव अथवा एक परमात्मा को इंगित करते हैं। परवर्ती संतमत का 'एकेश्वरवाद' बीज रूप में वेदों के इन मंत्रांशों में विद्यमान है।

संतों का 'एकेश्वरवाद' अद्वैतवाद को आधार मानकर चलता है। चाहे शांकर अद्वैत हो चाहे शैव अद्वैत हो चाहे सगुणवादी वैष्णवों का अद्वैत हो चाहे निर्गुणवादी संतों का अद्वैत हो सब के मूल में मुख्यतः उपनिषदें हैं। निदर्शन निमित्त कुछ उद्धरण पर्याप्त होंगे—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति।
तस्मात्तत्सर्वमभवत्॥[१]

अथवा—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।[२]

अथवा—

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।[३]

अथवा—

अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः।[४]

अथवा—

'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं' स
आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।[५]

अथवा—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।[६]

अथवा—

नेह नानास्ति किंचन।

उपर्युक्त उद्धरणों से जो 'ब्रह्म' अथवा 'आत्मा' नामक अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं स्पष्ट है कि जिन परवर्ती धार्मिक शाखाओं अथवा सम्प्रदायों ने अद्वैतवाद के सिद्धान्त का दार्शनिक आधार शिला बनाया उन्होंने मूल प्रेरणाएँ उपनिषदों से लीं। अद्वैत ही नहीं संतमत की प्रायः सभी मान्यताएँ उपनिषद्-युग में मूल रूप धारण कर चुकी थीं। संतों ने ब्रह्म को निर्गुण माना है और इसीलिए हम जब कभी निर्गुण भक्ति की चर्चा करते हैं उसके द्वारा संतमत की ओर संकेत करते हैं। यद्यपि सगुण राम अथवा कृष्ण के उपासक सूर तुलसी आदि भी संत थे किन्तु धीरे धीरे 'संत' शब्द निर्गुणवादी साधकों तथा महात्माओं के अर्थ में ही रूढ़ होता चला आया है। ब्रह्म निर्गुण है ऐसा कहने का यह तात्पर्य होता है कि वह सत्त्व रजस् और तमस् इन तीन गुणों से विशिष्ट या प्रकृति है उससे विकसित अहंकार, मन, बुद्धि इन्द्रिय आदि विकृतियों से परे है। संतों ने वैष्णव भक्ति से प्रभावित होकर निर्गुण-भावना के क्षेत्र में 'राम' को व्यापक रूप से अंगी करण किया है किन्तु उन्होंने 'राम' को सगुण न मानकर निर्गुण माना। उन्होंने अवतारवाद में भी अनास्था प्रकट की है क्योंकि अवतार ग्रहण करने का अर्थ है निर्गुण का सगुण

रूप धारण करना। उपनिषदों में निर्गुण भावना को व्यक्त करने के लिए एक ही ब्रह्म को निर्गुण निष्कल 'निरंजन आदि नकारात्मक संज्ञाएँ दी हैं। यथा—

निरंजं ब्रह्म निष्कलम्[९]

अथवा—

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।[१०]

अथवा—

साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।[११]

दूसरे 'नेति-नेति' (यह नहीं यह भी नहीं) की शैली के व्यवहार द्वारा ब्रह्म की सूक्ष्मता तथा अनिर्वचनीयता को व्यक्त किया है। नकारात्मक कल्पनाओं की एक सुन्दर माला निम्नलिखित पंक्तियों में गुम्फित है—

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा

अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम

लोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशम

असङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्र

मवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तर

मबाह्यम तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन।[१२]

संतों ने निर्गुण भावना के आधार पर स्थूल शरीराकृति प्रतिमा अथवा मूर्ति का भी खण्डन किया है। उपनिषद् भी कहती है—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।[१३]

श्वेताश्वतरोपनिषद् के पञ्चमाध्याय में 'गुणों' का विश्लेषण किया गया है, और जिस प्रकार भगवद्गीता में मानव-व्यक्तित्व पर रजोगुण तमोगुण तथा सत्त्वगुण के भिन्न भिन्न प्रभाव प्रतिपादित किये गये हैं उसी प्रकार श्वेताश्वतर में भी मनुष्य के पुण्य-पाप पुनर्जन्म आदि के साथ सत्त्वादि गुणों का सम्बन्ध स्थापित किया गया है। यथा—

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।

स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः॥[१४]

अथवा—

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।

क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः॥[१५]

सांख्य और योग-दर्शनों में प्रकृति तथा उसकी विकृतियों के विकास-क्रम का विश्लेषण किया गया है। ये दर्शन सूत्ररूप में उपनिषदुत्तर-काल में प्रथित हुए किन्तु मूल रूप में ये उपनिषद्-काल में ही विद्यमान थे इसमें कोई सन्देह नहीं। उदाहरणतः श्वेताश्वतरोपनिषद् में इन दोनों दर्शनों का स्पष्ट उल्लेख है—

तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।[१६]

निर्गुण-ब्रह्म के प्रतिपादन में संतों ने 'ब्रह्म' और 'आत्मा' शब्द का उतना अधिक प्रयोग नहीं किया है जितना 'पुरुष' और 'सत्पुरुष' का। पुनश्च जीवात्मा के लिए उन्होंने

'हंस' शब्द का बाहुल्य से व्यवहार किया है। उपनिषदों के निम्नांकित उद्धरण यह सिद्ध करते हैं कि इन शब्दों की प्रेरणा भी उनको उपनिषदों से मिली—

तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा
अमृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्।[७]

अथवा—

असंगो ह्ययं पुरुषः।[८]

अथवा—

हिरण्मयः पुरुष एकहंसः।[९]

अथवा—

एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥[१०]

ब्रह्म-निरूपण के प्रसंग में संतों ने 'काल और निरंजन' इन शब्दों का प्रयोग किया है। ये एक प्रकार के 'अमर-ब्रह्म' कल्पित किये गये हैं जो द्वैत विशिष्ट जगत् के अधिष्ठाता तथा नियन्ता हैं। उपनिषद् का निम्नांकित श्लोक देखिए—

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथाऽन्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्॥[११]

श्वेताश्वतरोपनिषद् के षष्ठाध्याय में निर्गुण 'काल' और निरञ्जन का विशेष रूप से विश्लेषण किया गया है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उपनिषदों का प्रभाव संत-साहित्य पर कितना अधिक पड़ा है।

संतमत में जहाँ उपनिषदों के अद्वैत सिद्धान्त का ग्रहण किया है वहाँ साथ ही-साथ उसने उनके उस अविद्या-तत्त्व या माया-तत्त्व को भी स्वीकृत किया है जिसके कारण अद्वैत द्वैत के रूप में और एकत्व बहुत्व के रूप में प्रतीत होता है। उपनिषदों के अनुसार सृष्टि के पूर्व एकमात्र तत्त्व 'सत्' था। 'सदेव सोम्येदमग्रमासीद् एकमेवाद्वितीयम्।'[१२] उस 'सत्' ने कल्पना की कि 'मैं बहुत हो जाऊँ' और फिर पंच भूतादि की सृष्टि हुई—

तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेयेति।[१३]

सत् अथवा 'ब्रह्म' में इस प्रकार के बहुत्व की आकांक्षा ही अविद्या अथवा माया है।

यथा—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।[१४]

अर्थात् इन्द्र अपनी माया से बहुरूप विदित होते हैं। महेश्वर को 'मायी' कहा गया है और यह बतलाया गया है कि उसी मायी ने इस विश्व की सृष्टि की है और स्वयं वह उसमें 'माया' के द्वारा आबद्ध हो गया है—

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥[१७]

उपनिषदों में 'अविद्या' शब्द का भी बाहुल्य से प्रयोग हुआ है बल्कि जितना अधिक इस शब्द का प्रयोग हुआ है उतना 'माया' का नहीं।

द्वे अक्षरे ब्रह्म परे त्वनन्ते विद्याऽविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याऽविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥[१८]

यहाँ विद्या को अमृत और अविद्या को क्षर अथवा नश्वर कहा गया है। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि जो अविद्या में मस्त हो जाते हैं वे अहम्मन्य होकर उसी प्रकार संसार में व्यर्थ चक्कर काटते हैं, जिस प्रकार अन्धों के नेतृत्व में अन्धे। वे मूर्ख और मूढ़ होते हुए भी अपने को ज्ञानी और कृतार्थ समझते हैं—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥[१९]

अथवा—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।[२०]

किन्हीं उपनिषदों में 'माया' शब्द का छल-कपट के साधारण अर्थ में भी प्रयोग हुआ है। यथा—

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया।[२१]

जहाँ तक साधना पक्ष का संबंध है स्वरसंधान तथा ध्यानयोग—इन दो का संतों ने व्यापक रूप से विधान किया है। उपनिषदों में इनका भी स्पष्ट रूप से उल्लेख है। यथा—

प्राणान् प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः॥[२२]

तथा—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥[२३]

योगावस्था की जो चरम परिणति अर्थात् समाधि है उसका विवरण देते हुए तैत्तिरीयोपनिषद् में लिखा है कि उस अवस्था में वाणी निवृत्त हो जाती है मन भी निवृत्त हो जाता है साधक निर्भीक हो जाता है और वह ब्रह्म के आनन्द का आस्वादन करता है—

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह॥
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति॥[२४]

यह भी बताया गया है कि समाधि अथवा मोक्ष प्राप्त होने पर जन्म-मरण का चक्र दूर हो जाता है और उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती—

तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः।[२५]

संतों की ध्यानयोग समाधि तथा मोक्ष की कल्पनाएँ इन्हीं उपनिषद्गत मान्यताओं से मिलती जुलती हैं। उन्होंने नाम-भजन तथा जप को भी प्रचुर महत्त्व दिया है। दूसरा

केवल संत-मत के लिए ही नहीं बल्कि समग्र मानवता के उन्नयन के लिए अनिवार्य हैं। केवल कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे—

प्रश्नोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मान
मन्विष्यादित्येनमभिजयन्ते।[४१]

तथा—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।[४२]

तथा—

सत्यमेव जयते नानृतम्। सत्येन पन्था विततो देवयानः।[४३]

तथा—

तदेतत् त्रयं शिक्षेद्दमं दानं दयामिति।[४४]

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिस सरभंग-संतमत का विवरण तथा विश्लेषण हम प्रस्तुत ग्रन्थ में कर रहे हैं, उसके प्राय सभी प्रमुख अंगों का बीज रूप में प्रतिपादन उपनिषदों में विद्यमान है।

अब हम यह विचार करेंगे कि किन मुख्य दृष्टियों से सरभंग मत का सम्बन्ध वेदों से जोड़ा जा सकता है। सरभंग-मत का निकटतम सम्बन्ध शैवमत की शाक्त तथा तांत्रिक शाखाओं से है और शैवमत का परम्परा सम्बन्ध ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के 'रुद्र' से है। ऋग्वेद के रुद्र और अथर्ववेद के रुद्र में मुख्य अन्तर यह है कि यद्यपि उभयत्र वे कल्याणकारी तथा संहारकारी सौम्य तथा उग्र—दोनों रूपों में प्रकट होते हैं ऋग्वेद के रुद्र प्रधानतः सौम्य और अथर्ववेद के रुद्र प्रधानतः उग्र रूप में चित्रित हुए हैं। जिस प्रकार परवर्ती पुराणों के शिव के साथ उनके 'गण' लगे हुए हैं उसी प्रकार ऋग्वेद और अथर्ववेद में मरुद्गण उनके सहचर हैं। वे न केवल विद्युत्, झंझावात आदि प्रकृति की विनाशकारी शक्तियों के प्रतीक हैं, अपितु उर्वरत्व पशु-रक्षा और रोग निवृत्ति आदि के भी अभिज्ञाता हैं। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के निम्नांकित दो उद्धरण उपर्युक्त अन्तर के प्रतिपादन की दृष्टि से दिये जा रहे हैं—

शं नः करत्यर्वते सुगं मेषाय मेष्ये।
नृभ्यो नारिभ्यो गवे ॥—ऋग्वेद

—इसमें घोड़े मेढ़ मेढ़ी पुरुषों स्त्रियों के कल्याण की प्रार्थना की गई है।

भवाशर्वावस्यतां पापकृते कृत्याकृते।
दुष्कृते विद्युतं देवहेतिम् ॥—अथर्ववेद १।१।२१

—अर्थात् रुद्र (भव और शर्व) कृत्या (अभिचार) अथवा जादू टोने का प्रयोग करनेवाले पापी तथा दुष्कर्मी पर देवायुध बिजली का प्रहार करें।

अथर्ववेद में रुद्र का विकास ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक प्रस्फुटित हुआ है और उन्हें महत्त्व भी अधिक प्रदान किया गया है। इस वेद में रुद्र के अतिरिक्त 'नील शिखण्ड' 'भव' 'शर्व' 'महादेव' 'भूत-पति' 'पशु-पति' आदि संज्ञाएँ दी गई हैं। तात्पर्य यह कि

परवर्ती पुराण-साहित्य, शैव-साहित्य तथा तंत्र-साहित्य में जिन नामों से शिव अथवा रुद्र को आराध्य एवं पूजित किया गया है, उनमें से बहुत-से नाम अथर्ववेद के समय से ही चले आ रहे हैं।

तंत्रमत के कुछ अनुयायी श्मशान की क्रिया के द्वारा भूत पिशाचों और डाकिनियों शाकिनियों को वश में करने और फलतः आश्चर्यजनक सिद्धि प्राप्त करने के निमित्त घोर साधना करते हैं और वे काल भैरव तथा काली का आवाहन करते हैं। जो संत सरभंग अथवा अघोर (औघड़) हैं, उनको सिद्ध समझा जाता है और उनसे यह आशा की जाती है कि वे अपनी सिद्धि के बल बड़ी-बड़ी व्याधियों का निवारण करेंगे। अथर्ववेद में रुद्र एक महान् भिषक्[४३] अर्थात् चिकित्सक के रूप में चित्रित किये गये हैं, भूत पिशाच आदि के निवारणार्थ उनका आह्वान[४४] किया जाता है। कुत्ते को उनका सहचर[४५] माना गया है। आशय यह कि शिव की पूजा की जिन भावनाओं को आगम तथा तंत्र-ग्रंथों में विकसित किया और जिन्हें बहुत अंशों में 'अघोर' मत ने अपनाया, वे मूल रूप में वेदों में विद्यमान[४६] हैं।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में चलकर रुद्र एक प्रमुख देवता के रूप में प्रतिष्ठापित हो चुके हैं।

एको हि रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।

इसमें शिव, पशुपति आदि नामों के अतिरिक्त गिरिश, 'गिरित्र' आदि नाम और जोड़ दिये गये हैं—

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत्[४७]॥

एक अन्य मंत्र में रुद्र के संबंध में कहा गया है कि—

या ते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी।[४८]

अर्थात् शिव का शरीर 'अघोर' है। सरभंग अथवा अघोर-मत के संत कभी-कभी इस उपनिषद्-मंत्र का हवाला देते हैं और 'अघोर' मत का इस मंत्र के 'अघोर' शब्द से संबंध जोड़ते हैं। आचार-व्यवहार के प्रसंग में इस मुख्य ग्रन्थ में यह देखेंगे कि इस मत में भक्ष्याभक्ष्य का प्रश्न कोई महत्त्व नहीं रखता और मद्य, मांस आदि गर्हित नहीं माने जाते। जिन्हें तंत्र साहित्य से परिचय है वे जानते हैं कि तंत्र अनेक प्रकार के हैं। उनमें वाम-मार्गी और दक्षिण-मार्गी तंत्र भी हैं। वाम-मार्ग को 'कौल' मार्ग भी कहा जाता है क्योंकि 'कुल' नाम है कुण्डलिनी का और कुण्डलिनी को जाग्रत् करना तंत्र विहित योग की मुख्य साधना है। अपने व्यापक रूप में तंत्र वैष्णव भी हैं तथा शैव शाक्त भी। श्वेताश्वतरोपनिषद् में एक स्थान पर लिखा है कि—

रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्।[४९]

सम्भवतः उपनिषद् काल में ही 'वामं मुखम्' (वाम-मार्ग) की कुछ प्रारम्भिक कल्पना अंकुरित हो चुकी थी।

इस प्रसंग में एक प्रश्न है कि शाक्त-तंत्र मत में जो 'शक्ति' की पूजा है उसकी मूल प्रेरणा कहाँ मानी जाय? कुछ अनुसन्धायकों का मत है कि स्त्री-देवता-रूप में

'काली' अथवा 'शक्ति' की कल्पना आर्येतर प्रभाव की द्योतक है। सिन्धु-घाटी और पश्चिमी एशिया की प्राचीन सभ्यता तथा भारत की आर्येतर आदिम जातियों की सभ्यता में देवी की उपासना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी और शाक्त मत में जो शक्ति की उपासना है वह उसी से प्रभावित है क्योंकि प्राचीन युग में इन सभ्यताओं के साथ सभ्यता के साथ घनिष्ठ आदान-प्रदान के प्रमाण उपलब्ध हैं। इस प्रकार की मान्यता कुछ और अधिक गवेषणा तथा अध्ययन का विषय होनी चाहिए। संप्रति हमारा विचार है कि वेदों और उपनिषदों से ही परवर्ती 'शक्ति' की उपासना की परम्परा चलती आई है। वेदों में भी अनेक देवियों की कल्पना की गई है। यथा—पृथिवी रोदसी वाक् सरस्वती उषस् आदि। ऐसा प्रतीत होता है कि रुद्र के साथ उनकी संगिनी के रूप में किसी देवी की कल्पना ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में नहीं थी किन्तु यह देखते हुए कि 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'[३] (अर्थात् इन्द्र अपनी 'माया' से बहुरूप होते हैं) आदि वैदिक मंत्रों में 'माया' के उस दार्शनिक स्वरूप की स्पष्ट कल्पना है जिसमें वह द्वैत में अद्वैत अथवा एकत्व में बहुत्व के प्रतिपादन का आधार बिन्दु मानी गई है; और यह देखते हुए कि उपनिषदों में ध्यानयोग के द्वारा आत्म शक्ति के साक्षात् दर्शन[४] की कल्पना की गई है और फिर यह देखते हुए कि रुद्र का बखान करते हुए उपनिषद् में त्वं स्त्री त्वं पुमानसि[५] कहा गया है; हम ऐसा अनुमान कर सकते हैं कि 'माया' 'अविद्या' और 'शक्ति' इन तीनों की समष्टि को देवत्व प्रदान कर उसे ही काली दुर्गा शक्ति आदि संज्ञाएँ देते हुए परवर्ती शैवमत विशेषतः शाक्तमत तथा तंत्रमत ने उसे आराध्य के रूप में अपनाया।

अघोर या सरभंग-मत के सिद्धान्त साधना एवं व्यवहार पक्ष से ऋजु या अऋजु रूप से संबंधित निम्नलिखित बिन्दुओं के आश्रित जो भावनाएँ अथर्ववेद के मंत्रों में मिलती हैं उनका संक्षिप्त निरूपण अप्रासंगिक न होगा—(क) वेदत्रयी और अथर्ववेद; (ख) शक्ति अथवा देवी (ग) योग तथा निर्गुण-साधना (घ) मंत्र (च) हवन एवं कर्म (छ) भेषज तथा मणिधारणादि उपचार (ज) राक्षस भूत प्रेत आदि (झ) मारण मोहनादि अभिचार, (ट) पंच मकार, (ठ) अथर्ववेद और उपनिषद् (ड) अथर्ववेद और तंत्र।

(क) वेदत्रयी और अथर्ववेद—वेदत्रयी 'त्रयी विद्या' आदि प्रमाणों के आधार पर कभी-कभी लोगों की यह धारणा होती है कि अथर्ववेद का प्रवचन अथवा संकलन ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद के बहुत बाद हुआ अथवा अथर्ववेद को अन्य वेदों के समान प्रतिष्ठा नहीं मिली। इस प्रश्न को सायणाचार्य ने भी अथर्ववेद-भाष्य की भूमिका में उठाया है और उसका समाधान किया है। उनके मत में 'यथा प्रदुष्यात्' के अनुसार स्व-स्वविहित कर्मक्रम का विधान है। इस विधान में होता ऋक् के द्वारा अध्वर्यु यजुः के द्वारा और उद्गाता साम के द्वारा अपना कर्म करता है; किन्तु ब्रह्मा अपना कर्म कैसे करता है अथर्ववेद के द्वारा ही तो।[६] रामगोपालशास्त्री ने अथर्ववेद की 'बृहत्सर्वानुक्रमणिका' की भूमिका में एक दूसरा समाधान प्रस्तुत किया है। वह यह कि 'त्रयी' का तात्पर्य तीन संहिताओं से नहीं है अपितु वेदमंत्रों की त्रिविध रचना से। जो मंत्र पद्यात्मक हैं वे 'ऋच' कहलाते हैं, जो गद्यात्मक हैं वे 'यजुः' और जो गानात्मक हैं

में 'सामन्'। जैमिनि ने भी लिखा है—'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः शब्द'।[३४] ब्राह्मण-ग्रन्थों में जहाँ त्रैविद्या का उल्लेख है, वहाँ यत्र तत्र वेद चतुष्टय की भी चर्चा है।[३५] इससे यह सिद्ध होता है कि अथर्ववेद अन्य वेदों के समान ही प्राचीन है। कुछ विद्वानों का यह अभिमत है कि यह ग्रन्थों से प्राचीनतर है और ऐसा संभव भी है। अनेक स्थानों पर केवल 'त्रैविद्या' के उल्लेख से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि अथर्ववेद की भावना तथा परम्परा अन्य वेदों से कुछ भिन्न एवं विशिष्ट थी। हमारी समझ में अथर्ववेद जनता का वेद था और इस कारण जन-समाज में प्रचलित आस्थाओं विश्वासों रीतियों एवं रूढ़ियों ने इसमें महत्त्वपूर्ण स्थान पाया।

(ख) शक्ति अथवा देवी—शाक्तिक या वाम, समग्र तंत्राचार, में देवी या काली की पूजा का विधान है। देवी की उपासना से तांत्रिक साधक को सिद्धि मिलती है। गौड़ तथा सरमंग-सम्प्रदाय के साधक भी मातृ शक्ति की पूजा और उसका आवाहन करते हैं। अथर्ववेद के पंचम काण्ड में एक मंत्र आता है जिसमें 'भाता की स्थापना की चर्चा है। सायण भाष्य के अनुकूल भाषानुवाद करते हुए ऋषिकुमार पं० रामचन्द्र शर्मा ने उक्त मंत्र की निम्नलिखित व्याख्या की है—'जिसको श्रेष्ठ और साधारण प्राणियों ने धारण किया है और जिस पर मैं अन्न से रखा पाई है उसमें चलती फिरती कालिका माता शक्ति को स्थापित करो तदनन्तर इसमें अनेक विचित्र पदार्थों को लाओ।[३६] जिस सूक्त का यह मंत्र है उसके संबंध में कौशिक सूत्र का प्रमाण है कि उससे सब फलों को चाहनेवाला इन्द्र और अग्निदेव का भजन अथवा उपस्थापन करे।[३७] इसके अतिरिक्त त्वष्म त्विषि देवी तेजोरूपा देवी) के संबंध में एक मंत्र में लिखा है कि "सहनशील मृगेन्द्र में व्याघ्र में और सर्प में जो आक्रमण-रूप त्विषि (तेज) है अग्निदेव में जो दाहरूप त्विषि है ब्राह्मण में जो शाप-रूप त्विषि है और सूर्य में जो ताप-रूप त्विषि है और जिस सौभाग्यमयी त्विषि देवी ने इन्द्र को उत्पन्न किया है वह त्विषिरूपा देवी हमारे अभिलषित तेज से एकमत होती हुई हमको प्राप्त हो॥ जो गजेन्द्र में बल की अधिकता रूप तेज है गयंडे में जो हिंसक-रूप तेज है सुवर्ण में आह्लाद देना-रूप रूप की जो श्रेष्ठता और जलों में गौओं में तथा पुरुषों में जो अपनी अपनी विशिष्टता-रूप त्विषि है और जिस सौभाग्यमयी त्विषि देवी ने इन्द्र को उत्पन्न किया है वह त्विषिरूपा देवी हमारे अभिलषित तेज से एकमत होती हुई हमको प्राप्त हो॥ गमन के साधन रथ में, अक्षों में और उसके सेचन-समर्थ बैल में वेगपूर्वक चलनेवाले वायु में, वर्षा करनेवाले मेघ में और उसके अधिष्ठाता देव वरुण देव के बल में जो त्विषि है और जिस सौभाग्यमयी त्विषि देवी ने इन्द्र को प्राप्त हो। राजा के अभिषिक्त पुरु राजन्य में बजाई जाती हुई दुन्दुभि में जो त्विषि है घोड़े के शीघ्र गमन में पुरुष के उच्चस्वर से उच्चारण किये जानेवाले शब्द में जो त्विषि है और जिस सौभाग्यमयी त्विषि देवी ने प्राप्त हो।[३८]

इस वचन के आधार पर यदि हम त्विषि देवी को परवादुर्दर्शिनी दुर्गा या काली का पूर्वरूप मानें तो ऐसी कल्पना असंगत न होगी। इन मंत्रों के अतिरिक्त ऐसे अनेक

मंत्र हैं जिनमें 'देवो विश्वो देवीः' आदि का उल्लेख है, जिनसे यह अनुमान किया जा सकता है कि इन्द्रादि देवों के साथ-साथ देवी या देवियों की भी स्तुति वेदों में मिलती है और उनकी भी प्रधानता स्वीकृत की गई थी। इडा सरस्वती और भारती इनकी बार-बार 'तीन देवियों' के रूप में चर्चा है।[१३] संभवतः इनसे साधना-पथ के तीन स्वरों अथवा नाड़ियों—इडा पिंगला सुषुम्ना—का संबंध हो। संक्षेप में शक्ति के रूप में देवी की पूजा का आभास अथर्ववेद में ही मिलता है।

(ग) योग तथा निर्जन-साधना—अथर्ववेद से संबद्ध गोपथब्राह्मण में एक उपाख्यान आया है जिसका उल्लेख सायणाचार्य ने अपने भाष्य में किया है। प्राचीन काल में स्वयंभू ब्रह्मा ने सृष्टि के निमित्त तपस्या आरंभ की। जब वे तप कर रहे थे उस समय उनके रोम-कूपों से पसीना बहने लगा। उस पसीने के जल में अपना प्रतिबिम्ब देखकर उनका वीर्य स्खलित हो गया। जल में उस वीर्य के पड़ने पर जलसहित वीर्य दो भागों में बट गया। एक भाग का वीर्य भृज्ज्यमान होने पर भृगु नाम के महर्षि के रूप में परिवृत हो गया। वे भृगु अपने उत्पन्न करनेवाले ब्रह्मा के अन्तर्धान होने पर उनका दर्शन पाने के लिए व्याकुल हुए। उनसे आकाशवाणी ने कहा कि 'अथार्वाक् एवं एतास्वेवाप्सु अन्विच्छ' अर्थात् तू जिसको देखना चाहता है उसको भले प्रकार इस जल के मध्य में देखने की चेष्टा कर। आकाशवाणी के इस प्रकार कहने से उनका एक नाम 'अथर्वा' हुआ। तदनन्तर बाकी बचे हुए रेत और जल से आवृत्त सत्त्व वरुण-शब्द-वाच्य ब्रह्मा के सब अंगों से रस बहने लगा। अंगों के रस से उत्पन्न होने के कारण अंगिरा (अंगिरस्) नाम महर्षि हुए। तदनन्तर सृष्टि के निमित्त ब्रह्मा ने अथर्वा और अंगिरा ऋषि से तपस्या करने के लिए कहा। तब मंत्रसमूहों के द्रष्टा बीस अथर्वा और अंगिरा प्रकट हुए। उन तप करते हुए ऋषियों के पास से स्वयंभू ब्रह्मा ने जिन मंत्रों को देखा (आविर्भूत किया), वे ही अथर्वाङ्गिरा नामक वेद हुए। गोपथब्राह्मण कहता है कि सब का सारभूत होने से यह अथर्ववेद ही श्रेष्ठ वेद है। 'तपस्या द्वारा उत्पन्न यह श्रेष्ठ अथर्ववेद ब्राह्मणों के हृदय में प्रकाशित हुआ था।[१४]

उपर्युक्त उद्धरण से यह प्रतीत होता है कि समग्र अथर्ववेद के मूल में जो धारणा थी वह तपस्या की थी। पीछे चलकर ब्राह्मण-युग में योग की क्रियाओं का जो अतीव विस्तार हुआ उसका आधार भी तप था। अघोर अथवा सरभंग-सम्प्रदाय में भी तप तथा योग की महत्ता बताई गई है। इस सम्प्रदाय में एक प्रमुख साधन है श्मशान साधना अथवा शव साधना। सायणाचार्य ने अपनी भूमिका में कौशिक-सूत्र का प्रमाण देते हुए यह बतलाया है कि विविध प्रकार के काम्य कर्मों का अनुष्ठान ग्राम के बाहर—पूर्व या उत्तर की ओर वन में अथवा महानदी या तालाब आदि के उत्तरी किनारे पर—करना चाहिए। आभिचारिक कर्मों को ग्राम के दक्षिण और कृष्णपक्ष तथा कृत्तिका नक्षत्र में करना चाहिए।[१५] इस प्रकार के विधानों में जो निर्जनता और एकान्तता रही है उसके लिए श्मशान बहुत ही उपयुक्त स्थल है। इसके अतिरिक्त, श्मशान-साधना में निर्भयता की चरम मात्रा सिद्ध होती है।

इस प्रसंग में हम ठाकुर सूरनसिंह चौहान (जो स्वयं साधक हैं) के 'अघोर-पथ और श्मशान' संबंधी विचारों को उन्हीं के शब्दों में उद्धृत करेंगे—

अघोर-पथ भारतीय दर्शन का ही एक प्रकार है। प्रायः संसार के सभी धर्मों का उद्देश्य मुक्ति पाना ही होता है। मुक्ति का अर्थ है बन्धन से छुटकारा पाना और छुटकारा नाम आते ही बन्धन का नाम आ जाता है। आखिर बन्धन है तभी तो छुटकारा का प्रश्न आता है। अस्तु मुक्ति पाने के लिए बन्धन की खोज आवश्यक है। बन्धन है मन के ऊपर चढ़े हुए काम क्रोध लोभ मोह मद और मात्सर्य के षट् विकार का। आत्मा जहाँ नदी की शांत धारा है मन उस धारा में उठती हुई तरंगें हैं। यही तरंगें मन की नाड़ियाँ कही गई हैं और ये तरंगें षट् विकार के वायु-प्रवेग से ही उठा करती हैं। जिस तरह तरंगित जल में कोई आदमी अपना मुख नहीं देख सकता है उसी तरह तरंगित मन के कारण आत्मदर्शन नहीं होता है और बिना आत्म-दर्शन के मुक्ति पाना असंभव है अतएव मुक्ति के पाने के लिए मनोविकार की शांति परम अनिवार्य है।

प्रत्येक साधना-पथ में मनोविकार की शांति आवश्यक मानी गई है पर मनोविकार की शांति का काम बड़ा ही दूभर होता है। साधक साधना-पर-साधना करता जाता है, पर इसकी शांति मुश्किल से बहुत थोड़े अर्थात् विरले को ही होती है और अधिकांश साधक साधना करते हुए बिना सिद्धि के ही इस संसार से प्रस्थान कर जाते हैं। अघोर-पथ में इन्हीं मनोविकारों की शांति के हेतु श्मशान की आवश्यकता होती है। यह मार्ग कठिन तो है पर इसके द्वारा प्राप्ति बहुत ही सुलभ है।

श्मशान जाने के लिए श्रद्धा और विश्वास की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है और यह श्रद्धा तथा विश्वास मार्ग प्रदर्शक गुरु के प्रति लाना पड़ता है तथा अपने प्राण को हथेली पर रखकर श्मशान जाना पड़ता है तभी वह श्मशान जाता है और वहाँ से वह सफलता को अवश्य प्राप्त करता है। कारण यह है कि श्मशान में जाते ही उसके षट् विकार आपसे आप तबतक के लिए उसके मन से दूर हो जाते हैं जबतक वह श्मशान में प्रस्तुत रहता है पर वहाँ पर दो भीषण मनोविकार 'भय और 'घृणा' की उत्पत्ति उसके मन में हो जाती है। अब यदि गुरु के आदेशानुसार वह चिता या लाश पर बैठ जाता है, तो घृणा दूर हो जाती है। रह जाता है भय। जैसे ट्रेन में सफर करते हुए जिसके पास टिकट रहता है अथवा दूसरे देश जानेवाले के पास यदि पास-पोर्ट रहता है तो वह सदा निर्भीक होकर सफर करता रहता है और उसे किसी बात का भय नहीं रहता है उसी प्रकार जिसे गुरु और गुरु के द्वारा बताये हुए मार्ग पर विश्वास है उसका भी भय आपसे आप काफूर हो जाता है तब विकार-रहित हो उसका मन शान्त हो जाता है। ऐसा कुछ दिन करते-करते जब उसका मन एकदम शान्त हो जाता है तब यही आत्मा मुक्त हो जाती है और साधक को आत्मदर्शन हो जाता है।

श्मशान में ही मुक्त को मुक्त मिलते हैं वे मुक्त जो एक दिन साधक थे और वे इन्हीं प्रक्रियाओं के द्वारा पूर्ण मुक्त हो मरणोपरान्त जगदम्बा की उस शक्ति में जाकर

लीन हो गये। जैसे सूर्योदय होने पर उनका तेज उनसे छूटकर पृथ्वी पर आता है और अस्त होने के बाद उन्हीं में समाकर लीन हो जाता है उसी प्रकार वे मुक्त आत्माएँ की कृपा से पृथ्वी पर आकर कार्य करते रहते हैं और फिर उन्हीं में लीन होते रहते हैं। उन्हीं मुक्त तेजों का नाम 'मशान' है और वे ही मशान विकार-रहित साधक को आकर श्मशान में मिलते हैं।

यदि किसी को किसी नये स्थान पर जाना है जहाँ वह अपने से कभी नहीं गया है और न उस स्थान के विषय में उसे किसी तरह की कुछ जानकारी ही है, तो ऐसी अवस्था में यदि वह अपने से उस स्थान पर जाने के लिए चलता है तो पूछताछ करते हुए भटकता भौंड़ाता हुआ चलता है, शायद पहुँचता है या नहीं भी पहुँचता है। पर यदि उस स्थान में पहले से गया हुआ और उस विषय में पूर्ण परिचित व्यक्ति उसको साथ ले लेता है तो वह बड़ी आसानी के साथ उसे मंजिले-मकसूद तक अवश्य ही पहुँचा देता है। यही काम मशान करता है। मशान को मुक्ति का स्थान ज्ञात है वह उस साधक को मार्ग बतलाता रहता है और वह उसे निश्चित स्थान तक पहुँचाकर जबतक अपने समान ही बना नहीं लेता तबतक वह उस साधक का साथ नहीं छोड़ता है; बशर्ते कि साधक मशान के बतलाये निर्देश पर चलता रहे। अघोर-पथ में श्मशान की यही आवश्यकता होती है।

अनुमानतः कौशिक-सूत्र की जिन पंक्तियों का उल्लेख प्रस्तुत प्रसंग में किया गया है उनका संबंध तांत्रिकों तथा औघड़ों की श्मशान-साधना से जोड़ा जा सकता है। अथर्ववेद में इस प्रकार की अनेक भावनाएँ हैं जिनका क्रमिक विकास योग की प्रक्रियाओं के रूप में हुआ। एक मंत्र में सैकड़ों धमनियों और सहस्रों शिराओं का वर्णन है।[८९] दूसरे में सात प्राणों और आठ प्रधान नाड़ियों की चर्चा है। अनेक प्रसंगों में प्राण तथा अपान का एक साथ उल्लेख है।[९०] इन मंत्रों के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि परवर्ती आसन प्राणायाम आदि सहित अष्टांग योग का पूर्व रूप अथर्ववेद में विद्यमान है।[९१]

(घ) मंत्र—तांत्रिकों और औघड़ों के अनुसार मंत्र में अद्भुत बड़ी शक्ति है। अथर्ववेद के मंत्रों में भी इस प्रकार की शक्ति की कल्पना की गई है। यह विशेष ध्यान देने की बात है कि इस वेद में मंत्र के अर्थ में 'ब्रह्म' शब्द का व्यापक रूप से प्रयोग हुआ है। स्वयं अथर्ववेद को भी ब्रह्मवेद कहा गया है केवल इसीलिए नहीं कि इस वेद के द्वारा यज्ञ में ब्रह्मा अपना कार्य सम्पादन करता है किन्तु इसलिए भी कि अनेकानेक *ऋद्धियों और कर्मों की सिद्धि के लिए विविध मंत्रों का विधान है।* ब्रह्म अथवा मंत्र के प्रभाव को इंगित करने के लिए एक-दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

हे मरुत् मायावाले उनचास मरुद्देवताओ! जो हमारा शत्रु हमें अद्भुत बढ़ा हुआ समझता है और जो शत्रु हमारे किये हुए मंत्रसाध्य अनुष्ठान की निन्दा करता है इन दोनों प्रकार के शत्रुओं के लिए तापक तेज और आयुध बाधक हों तथा द्युदेव मेरे मारात्मक कर्म से द्वेष करनेवाले शत्रु को भाग और संतप्त करें।[९२]

'जो जातिवाला शत्रु है और जो अन्य जातिवाला शत्रु है और जो स्वयं ही द्वेष करके हम निरपराधों को निग्रह-स्वरूप वाणी से शाप देता है इन सब शत्रुओं की इन्द्र आदि सब देवता हिंसा करें; मुझ मंत्रप्रयोक्ता का मंत्र कवच-रूप हो। तात्पर्य यह कि शत्रु के बाण, शस्त्र आदि जिस प्रकार हमारा स्पर्श न कर सकें, उस प्रकार यह मंत्र हमें ढँके।'"

ब्रह्म शब्द पश्चाद्वर्ती उपनिषदों तथा दर्शनों में मानव और विश्व के मूल तत्त्व के रूप में विकसित हुआ। तन्त्र-सम्प्रदाय में भी ब्रह्म को अद्वैत-तत्त्व स्वीकृत किया गया है। इस विषय की आलोचना मुख्य ग्रन्थ में की गई है। यहाँ हम अथर्ववेद के मंत्रों में से एक ऐसा मंत्र प्रस्तुत करना चाहेंगे जिसमें ब्रह्म की उत्तरवर्तिनी कल्पना की झाँकी मिलती है जिससे आत्मा और जगत् को ब्रह्म से अभिन्न माना गया है—

हे जानने की इच्छावाले मनुष्यो! तुम इस आगे कही हुई वस्तु को जानो कि मंत्रद्रष्टा ऋषि महत्त्वगुणयुक्त व्यापक ब्रह्म को कहेंगे। वह ब्रह्म पृथ्वी पर नहीं रहता, वह द्युलोक में भी नहीं रहता उससे विरोहणशील ओषधियाँ जीवित रहती हैं।"

निपुण तंत्रमत के जिज्ञासुओं को यह मालूम है कि इस मत में शब्द ब्रह्म को कितना महत्त्व मिला है। अथर्ववेद आदि में मंत्र-ब्रह्म की जो भावना है शब्द ब्रह्म को उसीका विकसित रूप माना जा सकता है।

मंत्र में शक्ति है इसे कोई भी अस्वीकार नहीं करेगा। स्थूल रूप से हम शरीर और आत्मा, शरीर और मन में भेद समझते हैं। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। बल्कि दोनों एक हैं और दोनों में निरन्तर क्रिया प्रतिक्रिया का क्रम चलता रहता है। अतः किसी प्रकार के क्लेश या संकट के निवारण के लिए मन की स्वस्थता, इच्छाशक्ति की प्रबलता, दृढ़ आशावादिता और सुन्दरतर भविष्य में आस्था आवश्यक है। इन्हीं गुणों के आधान के लिए मंत्रों के प्रयोग और जप किये जाते हैं। इस दृष्टि से यह सभी स्वीकार करेंगे कि मंत्रों का मनोवैज्ञानिक आधार भी है।

(च) कृत्य एवं कर्म सायणाचार्य ने अथर्वसंहिता के भाष्य की भूमिका में लिखा है कि कौशिक-सूत्र में अथर्ववेद-प्रतिपादित कर्मों का विस्तृत वर्णन है और उसमें यह भी बताया गया है कि अथर्ववेद-संहिता के मंत्रों के विनियोग की क्या विधि है। सायण ने उक्त कौशिक-सूत्र के आधार पर इन कर्मों की एक सूची प्रस्तुत की है। इस सूची के देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तंत्र-शास्त्र पर अथर्ववेद की देन कितनी अधिक और गम्भीर है। इस सूची में दिये गये कुछ मुख्य कर्म ये हैं—दर्शपौर्णमासयाग मेधाजनन ग्रामनगरदुर्गराष्ट्रादिलाभ; पुत्रपशुधनधान्यप्रजास्त्रीकरितुरगरथान्दोलिकादि सर्व सम्पत् साधन; ऐकमत्य अथवा सांमनस्य-सम्पादन शत्रुहस्तित्रासन; संग्रामजयसाधन; इषुनिवारण खड्गादिशस्त्रनिवारण परसेनामोहनोद्वेजनस्तम्भनोच्चाटनादि जयपराजय परीक्षार्थकर्म; तपस्तय पापक्षय; गोसंवृद्धि पौष्टिक लक्ष्मीकरण पुत्रादिकाम्यकर्म; सुखप्रसवकर्म गर्भदृंहण प्रसवन अभीप्सित प्रतिबन्धनिवारण; अतिवृष्टिनिवारण; सभाजय विवादजयकलह शमन; नदी-प्रवाहकरण [illegible]; मरणशान्ति; वाणिज्यलाभकर्म; गृहप्रवेशकर्म;

ग्रहशान्तिविधि; दुःस्वप्ननिवारण दुःस्वप्नफलशान्ति आभिचारिक-परकृताभिचार निवारण; पांसुवर्षिरादिवर्षणवज्रपातादिदर्शनमूकम्पभूमिकेतुचन्द्रार्कोपप्लवादिविशुविशेषोत्पातशान्त्य'। इन कर्मों का जिस प्रकार विस्तृत विधान कौशिक आदि सूत्रों में है, उसी प्रकार तंत्र-ग्रंथों में भी है। इन कर्मों के प्रायः तीन भेद माने जाते हैं—नित्य नैमित्तिक और काम्य। जातकर्म आदि नित्य हैं। अतिवृष्टि दुर्दिनादिनिवारणादि नैमित्तिक हैं तथा मेघाजननादि काम्य हैं। नित्य और नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है किन्तु काम्य कर्मों का अनुष्ठान इच्छाधीन है।

जिस प्रकार तंत्रों में इन कर्मों के विस्तृत विधान हैं वैसे ही संतमत के 'स्वरोदय' तथा अन्य ग्रन्थों में इनमें से कुछ के विस्तृत प्रतिपादन रहते हैं। इसके अतिरिक्त, जन साधारण की यह धारणा होती है कि विशिष्ट औघड़ों तथा सरभंगों को इस प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है जिससे वे अपने साधकों तथा प्रेमियों के संकटों का निवारण कर सकें। जिस प्रकार तंत्रों में इन संकटों के निवारणार्थ मंत्रों और यंत्रों का विधान है उसी प्रकार औघड़ तथा सरभंग साधुओं से भी ऐसे मंत्र तथा ताबीज आदि यंत्र प्राप्त होते हैं जिनसे साधक या उपासक अपने इष्टलाभ और अनिष्टनिवृत्ति की कामना करते हैं। शाक्त-आम्न तथा कौशिक-सूत्र के आधार पर कुछ कर्मों की विस्तृत विधि का उल्लेख निदर्शनार्थ किया जा रहा है।

मेधाजनन कर्म—गूलर, पलाश बेर की समिधा लाना धान जौ और तिलों को बोना एवं भात पुरोडाश और रसों (दही घी शहद और जल) का मक्षण; उपाध्याय को भिक्षा देना; सोते हुए उपाध्याय के कान में कहना; उपाध्याय के पास बैठते समय जप करना; घृत सहित भुने हुए जौ का होम; तिल सहित भुने हुए जौ का होम होम करके बचे हुए को खाना; उपाध्याय को दण्ड अजिन (मृगचर्म) और खाना (भुने हुए जौ) देने के लिए खानाओं का अनुमन्त्रण; तोता मारिका और भारद्वाज का जिह्वाबन्धन और उसका प्राशन।

ग्राम-सम्पत्—गूलर पलाश और बेर को काटना उनका आधान सभा का उपस्तरण सुरा का आधान; अभिमंत्रित अन्न और आसव का दान।

स्वस्त्ययनकर्म—मेधाजनन के लिए विहित कर्म; दिन में तीन बार अग्नि को प्रज्वलित करना उसका उपस्थान सम्पाताभिमंत्रित दही घी शहद और जल मिले हवि का बाएं हथेली से प्राशन करना।

वर्चस्य-कर्म (तेज को चाहना)—तेज को चाहनेवाला पुरुष तेज को चाहनेवाली कुमारी के दक्षिण उरु का अभिमंत्रण स्रुवयाहोम और अग्नि का उपस्थान करे।

संग्राम-विजय—संग्राम में विजय चाहनेवाला राजा शत्रु के हाथियों को मदमत्त करने के निमित्त सम्पातोपेत रसपक्व (जिस रस के उद्देश्य से अग्नि में आहुति दी जा चुकी है) को शत्रुओं के हाथियों की ओर भेजे; सम्पाताभिहत हाथी घोड़े आदि यानों को शत्रु के हाथियों की ओर भेजे; पटह भेरी आदि बाजों को अभिमंत्रित करके बजावें; दृति (चर्म-पात्र) में धलिकणों को भरकर अभिमंत्रित करे और उन्हें किसी पुरुष के द्वारा भेजे; अमुक-मंत्र से अभिमंत्रित धलिकणों और बालुका को फेंके।

घृत का होम, सत्तू का होम अनुपरूप ईंधनवाली अग्नि में अनुपरूपी समिधा का आधान बाणरूपी ईंधन में बाणरूपी समिधाओं का आधान सम्पातित तथा अभिमंत्रित धनुष का प्रदान। इन कर्मों के अनुष्ठान से शत्रु देखते ही भाग जाते हैं। बाण निवारण करनेवाला सम्पातित और अभिमंत्रित मुञ्ज धनुष-कोटि और प्रत्यंचा के पाश का बन्धन करे तथा इष्वाविमुख-बन्धन भी करे।

अर्थोत्थापन विघ्नशमन—धन को उठाते समय होनेवाले विघ्नों की शांति चाहनेवाला पुरुष मरुत् देवताओं के लिए अथवा मंत्र से प्रतीत होनेवाले देवताओं के लिए घोर मात्र और घृत से होम करे, काश विभिधुवक और वेतस नामवाली औषधियों को एक पात्र में रख उनका सम्पातन और अभिमंत्रण करके जल में मुख नीचा किये ले जाय फिर उन्हीं आस्यादिकों को जल में डाले अभिमंत्रित कुश के सिर को और मट के सिर का जल में फेंके मनुष्य के केश और पुराने जूतों को बाँस के ऊपर मार्ग में बाँध भूसी-सहित कच्चे पात्र का अभिमंत्रित जल से मोक्षण कर, तीन राहवाले चौक पर रख जल में फेंक।

(ख) भेषज तथा मणिबन्धादि उपचार—हम इस बात की ओर संकेत कर चुके हैं कि मरमय अथवा औघड़ साधुओं को सिद्ध समझा जाता है और जनता का सामान्यतः यह विश्वास होता है कि वे अपनी सिद्धि के प्रभाव से रोगों का निवारण कर सकते हैं। स्पष्ट है कि यह परम्परा अथर्ववेद के युग से अनवच्छिन्न चली आ रही है। इस वेद में अनेकानेक रोगों तथा उनकी औषधियों (भेषजों) एवं उपचारों की ओर संकेत है। गोपथ ब्राह्मण कौशिक-सूत्रादि में इन तथ्यों को विशद तथा विस्तृत रूप दिया गया है। सायणाचार्य ने अपने भाष्य में यथाप्रसंग इनकी चर्चा की है। इनमें से कुछ का उल्लेख परिशिष्ट किया जा रहा है। सायणाचार्य के अनुसार व्याधियाँ दो प्रकार की होती हैं—(१) आहार के कारण उत्पन्न और (२) पूर्व जन्म के पापों के कारण उत्पन्न। इनमें जो व्याधियाँ आहार के कारण उत्पन्न होती हैं उनकी शान्ति वैद्यकशास्त्रोक्त चिकित्सा से होती है किन्तु जो व्याधियाँ पूर्व-जन्म-पाप जन्य होती हैं वे अथर्ववेद के होम कम्पन यापन दान जप आदि भैषज्य-कर्मों से निवृत्त होती हैं।[१] तात्पर्य यह कि अथर्ववेद और उसमें तद्वद् धार्मिक साहित्य में 'औषधि और भेषज' इन दोनों को एक दूसरे से पृथक् माना गया है। वस्तुतः जिन भेषजों का विधान अथर्ववेदादि में है उनमें भी औषधियों तथा वनस्पतियों का पर्याप्त मात्रा में समावेश है; किन्तु भेषजों में उनके अतिरिक्त अनेकानेक मंत्र उपचार आदि भी सम्मिलित हैं। आधारभूत धारणा यह थी कि भयंकर व्याधियाँ तथा आपत्तियाँ पूर्व जन्म के दुष्कृत्यों तथा देव प्रकोप के परिणाम हैं; अतः इनके उपशमन के लिए निरी वनस्पतियाँ तथा औषधियाँ पर्याप्त नहीं हैं। एतदर्थ मंत्रादि उपचार भी आवश्यक हैं जिनसे देवगण प्रसन्न हों। इस प्रकार के उपचारों को ही अपने परिवर्तित रूप में पीछे चलकर तंत्र की संज्ञा दी गई। इस प्रसंग में हमारा मन्तव्य यह है कि अथर्ववेदादि ग्रन्थों के अध्ययन तथा अध्यापन के क्रम के नष्ट अथवा लुप्तप्राय होने से हमारे राष्ट्र का बहुत बड़ा अहित हुआ है। इस विषय पर मार्ईस में इनमहत्व

१

औषधियों वनस्पतियों तथा उपचारों का उल्लेख है। माना कि इनमें अनेक ऐसे होंगे जिनका वर्तमान वैज्ञानिक युग में उपयोगिता नहीं है। किन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि इनमें ऐसी औषधियाँ वनस्पतियाँ तथा उपचारों की कमी नहीं है जो इस युग में भी प्रयुक्त किये जा सकते हैं और जिनका प्रयोग भारतीय वातावरण के अनुकूल तथा अल्प व्ययसाध्य होगा। हमारा दृढ़ विश्वास है कि अथर्ववेद और तत्सम्बद्ध साहित्य-राशि के अनुशीलन-अनुसन्धान की व्यवस्थित योजना होनी चाहिए। जो थोड़े-से उद्धरण इस क्रम में दिये जा रहे हैं वे इस उद्देश्य से कि संत शाखों में तथा सरभंग-संतों में प्रचलित जो 'जड़ी-बूटी' 'मभूत' टोना-टोटका' आदि की परम्परा है उसके प्रति प्राचीन रूप का निदर्शन हो सके।

"प्रत्येक अंगों में दीप्ति से व्याप्त अर्थात् प्राणात्मा रूप से व्याप्त होकर वर्तमान हे सूर्य। हम तुम्हें स्तुति नमस्कार आदि से पूजकर घृत भृत समिधा आदि हवि से सेवा करते हैं और गमनशील सूर्य के अनुचरों को और उनके समीप में वर्तमान परिचर-रूप देवताओं को भी हम हवि के द्वारा सेवा करते हैं। हवि देने का प्रयोजन यह है कि ग्रहण करनेवाले ज्वर आदि रोग ने इस पुरुष के शरीर की सब सन्धियों को जकड़ लिया है उस रोग की निवृत्ति के लिए हम अपनी हवि से पूजा करते हैं।"

अंगे अंगे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम।
अङ्कान्त्समङ्कान् हविषा विधेम यो अग्रभीत् पर्वास्याग्रभीता ॥१।१२।२

अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के प्रथम अनुवाक के द्वितीय सूक्त के सम्बन्ध में कौशिक सूत्र के आधार पर सायण ने लिखा है कि ज्वर, अतिसार (पेचिश) अतिमूत्र और नाडि व्रण में रोगों की शान्ति चाहनेवाले पुरुष को उक्त सूत्र से मूँज के सिर से बनी हुई रस्सी से बाँधे उसे खेत की मिट्टी या वल्मीक मिट्टी (बॅबई मिट्टी) पिलावे घृत का लेपन करे चर्मखस्त्रा के मुख से अपान लिङ्ग और नाडिव्रण के मुख पर धमन करे (फूँके)।

उपर्युक्त सूक्त के तृतीय मंत्र का भाव संक्षेप में यह है कि इस मंत्र के प्रभाव से वात पित्त और श्लेष्म (कफ जनित सभी रोग तथा शिरोरोग रोगी को छोड़कर वन के वृक्षों में और निर्जन पर्वतों में चले जायें।"[३]

प्रथम काण्ड के चतुर्थ अनुवाक के पंचम सूक्त के संबंध में कौशिक सूत्र के आधार पर सायण ने निम्नलिखित टिप्पणी दी है—प्रथम सूक्त के द्वारा हृद्रोग और कामिला (कमलवाय) *रोग की शान्ति के लिए लाल वृषभ के रोम-मिला जल पिलावे तथा इसी* सूक्त से रक्त गोचर्मपिण्डप्रमणि गायोर में मन्त्रपाठन और अभिमंत्रण करके उस मणि को बाँधे और उसी घृत को पिलावे; तथा हारिद्र-हरिद्रोदन को मिलाकर उस उपिष्टशानुविष्ट से पैर तक लेपकर खाट में बिठाकर उसके नीचे शुक काष्ठशुक और *गोपीतनक नामक तीन पक्षियों को सव्य जंघा में हरितसूत्र बाँधना आदि तृप्तोक्त काम* करे। उक्त सूक्त के प्रथम तथा चतुर्थ मंत्र[४] में, संसार में हृद्रोग (हृदरोग) और कामिला

(हरिमा) का उल्लेख है और यह कहा गया है कि यजकर्ता इन रोगों को शुकों काष्ठशुकों और गापीतनका में संक्रमित करते हैं।

प्रथम काण्ड चतुर्थ अध्याय पंचम अनुवाक के द्वितीय सूक्त में बताया गया है कि इस सूक्त तथा इसके परवर्तीसूक्त से श्वेत कुष्ठ (किलास) को दूर करने के लिए भंगराज (भँगरिया) हल्दी इन्द्रायण (इन्द्रवारुणी) और नील के पौध को पीसकर सूखे गोबर के साथ कोढ़ के स्थान पर जहाँ तक रक्त दीख वहाँ तक घिसकर लगा दे। पलित (रोगजनित बालों की सफेदी) को दूर करने के लिए भी श्वेत बालों को काटकर दोनों सूक्तों से पहले के समान लेप कर। इन दोनों रोगों की शांति के लिए इन दोनों सूक्तों से घृत होम और मारुत कर्मों को भी कर। मंत्रों[४५] में भी उपयुक्त रोगों तथा औषधियों की चर्चा है। पाँचवें अनुवाक के तीसरे सूक्त के प्रथम तथा द्वितीय मंत्र में यह लिखा है कि जिन औषधियों का अभी उल्लेख किया गया है उनका आसुरी[४६] (असुर-मायारूप स्त्री) ने सर्वप्रथम निर्देश किया था।

पंचम अनुवाक के चतुर्थ सूक्त के प्रारंभ में लिखा है कि प्रतिदिन आनेवाले शीतज्वर संततज्वर और सामयिकज्वर आदि की शांति के लिए इस सूक्त को जपे; साई के कुठार को *अग्नि में तपाकर उस जल में रखे और उस जल से व्याधिग्रस्त पुरुष पर अभिषेक करे।*

इस प्रसंग को और अधिक आयाम न देकर हम यह मन्तव्य प्रस्तुत करना चाहेंगे कि अति प्राचीन अथर्ववेद-युग में भी इस देश में ओषधिशास्त्र अथवा वनस्पतिशास्त्र का अपेक्षाकृत अधिक विकास हो चुका था। इस ओषधिशास्त्र के साथ-साथ भेषज शास्त्र का भी व्यापक रूप से प्रचार था। एक मंत्र में ऋषि कहते हैं कि—

शतं या भेषजानि ते सहस्रं संगतानि च।

—काण्ड ६ अनु ५ सूक्त २ मंत्र २

अर्थात्, मैं शतसहस्र भेषजों को जानते हैं। अथर्ववेद में भिषक्, भेषजम्, सुभिषक्तम आदि शब्दों का बार-बार प्रयोग हुआ है जिससे इस बात की पुष्टि होती है कि भेषज अथर्ववेद की विशेषता है।

ऊपर की पंक्तियों में एक स्थल पर गोचर्मच्छिद्रमणि का उल्लेख है। मणि का भैषज्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है इसलिए इस सिलसिले में मणियों की कुछ चर्चा अप्रासंगिक न होगी।

"मघनक्षत्रम में बाधित मुक्ताफल्याल (नीलम) मणि का बन्धन करे, और सरूपवत्सा गौ के दूध के भात में पुरुष की आकृति को लिखकर उसका प्राशन करे। बयोदशी आदि तीन दिन तक मणि का दही और मधु से भरे पात्र में डालकर चौथे दिन उस मणि को बाँधे और उस दही और मधु का प्राशन भी करे।"[४७]

आजकल प्रायः देखा जाता है कि झाड़-टोटका करनेवाले रोगी के उपचार के लिए मणी का प्रयोग करते हैं। १।१७ के प्रारम्भ में लिखा है कि इस सूक्त के द्वारा शस्त्र के प्रहार से उत्पन्न घाव के रुधिर-प्रवाह अथवा स्त्री के रज के अतिप्रवाह को रोकने के लिए पाँच गाँठवाले रूप से सम्पुक्त स्थान को अभिमन्त्रित करे। प्रथम काण्ड के षष्ठ अनुवाक के प्रथम सूक्त में समृद्धि-सम्पत्न के निमित्त अभिवर्तमणि का विधान है। यह मणि सीसा रांगा चाँदी और ताँबा जड़े हुए पुरुष की नाभि के रूप में होती है।

इस मणि की तुलना आजकल प्रचलित अरथम्‌ तावीज से की जा सकती है।

अन्यत्र दीर्घ आयु चाहनेवाले पुरुष के लिए हिरण्यमणि बाँधने का उल्लेख है, सुवर्ण-माला-परिधान का भी निर्देश है। दूसरे स्थल में रक्षा और विघ्नशमन के लिए जंगिड नामवाले वृक्ष की मणि को सन की सुतली से पिरोकर बाँधने के लिए कहा गया है। एक तीसरे प्रसंग में यह कहा गया है कि अष्ट ग्रह की शांति के लिए अथर्वा ने दश वृक्षमणि तैयार करने और उसके सम्पादन तथा अभिमन्त्रण की विधि बताई है।

बहुत विस्तार न करके संक्षेप में कुछ मणियों और उनके प्रयोजनों का सूत्ररूप में संकेत किया जा रहा है।

क्षेत्रीय व्याधि की चिकित्सा के लिए—हरिण के सींग की मणि।

स्पर्द्धात्मक विघ्न के नाश के लिए—सोनापाठा की मणि।

वर्चस्व रूप में सिंह व्याघ्र आदि के रोएं की मणि।

अभिमत फल-प्राप्ति के लिए—पलाश वृक्ष की मणि (पर्णमणि)।

शत्रुसंहार के लिए—अश्वत्थ की मणि।

तेजःप्राप्ति के लिए—हस्तिदंत की मणि।

(ख) राक्षस भूत प्रेत आदि—संहिता तथा श्रौतसूत्रों में व्यापक रूप से भूत प्रेत पिशाच, पिशाची डायन आदि के प्रति आस्था है। उनका मारण मोहन वशीकरण उच्चाटन आदि तंत्र विहित प्रयोगों तथा सिद्धियों में भी विश्वास है। सामान्य जनता सरभंग या औघड़ साधुओं को प्रायः सिद्ध के रूप में देखती है और उसकी यह धारणा होती है कि इन सिद्धों ने श्मशान-साधना द्वारा किसी 'मसान' की सिद्धि की है। मसान का तात्पर्य किसी ऐसे भूत प्रेत डाकिनी शाकिनी आदि से है जिसको उन्होंने अपनी साधना के प्रभाव से वश में कर लिया हो। सिद्धि के फलस्वरूप उनमें एक लोकोत्तर शक्ति आ जाती है और इस शक्ति के द्वारा वे लोक-कल्याण तो कर ही सकते हैं, स्वेच्छाचार या अनिष्ट भी कर सकते हैं। अथर्ववेद के अध्ययन से यह असंदिग्ध रूप से पता चलता है कि मृत्युलोक में अर्थात् राक्षस पिशाच भूत प्रेत डायन आदि में अति प्राचीन युग से विश्वास की परम्परा चलती आ रही है। वस्तुतः संसार में कोई भी ऐसा भूभाग नहीं है जहाँ इस प्रकार के अथवा इससे मिलते-जुलते विश्वास जन-सामान्य में न्यूनाधिक मात्रा में फैले हुए न हों। इस प्रकार के विश्वासों को सभ्य समाज में अन्धविश्वास (Superstition) की संज्ञा दी जाती है। सच पूछा जाय तो अन्धविश्वास (Superstition) धर्म (Religion) दर्शन (Philosophy) तथा विज्ञान (Science) के परस्पर अन्तर को स्पष्ट करने के लिए कोई दृढ़ सीमान्त-रेखा नहीं खींची जा सकती। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि इन चारों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। इनके परस्पर भेद का मूल कारण है ज्ञात और अज्ञात का अनुपात। जिसे हम अन्धविश्वास कहते हैं उसमें अज्ञात का अनुपात ज्ञात से बहुत अधिक रहता है। भूत प्रेत की कल्पना और ईश्वर की कल्पना का लक्ष्य एक ही है अर्थात् अज्ञात की व्याख्या। मानव प्रकृत्या सीमित ज्ञानवाला है किन्तु साथ ही साथ वह प्रकृत्या अतिक्रम ज्ञान की इस सीमा को

लाँघकर असीम की ओर दौड़ता है। यद्यपि उसकी यह दौड़ अनवरत जारी है उसे सफलता कभी नहीं मिली और न मिल सकेगी। क्योंकि असीम अथवा पूर्णता (Perfection) का यह लक्ष्य उससे सदा दूर अधिक दूर—भागता रहेगा। अन्धविश्वास धर्म दर्शन और विज्ञान—इसी दौड़ अथवा यात्रा-क्रम में चार मील स्तम्भ अथवा लक्ष्य बिन्दु हैं। इसी विश्व में कुछ मानव-समुदाय जिसे हम अन्धविश्वास समझकर तिरस्कृत करते हैं उसे विज्ञान के स्तर पर प्रतिष्ठित करते हैं। बल्कि यों कहा जाय कि तथाकथित सभ्य मानव-समाज में भी ऐसे अनेकानेक व्यक्ति मिलेंगे, जो भूत-प्रेतादि को, जिन्हें हम अन्धविश्वास कहकर टाल देते हैं वैज्ञानिक सत्ता मानते हैं। इसके अतिरिक्त अन्धविश्वास और धर्म का भी ठीक-ठीक विश्लेषण करना कठिन है। कोई भी धर्म ऐसा नहीं है जिसमें थोड़ी-बहुत अन्ध-विश्वास की मात्रा नहीं है। हिन्दुओं की धर्मधुनी सृष्टि, मुसलमानों का इस्लाम ईसाइयों की कुमारी मेरी —ये धर्म की आधारशिलाएँ हैं, किन्तु क्या बुद्धिवाद की कसौटी पर इन्हें अन्धविश्वास की कोटि में नहीं रखा जा सकता? फिर धर्म और दर्शन में तात्विक अन्तर क्या है यह कहना असंभव है। प्रत्येक धर्म में कुछ दर्शन है और प्रत्येक दर्शन में कुछ धर्म है। ज्ञान मस्तिष्क और कर्म मस्तिष्क हृदय और इन्द्रियाँ—ये त्रितय हमें बाध्य करते हैं कि हम निरे तर्कसंगत सिद्धान्तों के अतिरिक्त कुछ अतर्कसंगत भावनाओं और व्यावहारिक क्रियाकलापों को मान्यता प्रदान करें। हम जिसे विज्ञान के धरातल पर प्रतिष्ठित करते हैं उसमें भी अज्ञात की मात्रा बहुत अधिक है। अर्थात्, दूसरे शब्दों में प्रत्येक विज्ञान में अज्ञान है। हमने सूर्यादि ग्रह-नक्षत्रों के संबंध में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया है और यह ज्ञान हमारा विज्ञान है। परन्तु विज्ञान की सभी मान्यताएं तथा के केवल ज्ञात अंश के आधार पर आश्रित हैं। ज्योंही हमारे ज्ञात अंश की परिधि का विस्तार हुआ कि विज्ञान की वर्तमान मान्यताएँ सन्दिग्ध हो गईं। सारांश यह कि किसी भी धारणा या भावना को हमें अन्धविश्वास कहकर टाल देना नहीं चाहिए; बल्कि उसका सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन करना चाहिए और इस अध्ययन में यह ध्यान रखना चाहिए कि उस धारणा या भावना की ऐतिहासिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि क्या थी वह किस युग में प्रचलित थी और जिस युग में प्रचलित थी उस युग के मानव समाज की मनोवृत्ति क्या थी।

अब हम अथर्ववेद और उसके संबद्ध साहित्य में राक्षस पिशाच आदि तथा मारण मोहन आदि से संबंधित विचार-सरणि का निर्देश करेंगे। पिछले पृष्ठों में हमने भेषजों की चर्चा की है। भेषजों का प्रयोग न केवल रोगों के निवारण के निमित्त होता था अपितु राक्षस-भूत-पिशाचादि-जन्य उन्मादादि विकारों की शान्ति के निमित्त भी। राक्षसादि के अनेक नाम अथर्ववेद में मिलते हैं, यथा राक्षस रक्षस्, क्रव्याद यातुधान यातुमान किमीदिन् अत्रिन् पिशाच, पिशाची यातुधानी ग्राह्या दुरस्यरस् कृत्या दुर्णि मगुन्दी उपब्दा अजुनी मरुचो अराती पिशाचजम्भनी अर्धविषा आदि। निदर्शनार्थ कुछ उद्धरण अथर्ववेद से दिए जा रहे हैं।

"देवकृत उपपात से उन्माद को प्राप्त हुए तथा ग्रह, राक्षस आदि के ग्रहण से उन्मत्त

हे प्राणी के शरीर को क्षीण करनेवाली शुष्कि नामवाली राक्षसी ! अशक्ती करने वाली तुम्हारी मक्षिका जो भावनाएँ और राक्षसियाँ हैं वह लौट जावें और हनन-साधन तुम्हारे साधन भी लौट जावें तथा तुम्हारी किमीदिनी तथा दूसरे अनुचर भी लौट जावें। हे दलबल सहित शुष्कि राक्षसी ! तुम जिस विरोधी के समीप रहो उसको खा जाओ ! और जिस प्रयोग करनेवाले ने तुमको हमारे पास भेजा है उसको भी तुम खा जाओ। उसके मांस को खा जाओ।[३४]

(भ) मारण मोहन आदि अभिचार—तंत्र-शास्त्र के अध्येता यह मानते हैं कि 'षट्कर्म' उनका प्रधान प्रतिपाद्य है। इनके नाम हैं—मारण मोहन स्तंभन विद्वेषण उच्चाटन और वशीकरण।[३५] इन छह के अतिरिक्त और अनेकानेक विषयों का उल्लेख तथा प्रतिपादन विभिन्न तंत्रों में मिलता है। दत्तात्रेय-तंत्र के प्रारम्भ में इनका संक्षिप्त निदर्शन है। वे ये हैं—आकर्षण इन्द्रजाल यक्षिणी-साधन रसायन-प्रयोग कालज्ञान अनाहार प्रयोग साहार प्रयोग निधिदर्शन बन्ध्या-पुत्रवती-करण मृतवत्सासुतजीवन-प्रयोग जयप्राप्ति-प्रयोग, वाजीकरण-प्रयोग भूत-ग्रह निवारण सिंह व्याघ्र एवं वृश्चिकादिभय निवारण।

अब हम अथर्ववेद से कुछ ऐसे मंत्रों की ओर संकेत करेंगे जिनमें इस प्रकार के अभिचारों के सूत्रक्रम मिलेंगे।

'तदनन्तर जिसने अभिचार कर्म किया है वह व्यक्ति अपने अभिचार कर्म के निष्फल होने से यहाँ मेरे पास आकर स्तुति करे अर्थात् मेरी शरण में आकर मेरी ही सेवा करे।'[३६]

हे अग्ने ! आप इस राक्षस की पुत्र पौत्र आदि प्रजा का संहार करिये इस उपद्रवकारी राक्षस को मार डालिए और हमारी सन्तान के अनिष्ट को दूर करिये और इष्ट फल दीजिये और डरकर आपकी स्तुति करते हुए शत्रु की श्रेष्ठ दाहिनी आँख को फोड़ डालिए और निकृष्ट बाईं आँख को भी फाड़ डालिए।'[३७]

हे ओषधे ! मेरी सौत को पराङ्मुखी करके भेज अर्थात् पति के पास से दूर भेज फिर मेरे पति को मेरे लिए असाधारण कर।'[३८]

अथर्ववेद में अनेक ऐसे सूक्त हैं जिनका समावेश 'कृत्या प्रतिहरणगण' में है। वर्तमान मान्यता-क्रम में कृत्या को डायन कहा जा सकता है। कृत्या का डायन के किये हुए अभिचार से भी तात्पर्य होता है। चतुर्थ काण्ड के चतुर्थ अनुवाक के प्रथम सूक्त (जो कृत्याप्रतिहरणगण में है) की व्याख्या करते हुए सायण ने 'यां ते चक्रुः आमे पात्रे' आदि के किये हुए अभिचार' के दोषों के निवारण की विधि बताई है। तृतीय काण्ड के पंचम अनुवाक के पंचम सूक्त का सम्बन्ध कौशिक-सूत्र के अनुसार स्त्री वशीकरण से है। विधान यह है कि स्त्री-वशीकरण की कामनावाला पुरुष उस सूक्त का जप करता हुआ अंगुलि से स्त्री को प्रेरित करे पृष्ठ में सींग बेर के इक्कीस कांटे का रस कूट को मक्खन में मिला लेप करके तीन समय अग्नि से तापे खाट के नीचे के मुख को

पट्टी को पकड़कर तीन रात सोये गरम जल का तीन लड़वाले छींकेपर रखकर अँगूठे से मसलता हुआ शयन करे तथा लिखी हुई प्रतिकृति को सुशाक इषु से बाँधे।

एक अन्य मंत्र में मंत्रकर्त्ता प्रार्थना करता है कि 'जिस स्त्री को स्वाप से—निद्रा से—हम वश में करना चाहते हैं पहले उसकी माता सो जावे उसका पिता भी निद्रा के अधीन हो जावे और उसके घर की रक्षा करने के लिए जो कुत्ता उसके द्वार पर रहता है वह भी सो जावे गृहाधिपति भी सो जावे इस स्त्री के जो जातिवाले हैं, वह भी सो जावें, और घर के बाहर चारों ओर रक्षा करने के लिए जो पुरुष नियुक्त है वह भी सो जावे।[१५१]

पंचम काण्ड के एक सूक्त का उद्देश्य है वासन और शत्रुसेना में परस्पर भिड़ गया। एक अन्य सूक्त में 'उन्मोचन तथा 'प्रमोचन शब्दों का प्रयोग किया गया है। और किसी दूसरे पुरुष के द्वारा किए हुए अभिचार से मंत्र-शक्ति के द्वारा मुक्त होने, विशेष रूप से मुक्त होने की चर्चा है।[१५२]

स्त्री-वशीकरण-संबंधी एक मंत्र इस प्रकार है—'जैसे ताम्बूल आदि की बेल अपने आश्रयवृक्ष को चारों ओर से लपेट लेती है वे जावे। उसी प्रकार तू मेरा आलिंगन कर। जिस प्रकार तू मेरी अभिलाषावाली बनी रहे और मेरे पास से न जा सके (उसी प्रकार मैं तुमको इस प्रयोग से वश में करता हूँ)।[१५३]

इस दूसरे मंत्र को देखें जिसमें स्पष्टता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची जा सकती है—'जैसे बैंधा हुआ पुरुष असुर की माता से स्त्री को दिखाता हुआ अपने पुरुषों के सामने पैल जाता है उसी प्रकार यह अकर्मण्य तेरे शिश्नांग को स्त्री के अंग से भली प्रकार गमन करे अर्थात्, उपभोगक्षम करे। × × × अंगों से प्रकट हुआ परस्वत् (प्राणी) का प्रजनन (शिश्न) जितने परिमाणवाला होता है और हाथी तथा गध का शिश्न जितने परिमाणवाला होता है और अश्व का शिश्न जितना होता है उस शिश्न भी उतना ही बड़ा जावे।[१५३ा] × × × जिस प्रकार से तेरा पुरुषप्रजनन बड़े उपचित अवयववाला होकर मिथुनीभवनक्षम हो उस प्रकार वह और फैल और उस बड़े हुए रोग से पुरुषार्थिनी स्त्री के पास ही जा। × × × जिस रस से वन्ध्य पुरुष को—शुष्क-बीज पुरुष को—प्रजनन-शक्ति-सम्पन्न-बीजवाला कहते हैं और जिस रस से आतुर पुरुष को पुष्ट किया जाता है है मंत्रराशि के पालक मरुत्सम्पूर्णतिरेक। उस रस से इस वाजीकरण की कामना करनेवाले शिश्न को आप (तानी हुई प्रत्यंचा) धनुष के समान तना हुआ करिए।[१५४]

षष्ठ काण्ड के एक सूक्त के सम्बन्ध में यह विधान है कि उसके कुछ मंत्रों (सूचों) से दुष्ट स्त्री को वश में करने के क्रम में अदरों को अभिमंत्रित करके स्त्री के विचरण करने के स्थानों पर बिखर दे अग्नि में भूनमें वर जलत हुए मैंढ़ा को प्रत्येक दिशा में फैंके मिट्टी कुरेद करके स्त्री की मूर्ति बनाये सूशाक रीति से धनुष और बाण को बनाये फिर सूचों से मूर्ति को हृदय में बींधे।[१५५]

इसी छठे काण्ड के ग्यारहवें अध्याय के १ १वें सूक्त में कहा गया है कि

हे कामिनि ! तेरे मन को इस प्रयोग से मैं इस प्रकार उचाट करके अपनी ओर को खींचता हूँ, जिस प्रकार अश्व। का रामा लूट में बँधी हुई रस्सी (पिछाड़ी) को शीघ्रता से ही उखाड़कर अपनी ओर खींच लेता है; हे कामिनि ! जिस प्रकार वायु से उखाड़ा हुआ तृण वायु में चकराने लगता है उसी प्रकार तेरा मन मेरे अधीन होकर मुझमें भ्रमण करता रहे—रमण करता रहे—कभी अपगम न जावे।"

उपर्युक्त कतिपय उद्धरणों के देखने पर इसमें कोई भी सन्देह नहीं रह जाता कि तन्त्रों और सिद्धों से होते हुए औघड़ों तथा मरमंगों में जिन चमत्कारों सिद्धियों और अद्भुत जड़ी-बूटी आदि के प्रयोगों का आधान किया जाता है, वे सभी अपने अंकुर रूप में अथर्ववेद में पाये जाते हैं।

(ट) पंच मकार—तंत्राचार या कुलाचार में पंच मकार ही पूजा की प्रमुख सामग्रियाँ हैं। ये 'कुलद्रव्य' कहे जाते हैं। 'कुलार्णवतंत्र' में लिखा है कि—

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।

मकारपञ्चकं देवि ! देवताप्रीतिकारकम् ॥[१२२]

इन मद्यादि के सम्बन्ध में हम तन्त्रों की आलोचना करते समय विचार करेंगे। औघड़ या सरभंग सम्प्रदाय की परम्परा में भी इनको ग्राह्य माना गया है।[१२७] अब हम अथर्ववेद के कुछ ऐसे मंत्रों की ओर संकेत करेंगे जिनमें पंचमकार के सेवन के पूर्वाभास मिलते हैं।

वैदिक युग में सोमरस एक प्रधान पेय था और वेदों में सैकड़ों मंत्र सोम की प्रशंसा में भरे पड़े हैं। सुरा का भी व्यापक रूप से प्रचार था। कौशिक-सूत्र में मधु और सुरा इन दो को ग्राम-सम्पत् का मुख्य अङ्ग माना जाता था।[१२८] इन्द्र को वृत्र बल आदि शत्रुओं के संहार में सोम के मद से बहुत सहायता मिली थी।[१२९] एक ऋषि यावना करते हैं कि विश्वमान पात्रों में खींची जाती हुई सुरा में और मधु में जिस मधुरता भरे हुए रस की मनुष्य प्रशंसा करते हैं वह मुझमें हो।"

अथर्ववेद में मांस की भी बार-बार चर्चा आई है। कौशिक-सूत्र के प्रामाण्य पर तृतीय काण्ड के द्वितीय अनुवाक के तीसरे सूक्त का वर्णन करते हुए सायण ने लिखा है कि उसकी पाँचवीं और छठी ऋचाओं से सांमनस्य कर्म में ग्राम के मध्य में सम्पादित जलपूर्ण कुम्भ को लावे तीन वय की गौ के पिशित का प्राशन करे सम्पादित सुरा को पिलावे और पौ (प्रपा) के सम्पादित जल को पिलावे। अन्यत्र विषस्तम्भन कर्म में शुक्ल सेही (श्वाविन्) की शलाका से सेही के मांस का प्राशन कराने का विधान है।[१३०] एक और मंत्र में यों वर्णन है—

"जैसे मांस भोक्ता—खानेवाले—पुरुष के प्रेम का पात्र होता है और जैसे सुरा पीनेवाले को परमप्रिय होती है और जैसे फाँसे जुए में प्यारे होते हैं और जैसे वीर्य की वपा करना चाहनेवाले का मन स्त्री पर प्रसन्न होता है उसी प्रकार हे न मारने योग्य गौ ! तेरा मन बछड़े पर प्रसन्न होवे।[१३१] इस उद्धरण में मांस मद्य और मैथुन—इन तीन मकारों का एकत्र समवाय है। यद्यपि गौ के प्रति वेदों में सामान्य रूप से

मद्य की मान्यता व्यक्त की गई है तथापि कई प्रसंग ऐसे आये हैं जिनसे यह अनुमान होता है कि कुछ जन-समुदाय उस समय भी गो मक्षण आदि करते थे। कौशिक-सूत्र में विधान है कि गो-हरण मारण विशसन (काटना) अभिमन्त्र पचन और मक्षण आदि का प्रचार होने पर अभिचार की कामनावाला ब्रह्मचारी शत्रुओं को मन में रखकर पंचम काण्ड के १९वें सूक्त का जप करे। इस सूक्त का द्वितीय मंत्र भी है— इन्द्रियों से द्रोह करनेवाला आत्म-पराजित पापी राजा ही ब्राह्मण की गौ को खावे और वह राजा आज ही जीवे और कल को जीवित न रहे।[113] ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों में गो भक्षण की प्रथा नगण्य थी किन्तु क्षत्रियों में विशेषतः राजा आदि बलशाली व्यक्तियों में यह प्रथा प्रचलित थी। ब्राह्मणों को इस बात की बार-बार आवश्यकता होती थी कि वे क्षत्रियों को यह चेतावनी दें कि देवताओं ने गौ को अखाद्य माना है अतः वे भी गौ को विशेषतः ब्राह्मण की गौ को अखाद्य मानें।[114] औघड़-सम्प्रदाय में साधना की दृष्टि से उपाकर्मित अखाद्य को भी खाद्य माना जाता है। प्रथम दीक्षा में दीक्षमाण शिष्य को 'अमरी' का सेवन करना पड़ता है। एक संभ्रांत औघड़ साधु ने यह बताया कि विष्ठा मूत्र और रज तीनों के एक सम्मिश्रण को 'अमरी' कहते हैं। अथर्ववेद में भी कौशिक-सूत्र के अनुसार ऐसे सूक्त हैं जिनसे अभिमन्त्रित करके ऋतुमती स्त्री के रक्त को सम्मिश्रित करके उसका प्राशन किया जाता था।[115] सहस्रप्रामृतकम में संवत्सर तक ब्रह्मचर्य रख तदनन्तर मैथुन कर बीज को भावना में मिलाकर संपातन तथा अभिमन्त्रण करके, उसका मक्षण करने का विधान है।[116]

पंच मकार में मांस के साथ मत्स्य का भी परिगणन है। वस्तुतः मांस और मत्स्य एक ही कोटि के पदार्थ हैं और इस कारण मत्स्य को एक अलग मकार न मानकर मांस का ही उपमकार माना जाना तो असंगत न होगा। कौशिक-सूत्र में यह विधान है कि बालग्रह रोग में और निरन्तर स्त्रीसंग करने से उत्पन्न हुए यक्ष्मा रोग में इसकी और मछली सहित भात अभिमन्त्रित करके रोगी को खिलाया जाय। मांसादि के खान के अतिरिक्त उनके होम करने की भी प्रथा थी। तृतीय काण्ड के दशम सूक्त के आरम्भ में सायण ने यह लिखा है कि इस सूक्त से पुष्टयर्थ अष्टकाकर्म में घृत मांस और स्थालीपाक इन तीनों में से प्रत्येक की तीन-तीन बार आहुति दे। आदि-आदि।

मैथुन के सम्बन्ध में हम शाक्त तथा बौद्ध तांत्रिकों की चर्चा करते समय विशिष्ट विचार करेंगे। तंत्राचार में मैथुनस्थ स्त्री और पुरुष शक्ति तथा शिव के प्रतीक बन जाते हैं। आधारभूत सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक पुरुष में स्त्री-तत्त्व है और प्रत्येक स्त्री में पुंस् तत्त्व है। शिव में शक्ति है और शक्ति में शिव है। अतः निरा पुरुष मोक्ष का भागी नहीं हो सकता क्योंकि शिव और शक्ति, पुंस्तत्त्व और स्त्री-तत्त्व का मिलन ही अद्वैत है और यही अद्वैत मानव जीवन का परम लक्ष्य है। इस सिद्धान्त की ओर हमें अथर्ववेद तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में स्पष्ट संकेत मिलते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में यह लिखा है कि स्वयं पति स्वयं गर्भ के रूप में अपनी जाया में प्रवेश करता है और उसी जाया में नवीन रूप धारण करके दसवें महीने में उत्पन्न होता है। जाया कहते ही हैं उसे जिसमें पति पुनरपि

हो।[११०] इसी से मिलने-जुलनेवाले भाव को हम अथर्ववेद के निम्नलिखित मंत्र में पाते हैं— हे स्त्री जैसे वायु तरकस में समाहत आता है उसी प्रकार तेरे प्रजनन-स्थान में पुमान् गर्भ आवे और वह तेरा गर्भ पुरुषरूप में परिणत होकर दस मास तक का हो वीर्य सम्पन्न होकर इस प्रसूतिकाल में उत्पन्न होवे।[११]

षट् प्रकार के प्रसंग में अथर्ववेद के जिन मंत्रों और उनसे संबद्ध विधि-विधानों की ओर संकेत किया गया है उनके आधार पर तांत्रिका और औषधों का संबंध अथर्ववेद के साथ अनायास जुड़ जाता है।

(ठ) अथर्ववेद और उपनिषद् पृष्ठभूमि के प्रारंभ में हमने संक्षेप में यह प्रतिपादन किया है कि तंत्रमत के दार्शनिक आधार की मूल प्रेरणाएँ उपनिषदों से मिलीं। उसी सिलसिले में विभिन्न उपनिषदों से निदर्शनार्थ उद्धरण भी दिये गये हैं। उन्हें यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है। निवृत्तिमार्ग-परक होने के कारण प्रमुख उपनिषदों में उन प्रवृत्तिमूलक विधानों का समावेश नहीं है जिनका उल्लेख अथर्ववेद के विवेचन के प्रसंग में किया गया है। किन्तु यहाँ उन अपेक्षाकृत अप्रसिद्ध उपनिषदों की ओर संकेत अप्रासंगिक नहीं होगा जिनका संबंध अथर्ववेद से माना जाता है। वे हैं— अथर्वशिखा अथर्वशिर ब्रह्मतारक अध्यात्म अन्नपूर्णा, अमृतनाद अमृतबिन्दु अव्यक्त, कृष्णा, कौल क्षुरिका, गणपति कात्यायन, कालाग्निरुद्र कुरिडका त्रिपुरातापनीय दक्षिणामूर्ति देवीरूप ध्यानबिन्दु नादबिन्दु, नारद नारायण निर्वाण नृसिंहतापनीय पाशुपत ब्रह्मयोग पैप्पलाद बह्वृच बृहज्जाबाल भस्म मुक्तिका रहस्य रामतापनी वज्रपंजर, वराह वासुदेव सरस्वती-रहस्य सीता, सुदर्शन हयग्रीव इत्यादि।[११३] इन उपनिषदों में यत्र-तत्र रुद्र भव शर्व काली देवी आदि की स्तुतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त उस प्रकार के बीजमंत्र आदि भी हैं जिनका अति विस्तार हम तंत्र-ग्रंथों में पाते हैं।[११]

(ड) अथर्ववेद और तंत्र—'तनु विस्तारे' इस धातु से औणादिक ष्ट्रन् प्रत्यय करने से तंत्र शब्द की सिद्धि होती है। कुछ विद्वानों के मत में साधकों का त्राण करने के कारण यह शास्त्र तंत्रशास्त्र कहा जाता है—त्रायते इति तंत्रम्। कामिकागम में लिखा है कि—

तनोति विपुलान् अर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥

तंत्रशास्त्र को 'आगम' भी कहते हैं। यह आगम-मार्ग वेदमार्ग (निगम मार्ग) से भिन्न माना जाता है और तांत्रिकों की यह धारणा है कि कलियुग में बिना तंत्र-प्रतिपादित मार्ग के निस्तार नहीं है।[११३] अथर्ववेद में तथा कौशिक-सूत्र आदि में तंत्र शब्द का जो प्रयोग हुआ है उससे विस्तार-अर्थ में 'तनु' धातु से 'तंत्र' शब्द के साधुत्व की पुष्टि होती है। सामान्य रूप में यह कहा जा सकता है कि वैदिक मंत्रों का मन्त्रादि में प्रयोग तथा उससे संबद्ध विधियों का जो विस्तार हुआ उसे तंत्र की संज्ञा दी गई। अथर्ववेद के सायण भाष्य में इस संबंध में एक उद्धरण दिया जा रहा है। वहाँ पर "पाकयज्ञ शब्द से अथर्ववेद के सब कर्म ग्रहण किए जाते हैं। वे कर्म दो प्रकार के हैं एक आज्यतन्त्र और

दूसरे पाकयज्ञ। जिन कर्मों में आज्य अर्थात् घी प्रधान होता है वे आज्यतंत्र कहलाते हैं, और जिन कर्मों में चरु पुरोडाश आदि द्रव्य ही प्रधान होते हैं वे पाकतंत्र कहलाते हैं। आज्यतंत्र में अनुष्ठान का क्रम यह है कि पहले कर्त्ता 'अश्मवर्म' (१९.६५) इस मंत्र का जप करे कुशाओं को काटे। पर्व क्रमश: वेदी उत्तर वेदी अग्नि-प्रणयन अग्नि-प्रतिष्ठापन मन-ग्रहण कुश की पवित्री बनाना पवित्री के द्वारा यज्ञ के काष्ठ का प्रोक्षण और काष्ठों को समीप में रखना कुशप्रोक्षण ब्रह्मा का स्थापन कुशाओं का फैलाना और फैलाए हुए कुशों का प्रोक्षण करना अपना (अर्थात् कर्मकर्त्ता का) आसन जलपात्र का स्थापन आज्य संस्कार स्रुव-ग्रहण स्रुक्-ग्रहण पहले करने योग्य होम और घृत के दो भाग करना। 'सविता प्रसवानाम्' (५. २४ प्रसवकर्म का देवता सविता है), इस कर्म में अभ्याधान के द्वारा आज्यहोम करे।

इस प्रकार के सूत्रकार के वचनानुसार अभ्याधान कर्म होता है। यहाँ तक पूर्वतंत्र अर्थात् आज्यतंत्र का प्रथम तंत्र है। तदनन्तर उपदेशानुयायी प्रधान होम होता है। फिर उत्तरतंत्र का आरंभ होता है। सकल अभ्याधान पार्वण होम समृद्धि-होम सन्तति होम स्विष्टकृत् होम सर्वप्रायश्चित्तीय होम 'पुनर्मैत्विन्द्रियम्' इस मंत्र के द्वारा होम स्कन्न-होम स्कन्नास्मृति नामक दो होम संस्थिति-होम चतुर्गृहीत-होम बर्हिर्होम संस्राव-होम विष्णुक्रम व्रत विसर्जन दक्षिणा-दान और ब्रह्मोत्थापन। पाकतंत्र में अभ्याधान नहीं होता और सब काम आज्यतंत्र के समान होते हैं। इसी बात को गोपथब्राह्मण में कहा है कि—

आज्यभागान्तं प्राक्तन्त्रम् ऊर्ध्वं स्विष्टकृता सह।
हवींषि यज्ञ आवापो यथा तन्त्रस्य तन्तवः ॥"[१२१]

ऊपर के उद्धरण से प्रतीत होता है कि जब यज्ञों का विस्तार होने लगा तब यज्ञ की लम्बी तथा पेचीदी अनुष्ठान प्रक्रिया को अनेकानेक तन्तुओं से बने हुए वस्त्र (तंत्र) के समान माना गया और इस प्रक्रिया में भी पूर्वतंत्र उत्तरतंत्र आदि अनेक भाग तथा पाकतंत्र, आज्यतंत्र आदि अनेक भेदोपभेद किये गये। 'अग्निर्यज्ञं त्रिवृतं सप्ततन्तुमिति' आदि वेदवाक्यों में यज्ञ के तन्तुओं के उल्लेख का संबंध 'तंत्र' शब्द से जोड़ा जा सकता है। व्यापक रूप से हम यह कहेंगे कि मंत्र का ही प्रयोग-पक्ष तंत्र है।

रुद्रयामल[१२३] तंत्र में अनेक श्लोक ऐसे हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि तंत्रशास्त्र और अथर्ववेद में घनिष्ठ परम्परा-सम्बन्ध है। भैरवदेव भैरवी से कहते हैं कि अथर्ववेद सब वेदों का सार है और उसमें शक्त्याचार का प्रतिपादन है। अथर्ववेद से तमोगुण सामवेद की उत्पत्ति हुई। सामवेद से महासत्त्वसमुद्भव यजुर्वेद रजोगुणमय ऋग्वेद यजुर्वेद में निहित है; अथर्ववेद सब वेदों में सूत्रधार-सूत्र के समान पिरोया हुआ है। अथर्व में ही सब देव हैं। उसी में जलचर खेचर और भूचर हैं उसीमें कामविद्या महाविद्या और महर्षि निवास करते हैं। अथर्ववेद-चक्र में परमदेवता कुण्डली अवस्थित है। अथर्व प्रति पादित देवी की भावना करनेवाला साधक अमर हो जाता है। शक्तिचक्र-क्रम के रूप में अथर्व की मंत्र-सहित भावना करनी चाहिए।[१२४]

इस प्रसंग में रुद्रयामल-तंत्र की उन पंक्तियों की ओर हम संकेत करना चाहेंगे जिनमें यह कथानक आता है कि वेदारण्यक-प्रतिपादित मार्गों के आधार पर साधना करें

की तपश्चर्या करने पर भी जब वशिष्ठ ऋषि को सिद्धि नहीं मिली, तब वे निराश होकर देवी की शरण में आये। देवी ने उनपर कृपा करके उन्हें यह आदेश दिया कि 'तुम अथर्ववेद बौद्ध देश और महाचीन के मार्ग का आश्रयण करो वहाँ मेरे महामायाचरण कमल का दर्शन प्राप्त होगा और मेरे कुल' का मर्म जानकर महासिद्ध होओगे'। इस कथानक का आशय अथवा सरभंग सम्प्रदाय के अनुशीलन की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए, क्योंकि हमारा मन्तव्य है कि इस सम्प्रदाय को मूलप्रेरणा मिली अथर्ववेद तथा उससे संबद्ध ब्राह्मण, सूत्रग्रंथों और उपनिषदों से—किन्तु शाक्त तंत्र तथा बौद्ध सहजयान के सिद्धान्तों एवं आचार विचारों से प्रभावित होती हुई अति परिवर्तित रूप में।

पिछले कुछ पृष्ठों में अथर्ववेद का जो परिचयात्मक विवरण दिया गया है उसका मुख्य लक्ष्य यह है कि अथर्ववेद के साथ तंत्रशास्त्र तथा अघोर या सरभंग-मत के व्यवहार पक्ष का संबंध एवं सादृश्य स्थापित किया जाय। किन्तु इस विवरण से हमें कभी यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि अथर्ववेद का दार्शनिक या सैद्धान्तिक पक्ष अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः इस पक्ष की उद्भावना इस कारण नहीं की गई कि अद्वैतवाद के जिस रूप को अघोर अथवा सरभंग-सम्प्रदाय ने अपनाया है उसका सीधा विकास उपनिषदों के अद्वैतवाद से हुआ है। ऐसे मंत्रों की अथर्ववेद में कमी नहीं है जिनमें उच्च दार्शनिक तथा धार्मिक भावनाएँ मिलती हैं। अथर्ववेद के प्रारंभिक मंत्र को ही लीजिए। शाब्दिक अर्थ यह हुआ कि जो १-७ (त्रिषप्त) देवता समस्त रूपों को धारण करते हुए सर्वत्र भ्रमण करते हैं उनके बलों को आज मेरे शरीर में वाचस्पति स्थापित करें।[२५] यहाँ त्रिषप्त एक ऐसा विशेषण है जिसके भाष्यकारों ने कई अर्थ किए हैं। सायणाचार्य ने तीन संख्याओं में आकाश पाताल पृथ्वी—(तीन लोक आदित्य वायु, अग्नि (लोकों के अधिष्ठाता) सत्त्व रजस् तमस् (तीन गुण) ब्रह्मा विष्णु महेश (तीन देव) का अनुमानित उल्लेख किया है और सात संख्याओं में नाम लिया है— सात ऋषियों सात ग्रहों सात मरुद्गण सात लोकों और सात छन्दों का। तीन गुणसात के रूप में त्रिषप्त का अभिप्राय माना गया है सूर्य से अधिष्ठित पूर्व आदि दिशाओं के अतिरिक्त आरोग आदि सात सूर्यों से अधिष्ठित सात दिशाओं की अथवा बारह महीने पाँच ऋतुएँ, तीन लोक और आदित्य की अथवा पंचमहाभूत पंचप्राण पंचज्ञानेन्द्रिय पंचकर्मेन्द्रिय और अन्तःकरण की कल्पना की गई है। स्पष्ट है कि भाष्यकार इस वेद-मंत्र के मर्म अथवा रहस्य को समझने में असमर्थ रहा है। एक दूसरा मंत्र देखें— 'वह हमारा पिता है वह जन्मदाता है वही बन्धु है वही सभी धामों और सभी भुवनों को जानता है। जो एक होते हुए भी सभी देवों के नामों को स्वयं धारण करता है उसमें सभी भुवन विलीन होते हैं।'[२६] इन मंत्रों में परवर्ती अद्वैतवाद तथा एकेश्वरवाद दोनों का पूर्वरूप स्पष्टतया अंकित है। हम इस प्रसंग का अनुचित विस्तार नहीं देकर इतना ही कहना चाहेंगे कि अथर्ववेद में ज्ञान और कर्म सिद्धान्त और व्यवहार—दोनों ही पक्ष विकसित रूप में विद्यमान हैं। अतएव कुछ पाश्चात्य

आलोचकों की यह धारणा कि अथर्ववेद केवल जादू-टोने और अन्धविश्वास का वेद है न केवल नितान्त अशुद्ध है अपितु राष्ट्र की गौरव भावना के प्रतिकूल भी; क्योंकि ज्यों-ज्यों संस्कृत के मूल ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन की प्रणाली लुप्त होती जाती है त्यों-त्यों हम पाश्चात्य विद्वानों ने इन ग्रन्थों के संबंध में जो संकीर्ण दृष्टिकोण रखा है उसको प्रमाण मानकर अपनाते जा रहे हैं।

तंत्रशास्त्र—जो आलोचना अभी हमने अथर्ववेद के संबंध में की है वही बहुत अंशों में तंत्र-ग्रन्थों के संबंध में भी लागू है। तंत्र-ग्रन्थों से सामान्यतः संतमत की सभी शाखाओं का और विशेषतः अघोर अथवा सरभंग-सम्प्रदाय का सीधा संबंध है। किन्तु आज हम तंत्रशास्त्र को भयानक उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। आर्थर एवेलॉन (Arthur Avalon) ने शिवचन्द्र विद्यार्णव भट्टाचार्य के 'तंत्र-तत्त्व'[१२] के अंग्रेजी-अनुवाद तथा सम्पादन में इस विषय की विस्तृत विवेचना की है। तंत्र-ग्रन्थों की उपेक्षा के अनेक कारण हैं। अनेकानेक तंत्र-ग्रन्थ आज लुप्त हो गये हैं। अनेक ऐसे हैं जो दुर्लभ अथवा अप्रकाशित हैं; मूल ग्रन्थ संस्कृत में होने के कारण अंगरेजी के विद्वानों के लिए सुलभ नहीं हैं। सर जॉन उडरॉफ (Sir John Woodroffe) ने अनेक प्रमुख तंत्र-ग्रन्थों का अनुवाद करके तथा तंत्रशास्त्र के व्यापक रूप को प्रस्तुत करके तंत्र-साहित्य को एक अमूल्य देन दी है। आवश्यकता है कि हिन्दी में भी ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थों का प्रणयन हो जिनसे तंत्रशास्त्र तथा उसके असली स्वरूप का परिचय मिले। आजकल इस शास्त्र के प्रति उदासीनता इस कारण भी हो गई है कि सामान्यतः लोगों ने वामाचार को ही एकमात्र तंत्राचार मान लिया है जो एक बहुत बड़ी भूल है। इसके अतिरिक्त वामाचार के अनुयायियों में भी अनेक ऐसे हुए हैं जिन्होंने उसके आधारभूत सिद्धान्तों को नहीं समझा है और अपने को उस उच्च धरातल पर नहीं रख पाये हैं जिस पर अवस्थित होना उच्च तांत्रिक के लिए आवश्यक है।

तंत्र-ग्रन्थों के अध्ययन से यह पता चलेगा कि ये प्रायः शिव और पार्वती के कथोपकथन के रूप में लिखे गये हैं। इनके मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं तंत्र, मंत्र, साधना और योग। वाराही-तंत्र में आगम अथवा तंत्र के सात लक्षण हैं—सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, साधन, पुरश्चरण, षट्कर्म और ध्यानयोग।[१३] ये केवल कुछ मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त शत-सहस्र ऐसे बिन्दु हैं जिनका समावेश तंत्र-ग्रन्थों में हुआ है। संतमत में जो हम बराबर षट्चक्रों का उल्लेख पाते हैं वह मुख्यतः तंत्रशास्त्र की ही देन है। तंत्र-ग्रन्थों की विषय-व्यापकता को देखते हुए उन्हें 'ज्ञान का विश्वकोष' (Encyclopaedia of Knowledge) कहा गया है। आर्थर एवेलॉन ने 'तंत्र-तत्त्व' की भूमिका[२] में विष्णुक्रान्ता क्षेत्र के ६४ तंत्रों 'रथक्रान्ता' क्षेत्र के ६४ तंत्रों और 'अश्वक्रान्ता' के ६४ तंत्रों अर्थात् कुल मिलाकर १९२ तंत्रों का उल्लेख किया है। इसको देखते हुए हमें आश्चर्य होता है कि तंत्र-साहित्य के संबंध में हमारा ज्ञान कितना अधूरा है। यद्यपि तंत्रशास्त्र में व्यवहार

अथवा आचार-पक्ष प्रमुख है इसके आधार में जो मान्यताएँ हैं उनमें गंभीर दार्शनिकता है- विशेषतः शक्तितत्त्व, मंत्रतत्त्व तथा योगतत्त्व के प्रतिपादन में। तात्पर्य यह कि तंत्रशास्त्र एक सम्पूर्ण शास्त्र है, जिसमें मस्तिष्क हृदय तथा कर्मेन्द्रियों; ज्ञान, इच्छा, क्रिया; तीनों के लिए प्रचुर सामग्री मिलती है। ध्यान देने की बात है कि विभिन्न साधनों में तत्त्व चिन्ता को ही प्रधानता दी गई है। कुलार्णव-तंत्र में यह कहा गया है कि सबसे उत्तम तत्त्व चिन्ता है मध्यम है जप चिन्ता; अधम है शास्त्र चिन्ता और अधमाधम है लोक चिन्ता। पुनश्च सहजावस्था उत्तम है; ध्यान धारणा मध्यम है जपस्तुति अधम है और अधमाधम है होम-पूजा।[१३] अन्य प्रसंगों में जप की महिमा सामान्यतः गाई गई है।[१३१] इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तन्त्रशास्त्र में बाह्याचार का विधान होते हुए भी उसे ध्यान समाधि जप आदि से निकृष्ट माना गया है।

तंत्र-साहित्य की आलोचना करते समय हम उसकी कुछ विशेषताओं की ओर इंगित करना चाहेंगे। हिन्दू शास्त्रों को चार कोटि में विभाजित किया जाता है—श्रुति स्मृति पुराण और तंत्र। कुलार्णव-तंत्र के अनुसार इनमें से प्रत्येक एक-एक युग के लिए उपयुक्त है—श्रुति सत्ययुग के लिए, स्मृति त्रेता के लिए पुराण द्वापर के लिए और तंत्र कलियुग के लिए।[१३२] आशय यह है कि परम्परागत मान्यता के अनुसार सत्ययुग से लेकर कलियुग तक धर्म का उत्तरोत्तर ह्रास होता जा रहा है। अत इस युग में वेदविहित निवृत्तिमार्ग सर्वसुलभ नहीं है। फलतः तंत्रशास्त्र में ऐसी साधना पद्धति का विधान है कि जिसमें मानव की सहज प्रवृत्तियों का निरोध न होते हुए मोक्ष की प्राप्ति हो सके। इसका यह तात्पर्य नहीं कि निवृत्तिमार्ग निषिद्ध है। प्रत्युत यह, कि प्रवृत्तिमार्ग की अपेक्षा निवृत्तिमार्ग श्रेयस्कर है। किन्तु कलि की जैसी परिस्थिति है उसमें प्रवृत्तिमार्ग की विशेष उपयुक्तता है। मनु ने भी लिखा है—'प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला'। मानव की सहज प्रवृत्तियों की ओर संकेत करते हुए महानिर्वाण तंत्र में यह लिखा है कि— हे देवि मनुष्यों को भोजन और मैथुन स्वभावतः प्रिय होते हैं और अतः संक्षेप तथा कल्याण की दृष्टि से शैव धर्म में उनका निरूपण है।[१३] तंत्रमार्ग सहज एवं स्वाभाविक होने के कारण सुगम भी है। इसमें अन्य शास्त्रों की भाँति अध्ययन अध्यापन तर्क वितर्क आदि की विशेष अपेक्षा नहीं होती। मंत्रों में इतनी शक्ति होती है कि यदि उनका विधिवत् साधन किया जाय तो वे आशुसिद्धिप्रद होते हैं। इसलिए कभी कभी तन्त्रशास्त्र को 'मंत्रशास्त्र' भी कहते हैं। साधन प्रधान होने के कारण इसे 'साधन-तन्त्र' भी कहते हैं। तंत्र का यह दावा है कि यह साधक को तत्काल इष्टफल की उपलब्धि कराता है। इस दृष्टि से इसे 'प्रत्यक्षशास्त्र' भी संबोधित किया गया है।[१३]

तांत्रिकों का यह विश्वास है कि जब तक वैदिक रीति से साधना-रूपी वृक्ष में फूल लगेंगे, तब तक तांत्रिक पद्धति से उसमें फल लगने लगेंगे। उदाहरणतः वैदिक पद्धति से वर्षों सीखने पर भी निर्विकल्प समाधि की सिद्धि होगी या नहीं इसमें संदेह है, किन्तु तांत्रिक विधि से शक्ति के साथ साधक की अद्वैतता आशु सम्पन्न हो सकती है। अतः वैदिक साहित्य (पशु शास्त्र) में समय न गँवाकर कुलशास्त्र का साधन करना चाहिए। जो ऐसा नहीं करता है

वह मानो दूध छोड़कर तुच्छ वस्तु का, धान छोड़कर भूसकण का ग्रहण करता है।[१३५]

तंत्रशास्त्र की यह मान्यता है कि देह ही सभी पुरुषार्थ का साधन है, अतः 'देहधन' की रक्षा करनी चाहिए, जिसमें पुण्यकर्मों के आचरण में सुविधा हो। धन-संपत्ति, शुभ अशुभ घर गाँव आदि की सार्थकता शरीर के ही कारण है।[१३६] शरीर की उपेक्षा और तत्त्वज्ञान की अपेक्षा वैसे ही मूर्खता है जैसे घर में आग लगे और तब कुआँ खोदने की व्यवस्था की जाय।[१३७] 'देहदण्डन मात्र से भला क्या सिद्धि होगी। गंगा तट पर मछुए जन्म-भर विचरण करते रह जाते हैं क्या उन्हें विरक्ति मिल जाती है? हरिण आदि जो केवल तृण और पत्ते खाकर जंगल में जीवन-यापन करते हैं, क्या वे तापस बन पाते हैं?[१३८]

तंत्रशास्त्र की यह एक क्रांतिकारी विशेषता है कि यह सार्वभौम और सर्वग्राह्य है। वैदिक परम्परा में शूद्रों और स्त्रियों की उपेक्षा की गई है किन्तु तंत्र-परंपरा में मानव मानव में किसी प्रकार का भेद भाव नहीं रहता। भैरवी चक्र अथवा श्रीचक्र में तो इस अभेद की पराकाष्ठा माननी चाहिए।[१३९] ज्योंही कोई व्यक्ति चाहे किसी वर्ण का हो किसी जाति का हो स्त्री हो या पुरुष मंत्रदीक्षित हुआ कि वह शिवत्व-संपन्न हो गया। अब उसके साथ किसी प्रकार का भेद भाव नहीं बरता जायगा। यों कहा जा सकता है कि तंत्रशास्त्र ने तथाकथित नीच जातियों तथा उपेक्षितों को सम्मान दिया है। चांडाली चर्मचारी मातंगी पुक्कसी श्वपची खट्टकी कैवर्ती विश्वयोषित्—इन्हें 'कुलाष्टक' और कौलिकी शौण्डिकी शस्त्रजीवी रंजकी गायकी रजकी शिल्पी कैशरी—इन्हें 'सकुलाष्टक' कहकर प्रतिष्ठित किया गया है। इनकी देवताबुद्धि से पूजा (संपूज्य देवताबुद्ध्या) करने का आदेश है।[१४०] कुल कौल कौलाचार आदि पारिभाषिक शब्दों से यह ध्वनि निकलती है कि तांत्रिक साधकों का अपना विशिष्ट कुल है। सामान्य जन जिसे अकुलीन कहते हैं वह तंत्राचार में कुलीन माना जाता है। मानवता के नाते सभी कुलीन ही हैं।

कभी-कभी तंत्रशास्त्र को शाक्तों का शास्त्र समझा जाता है। किन्तु यह भ्रम है। युग-शास्त्र होने के नाते यह शैवों शाक्तों तथा वैष्णवों सबके लिए संग्राह्य है। इष्टदेवता के भेद से पूजा और साधना की विधि में भी कुछ अन्तर होते हैं। उदाहरणतः, विष्णु के लिए तुलसी शिव के लिए बिल्व और देवी के लिए 'ओड़हुल' पवित्र माने जाते हैं। उसी प्रकार काली को पशुबलि दी जाती है किन्तु वैष्णव तंत्र में यह वर्जित है। पंचतत्त्व (पंच मकार) वामाचार में विहित है किन्तु पश्वाचार में निषिद्ध है। इष्टदेवता भेद से षोडशोपचार में भी अन्तर होता है और पूजा में न्यास भूतशुद्धि आदि प्रक्रियाएँ भी पृथक् होती हैं। ध्यान आदि की परम्परा वैदिक युग से ही अप्रतिहत चली आ रही है। तंत्रशास्त्र की इस व्यापक उपयोगिता के कारण विभिन्न आचारों में विभिन्न पारिभाषिक शब्दों के विभिन्न अर्थ माने जाते हैं। सामान्यतः वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार वामाचार सिद्धान्ताचार, कौलाचार—ये सात आचार माने गये हैं। कौलाचार सर्वश्रेष्ठ है।[१४१] एक अतिरिक्त आचार 'समयाचार' के नाम से भी विदित है। कौलाचार, जो वामाचार से मिलता-जुलता है में भी पूर्व कौल और उत्तर कौल ये दो उपभेद हैं। पूर्वकौल में साधक श्रीचक्र-स्थित चिन्हित योनि की पूजा करते हैं उत्तरकौल

में प्रबद्ध योनि की ही पूजा होती है। 'कौल' शब्द के संबंध में हमें यह जान लेना चाहिए कि यह एक पारिभाषिक शब्द है। स्वच्छंद-तंत्र में लिखा है कि कुल नाम है शक्ति का और अकुल नाम है शिव का; कुल में अकुल का संबंध कौल कहलाता है।[१४२] तंत्राचार की विशिष्टता तथा व्यापकता के कारण पंच मकारों को पारिभाषिक मानकर उनके अनेक सूक्ष्म प्रतीकार्थ किये गये हैं। मद्य का तात्पर्य उस सुधा से है जो योगावस्था में ब्रह्मरन्ध्रस्थित सहस्रदल कमल से टपकती है। खेचरी-मुद्रा के द्वारा इस प्रकार का अमृतपान संभव है।[१४३] उसी प्रकार योगिनी-तंत्र में लिखा है कि 'मातृयोनिं परित्यज्य मैथुनं सर्वयोनिषु'। इसका प्रतीकार्थ यह हुआ कि शक्तिमंत्र का जप करते समय तर्जनी अंगुली (मातृयोनि) की दो ऊपर की ग्रंथियों को छोड़कर सभी अँगुलियों की सभी ग्रंथियों के सहारे गिनती की जा सकती है। पुण्य-पापरूप पशु को ज्ञानरूपी खड्ग के द्वारा हत्या और मन को ब्रह्म में विलीन करना यही मांस भक्षण है।[१४४] इडा और पिंगला में प्रवाहित होनेवाले श्वास और प्रश्वास मत्स्य हैं, इनका प्राणायाम के द्वारा सुषुम्ना में संचार—यही मत्स्य-भक्षण है।[१४५] असत्-संग का मुद्रण अर्थात् निरोध मुद्रा है।[१४६] सुषुम्ना में प्राणों का सम्मिलन अथवा सहस्रार में स्थित शिव का मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी से मिलन मैथुन है।[१४] इस प्रकार के प्रतीकार्थों का एक अपना इतिहास और उनकी एक अपनी परम्परा है और जबतक तन्त्र-शास्त्र का अनुशीलक इन्हें नहीं जानता केवल शब्दों के वाच्यार्थों पर चलता है तबतक उसकी दृष्टि एकांगी होगी ही।

तंत्रशास्त्र शक्ति की उपासना करता है। उसकी यह उपास्य देवी ही ब्रह्म है। यह नित्य सच्चिदानन्दस्वरूप है।

> अहं देवी न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
> सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान् ॥

यह जगदम्बा जगन्माता है।

> या काचिदङ्गना लोके सा मातृकुलसम्भवा। (कुलार्णव ९ १ ४)

साधकों को यह आदेश होता है कि वे समग्र स्त्रियों की संभावना करें। यहाँ तक कि यदि कोई वनिता सैकड़ों अपराध करे, तो भी उसे फूल से भी न मारें। स्त्रियों के दोषों की उद्भावना न करें बल्कि गुणों की ही चर्चा करें।[१४] यदि कुमारी कन्या या उन्मत्त स्त्री नग्नमात्र में हो तो उसके प्रति सद्भावना दरसावें उसकी निन्दा न करें। महानिर्वाण-तंत्र में यह कहा गया है कि प्रत्येक रमणी देवी-स्वरूपा है।

> तव स्वरूपा रमणी जगत्याच्छन्नविग्रहा।—१ ७१-८

भारतीय सामाजिक मनोवृत्ति के इतिहास में नारी के प्रति यह संभावना तंत्रशास्त्र की एक अमूल्य देन है। कुमारी-पूजा तांत्रिक साधना का एक ऐसा अंग है जिसके द्वारा साधक नारीत्व के प्रति पवित्र भावना को अपने हृदय में दृढ़ करना चाहता है। नग्न एवं वस्त्रालंकारभूषित दोनों वेषों में कुमारियों की पूजा का विधान है। किन्तु मूल उद्देश्य यही है कि शक्ति के सभी रूपों के प्रति श्रद्धा तथा सम्मान का भाव जागरित एवं परिपुष्ट किया जाय। कुमारी-पूजा की विधि का विस्तार योगिनी-तंत्र में देखा जा सकता है।

तंत्रशास्त्र का दार्शनिक आधार भी सदानन्दमुग्धम है। आज के युग में हमने अद्वैत को शायद आवश्यकता से अधिक प्रश्रय दे रखा है। केवल ब्रह्ममय जगत् कहने से जगत् की व्याख्या नहीं हो जाती। ब्रह्म तो सत्य है ही उसकी लीला अर्थात् जगत् भी सर्वसाधारण के लिए कम सत्य नहीं है। अतः तंत्रशास्त्र के साधना-पथ में संसार और इसकी प्रवृत्तियों को असत्य अथवा निंद्य समझकर उपेक्षित नहीं किया जाता। साधक को अद्वैत के माधुर्य तथा परमानंद के आस्वादन के लिए द्वैत जगत् के भौतिक आनंद का आस्वादन करना चाहिए। उसे पहले प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच का मध्यमार्ग अपनाना होगा और क्रमशः उसका अतिक्रमण करना होगा। साधक जब स्वयं तुरीयावस्था में पहुँच जाता है तब उसका द्वैत अद्वैत में परिणत हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तंत्रशास्त्र वेदान्त अद्वैत के साथ द्वैत का समन्वय प्रतिपादित कराता है।

तंत्रशास्त्र-सम्बन्धी यह चर्चा सम्भवतः अधूरी होगी यदि पंचमकार और उस पर आधारित साधना की विश्लेषणात्मक विवेचना न की जाय। यदि यह भी मान लिया जाय कि पंचमकार के प्रतीकार्थ की आवश्यकता नहीं है और साधना के लिए इनकी यथावश्य उपयोगिता है तो उस स्थिति में भी ऐसे व्यक्ति के लिए, जो स्वयं तंत्रमार्ग में दीक्षित नहीं है, बौद्धिक आधार अथवा तर्कसम्मत व्याख्या की अपेक्षा होगी ही। सर्वप्रथम बात यह है कि तंत्र-साधना मानव को एक सम्पूर्ण मानव के रूप में स्वीकार करती है। मानव केवल अध्यात्म का पुतला नहीं है। उसकी नसों में इन्द्रियजन्य लालसाएँ और वासनाएँ जीवित जाग्रत् एवं स्पन्दनशील हैं। यदि इन तृष्णाओं को हठात् कुण्ठित कर दिया जाय तो जैसा कि आधुनिक मनोविश्लेषण शास्त्र कहता है वे केवल दब जायेंगी मरेंगी नहीं। जिस प्रकार काम शिव के त्रिनेत्र की ज्वाला से भस्म होकर पहले से कहीं अधिक सूक्ष्म व्यापक और शक्तिशाली बन गया और आज भी बना हुआ है उसी प्रकार हमारी प्रवृत्तियाँ रुद्ध होने पर अन्तर्धारा के रूप में हमें अज्ञात रूप से सताती रहेंगी। तंत्रशास्त्र कहता है कि इन्द्रियों की प्रवृत्तियों का हठात् एवं कृत्रिम निरोध अस्वाभाविक तथा अप्राकृतिक है। भोग के साथ मोक्ष का सामंजस्य होना चाहिए।[1] ऐन्द्रिय प्रवृत्तियों की तृप्ति होनी चाहिए ताकि साधना में चित्त रमे। इस तृप्ति के दो रूप हो सकते हैं जिन्हें हम 'अवतृप्ति' और 'उत्तृप्ति' की संज्ञा देंगे। देखिए सांकेतिक चित्र—
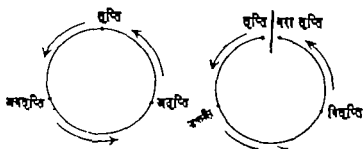
प्रवृत्ति-मार्ग में यदि हमारा यह लक्ष्य हुआ कि हम प्रवृत्ति में अधिकाधिक उलझते जायें, तब तो यह हीन प्रकार की तृप्ति अर्थात् अवतृप्ति हुई जिसकी परिणति होगी अतृप्ति के नरक में। किन्तु यदि हमारा चरम लक्ष्य निवृत्ति हो तो उसमें तृप्ति का उन्नयन होगा और इसलिए हम उसे उत्तृप्ति कह सकते हैं। अवतृप्ति के द्वारा हम अधिकाधिक अतृप्ति की दिशा में बढ़ते चले जायेंगे किन्तु उत्तृप्ति के द्वारा हम तृप्ति का अतिक्रमण कर सकेंगे और तृप्ति की लालसा से विरहित हो सकेंगे। इसे हम वितृप्ति कह सकते हैं। तृष्णाओं के प्रति इस वितृप्ति अथवा क्रमिक विरक्ति का परिणाम यह होगा कि हम अतीन्द्रिय अथवा आध्यात्मिक तृप्ति की कामना करने लगेंगे। इसे हम 'परातृप्ति' कह सकते हैं। यही है वह परमानन्द जो शिव शक्ति के सामरस्य से तुरीयावस्था में साधक को प्राप्त होता है।

वासनाओं के उन्नयन की दृष्टि से ही तंत्राचार में यह विशिष्ट निर्देश है कि मांस मद्यादि द्रव्यों का पूजा तथा जप में उपयोग एकमात्र देवता को प्रसन्न करने के लिए तथा ठीक-ठीक शास्त्रोक्त विधि के अनुसार ही होना चाहिए।[१५०] बिना विधान के तृण को भी काटना निषिद्ध है जीवहिंसा तो दूर रही।[१५१] आत्मशुद्धि के लिए हिंसा नितान्त वर्जित है।[१५२] याग-काल के अतिरिक्त पंचमकार का सेवन कुपथ है।[१५३] जो शास्त्रविधि का परित्याग करके मनमाना आचरण करता है वह सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता और मरने पर नरकलोक का भागी होता है।[१५४] विधिविहित मैथुन में कामुकता नहीं होनी चाहिए।[१५५] यह तंत्रशास्त्र की अति रहस्यमय विशेषता है कि उसने अनासक्त मैथुन की कल्पना की है। इसीलिए जहाँ कुलार्णव-तंत्र में एक ओर पंचमकार का सबल मंडन है वहाँ साथ ही साथ उसके अवैध सेवन का सबल खंडन भी है। यदि मद्यपान से सिद्धि होती तो सभी पामर मद्यप सिद्ध बन जायें। यदि मांसभक्षण तथा स्त्रीसंभोग-मात्र से मुक्ति मिलती तो सभी मांसाशी जन्तु मुक्त हो जाते।[१५६] सभी तंत्र ग्रन्थों में साधक के निर्लिप्तभाव और समरसता पर बल दिया गया है। योगी वही है, जिसका जीवन परोपकार के लिए है[१५७] जो जीवित होते हुए भी वासनामय जगत् के लिए मृतवत् है[१५८] जीवन्मुक्त है, भोगी होते हुए भी त्यागी है। जिस प्रकार सूर्य सर्वपायी है अनल सर्वभोगी है;[१५९] कौल योगी भी उसी प्रकार पथापथ सदसद्‌ में अन्तर नहीं देखता। साधना के क्रम में वह महामांस अर्थात् मानव-मांस का भी भक्षण कर सकता है।[१६०] पंचमकार के कुछ द्रव्यों की साधना में विशिष्ट उपयोगिता स्वतःसिद्ध है। किसी भी साधनाविधि में सर्वप्रथम आवश्यकता है चित्तवृत्ति की एकाग्रता की—एक ही धुन हो एक ही चिन्ता—अवस्था। इस प्रकार की चित्तवृत्ति उत्पन्न करने के लिए मदिरा बहुत सहायक होती है। उसके आसार से इच्छाशक्ति, भ्रम में ज्ञानशक्ति और आस्वाद में क्रियाशक्ति जाग्रत् होती है। यह चित्तशोधनसाधनी है।[१६१]

तंत्रशास्त्र में श्मशान को अनेक साधनों का सर्वोत्तम स्थान माना गया है। देवी को शव के वस्त्रभूषण से युक्त शव पर आसीन भैरवी और योगिनियों से परावृत श्मशान में निवास करनेवाली आदि विशेषणों से वर्णित किया गया है।[१६२] परिशिष्ट में हम शव साधन की विधि का विवरण करेंगे। किन्तु इस प्रसंग में यह चर्चा इसलिए की गई है कि

श्मशान की उपयोगिता की परीक्षा की बात। इस संबंध में हमने अनेक 'पहुँचे हुए' औघड़ साधुओं से विचार विमर्श किया है। उन्होंने स्पष्टरूप से यह बतलाया और हम इससे सहमत हैं कि जितनी निष्ठा से श्मशान में मध्यरात्रि में जप या ध्यान किया जा सकता है चित्त की जितनी आत्यन्तिक एकाग्रता श्मशान में अनायास संभव हो सकती है मन पर विजय प्राप्त करने की क्षमता जितनी वहाँ अर्जित होगी उतनी अन्यत्र नहीं। मनुष्य का मन कितना चंचल है यह सभी अनुभव करते हैं। जागते में तो आकाश-पाताल के कुलावे जोड़ता ही है सोये में भी उतनी ही तेजी से विचरण करता है। ऐसे मन को वर्षों की साधारण ध्यान-पूजा से भी वश में नहीं किया जा सकता किन्तु श्मशान की एक घंटे की घोर साधना से नियंत्रित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रायः हम सबों का व्यक्तिगत अनुभव है कि हम जब किसी शव की रथी के साथ श्मशान जाते हैं तब कम-से-कम उतनी देर जब तक कि हम वहाँ रहते हैं हममें वितृष्णा तथा वैराग्य की प्रबल भावना का उद्रेक होता है। अतः यदि कोई साधक बराबर या प्रायः श्मशान में रहता हो तो उसके हृदय में वैराग्य की भावना का अनायास तथा सबल विकास होना सहज है। हमने चम्पारण की यात्रा में बहुत-से ऐसे सरभंग साधुओं को देखा जिनके मठ या तो श्मशान में हैं या नदी के तीर पर एकान्त में।

साधना के सोपान में आठ बहुत बड़े बाधक हैं, वे ही पाश के समान हमें जकड़े हुए हैं—घृणा लज्जा भय, शोक, जुगुप्सा कुल, शील तथा जाति।[१२३] इन पर विजयी होना साधक के लिए आवश्यक है। पंचमकार, श्मशान-साधना आदि विधान ऐसे हैं जिनके द्वारा इस दिशा में कम समय में अधिक सिद्धि प्राप्त हो सकती है। आज भारत में जाति का आधार लेकर समाज तथा राष्ट्र का कितना अनिष्ट किया जा रहा है यह सभी अनुभव करते हैं। तंत्रशास्त्र ने जाति प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाकर क्रांति का तंदश-नदन किया है। किन्तु जाति-प्रथा की परम्परा इतनी सनातन तथा सबल रही कि इसके विरुद्ध जितनी भी क्रान्तियाँ हुई वे या तो उगने नहीं पाईं या उगीं भी तो अल्प-कालीन रहीं। मर्यादावाद के नाम पर सभी क्रान्तिकारी विचारों और सिद्धान्तों को लोकबाह्य घोषित किया गया। बौद्ध जैन अनेकानेक निर्गुण-सम्प्रदाय—सब इस मर्यादावाद के आघात-प्रतिघात में कुचल दिए गये। यदि अंशतः जीवित रहे तो इस कारण कि उन्होंने भी मर्यादावाद का अनुकरण या विडम्बना की। किन्तु हमें इन सभी सम्प्रदायों को यह श्रेय देना होगा कि उन्होंने कृत्रिम मान्यताओं के विरुद्ध आन्दोलन किया। तंत्रशास्त्र को भी यह श्रेय है बल्कि अधिक मात्रा में क्योंकि इसने हिन्दुत्व के प्रांगण में हिन्दुत्व के विरुद्ध विप्लव किया।

तंत्रशास्त्र का प्रभाव केवल भारतवर्ष तक सीमित न था। इसने तिब्बत चीन[१२४] आदि में भी प्रवेश किया और वहाँ बौद्ध तांत्रिकों की एक अलग परम्परा चल पड़ी। इस परम्परा में अनेकानेक बौद्ध सिद्ध हुए, जिनके संबंध में हममें से सभी कुछ-न-कुछ जानकारी रखते हैं। सरह शबर लुई दारिक भुसुक जलन्धर डोम्बिपा कण्हपा तन्तिपा विरूपा आदि बौद्ध सिद्धों की 'बानियाँ' न केवल धार्मिक दृष्टि से अपितु भाषा

के विकास की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण मानी गई हैं। मत्स्येन्द्र, जिन्हें आदिनाथ भी कहा जाता है, की शिष्य-परम्परा में मत्स्येन्द्र और गोरखनाथ, तथा दक्षिण में ज्ञानेश्वर हुए। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि बौद्ध सिद्धों ने उत्तरवर्ती सन्त विचार धारा को कितना अधिक प्रभावित किया। सरह आदि सिद्धों ने वसुबन्धु दिङ्नाग और धर्मकीर्ति आदि के महायान बौद्धधर्म को मंत्रयान वज्रयान या सहजयान के नाम से एक नये साँचे में ढाला। इन्होंने पुरानी परम्पराओं और धारणाओं का पुनर्मूल्यांकन किया और साथ ही साथ तंत्रशास्त्र के सिद्धान्तों को बौद्ध शून्यवाद आदि के साथ समन्वित करके जनसमाज के सम्मुख उपस्थित किया। मंत्रयान शून्यवाद के सूक्ष्म विवेचन को लेकर आरम्भ हुआ था। जब सामान्यजन बुद्धधर्म के सूक्ष्म दार्शनिक विचारों को नहीं समझने लगे, तब भिक्षुओं ने कुछ अपरिचित शब्दों को जनता के सामने रखा और यह बतलाया कि इनके बार-बार उच्चारण करने से निर्वाण (शून्य) की प्राप्ति हो सकती है। इन निरर्थक शब्द-समुदायों को 'धारणि' नाम दिया गया और धारणि के छोटे रूप को मंत्र की संज्ञा दी गई। मंत्रयान वह हुआ, जिसमें मंत्र के सहारे से मोक्ष-प्राप्ति का विधान हो। नागार्जुन के समकालीन असंग ने मंत्र के साथ तंत्र का भी प्रयोग बताया; अर्थात्, तंत्रों में जो पंचमकार आदि विधियाँ प्रतिपादित की गई हैं उनका मंत्र के साथ प्रतिपादन किया। अतः इस प्रकार के मंत्रयान को तंत्रयान भी कहा जाता है। नागार्जुन ने शून्य को वज्र नाम दिया क्योंकि वह (निर्वाण) वज्र की तरह अभेद्य है। इसी कारण मंत्रयान का एक नाम वज्र नाम भी हुआ। सहजयान नाम इसलिए पड़ा कि जिस प्रकार निर्वाणरूपी सत्य को वज्रवत् अभेद्य माना गया उसी प्रकार उसे सहज अर्थात् सरल या नैसर्गिक समझा गया। सहजयान में वज्रयान से इस रूप में अन्तर था कि सत्य की प्राप्ति के लिए गुरु की दीक्षा तथा योग का अभ्यास आवश्यक समझा जाता था। साधकों का यह विश्वास था कि स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ स्वतः मनुष्य को उसके सत्य तक ले जायेंगी। आचार्य अनंगवज्र ने 'कुदृष्टि निर्घात-क्रम' में दो प्रकार के साधक बताये हैं—शैक्ष तथा अशैक्ष। शैक्ष अविकसित मनवाले होते हैं। अतः इन्हें आचार के नियम पालन करने पड़ते हैं। अशैक्ष विकसित होते हैं और उन्हें आचारगत स्वतंत्रता रहती है। वे केवल 'सहज स्वभाव' धारण करने पर अधिक बल देते हैं। इस संदर्भ में सहज का अर्थ है प्रज्ञोपायात्मक अर्थात् सहज वह आद्य तत्त्व है जो प्रज्ञा और उपाय के सहगमन से उद्भूत हो।[११८]

कबीर पर मरमिया संत-सम्प्रदाय की तंत्रशास्त्र के साथ जो संबंध-रचना है उसमें बौद्ध सिद्धों ने मध्यम कड़ी का स्थान लिया। इसीलिए हम देखते हैं कि मरमिया संतों के साहित्य में शून्य शून्यलोक सहज सहज और सुर समरस आदि पारिभाषिक शब्दों तथा उनपर आश्रित भावनाओं का पर्याप्त समावेश है। हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बाह्याचारों और पाखण्डों के तीव्र खण्डन की जो परम्परा हम संत-मत के विभिन्न सम्प्रदायों में पाते हैं उसकी सीधी प्रेरणा उन्हें इन सिद्धों से मिली। गुरु के प्रति अनन्य आस्था और वेदशास्त्रों के पुस्तकीय ज्ञान के प्रति अनास्था तंत्रशास्त्र बौद्ध सिद्धों

और विभिन्न संतमतों में समान रूप से विद्यमान है। तंत्र-ग्रंथों में अनेक स्थलों में चीनक्रम या महाचीनक्रम आदि का उल्लेख है। महाचीनक्रम का उस तांत्रिक पद्धति से तात्पर्य है जो तिब्बत, चीन आदि देशों में बौद्धधर्म के प्रभाव में विकसित हुई और जिसने सरह आदि सहजयानी सिद्धों को प्रभावित किया। इन सिद्धों ने भी तांत्रिकों की नाईं अपनी चर्या में पंचमकार को प्रश्रय दिया। मैथुन आदि के संबंध में अनायास यह प्रश्न उठ सकता है कि वासना से वासना को वश में कैसे किया जा सकता है? इस संबंध में बौद्ध सिद्धों का यह तर्क है कि जिस विष से प्रायः प्राणी मरते हैं, उसी विष के प्रयोग से विषतत्त्वज्ञ विष का निराकरण करता है।[११८] इसी कारण जहाँ सहजयानी सिद्धों ने 'युगनद्ध' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है वहाँ साथ ही साथ साधकों को यह चेतावनी दी है कि विषय में रमण करते हुए भी विषय से निर्लिप्त रहना चाहिए।[११९]

'सहज' शब्द का प्रयोग तंत्रों में भी हुआ है। किन्तु हम सरहपा को सहजवाद का प्रथम आचार्य मान सकते हैं; क्योंकि उन्होंने ही सहजयान को सम्प्रदाय के धरातल पर प्रतिष्ठित किया। उन्होंने यह बताया कि जीवन की सहजात अथवा प्रकृतिसिद्ध प्रवृत्तियों के नियमन के बिना ही सहजज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। कबीर आदि संतों ने जिस सहज समाधि की बार बार चर्चा की है, उसे उन्होंने सिद्धों से ही लिया था।[१२०] सिद्धों ने अपने भावों को प्रकट करने के लिए कहीं-कहीं गूढ़ एवं चुभती तथा साभिप्राय भाषा का प्रयोग किया है। हठयोग आदि अप्राकृतिक अभ्यासों और शारीरिक आयासों को उन्होंने व्यंग्यात्मक ढंग से 'काष्ठ'-योग की संज्ञा दी है।[१२१] इसके विपरीत सहजयान को 'ऋजु-मार्ग' कहा गया है। उनके अनुसार बक्रात्मा द्वारा प्रतिपादित विधि वक्री (बंक) है। इसे छोड़कर सिद्धों की ऋजु-पद्धति को अपनाना चाहिए।[१२२] इस ऋजु मार्ग में भी स्वर-साधना आवश्यक है। इड़ा और पिङ्गला[१२३]—दोनों का निबंधन करके उन्हें सुषुम्ना-मार्ग में प्रवाहित करना चाहिए जिससे कि स्वर की गति समरस हो। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि स्वर-साधना और समरसता पर कबीर या सरभंग संतों ने भी अपरा या कहिए कि सभी निर्गुणवादी संतों ने, बल दिया है। स्वर-साधना के द्वारा चित्त में विश्रान्ति[१२४] की एक ऐसी अवस्था आती है जो निर्विकल्प समाधि के समान होती है। इसी कारण इसे 'शून्य'[१२५] निरंजन आदि की संज्ञा दी गई है। इसे ही 'परम महासुख' भी कहा गया है। परम महासुख वह दशा है जिसका न आदि है, न मध्य न अन्त; न वह भव है न निर्वाण; न वह पर है न अपर; न मित्र न भिन्न न प्राप्य न त्याज्य; वह शब्दों और वर्णों की सामर्थ्य से परे है।[१२६] जिस 'गगन' शब्द का परवर्त्ती संत-साहित्य में प्राय 'पति' के सामान्य अर्थ में प्रयोग हुआ है उसका सिद्धों ने पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया है।[१२७] सरहपा में सामाजिक परम्पराओं के प्रति वैसा ही तीव्र विरोध मिलता है जैसा कि कबीरादि में। यह सिद्ध साहित्य की भी उल्लेखनीय विशेषता है। सहज सम्प्रदाय स्पष्ट-व्यापार के अभावों को सिद्धों ने दोष माना है। इन सिद्धों के कोंकिपा इत्यादि कुछ ऐसे सहजिया अबधूत आदि नाम इस बात के सूचक हैं कि शाक्त मत,

आदि तथाकथित नीच जातियों के प्रति हीन भावना और वर्णाश्रम तथा मर्यादावाद के नाम पर कृत्रिम नियंत्रणा के प्रति सिद्धों ने प्रतिक्रियात्मक आन्दोलन खड़ा किया। तीर्थस्थ आदि के नाम पर विधि निषेधों का जो बहुत बड़ा जालात्मक निर्मित कर दिया गया है उसका इन सिद्धों ने जोरदार प्रतिरोध किया।[illegible] गुरु के प्रति सद्भावना तंत्र साहित्य सिद्ध साहित्य और संत साहित्य में समान रूप से विद्यमान है।[illegible]

'युगनद्ध' के संबंध में कुछ विचार करना इसलिए आवश्यक है कि बौद्ध सहजयान के इस पक्ष को लेकर जनसामान्य के मस्तिष्क में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ घर कर गई हैं—वे ही भ्रान्तियाँ जो शाक्तों के पंचमकार और कतिपय सरभंग साधुओं के साथ रहनेवाली 'माईराम' के संबंध में हैं। सर्वप्रथम हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए, और हम इसे अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर बलपूर्वक कहना चाहेंगे कि जिस तांत्रिक और अघोर-सम्प्रदाय का नाम सुनते ही हम नाक-भौं सिकोड़ लेते हैं उसमें अनेकानेक अभी भी ऐसे हैं, जो विद्या तपश्चर्या त्याग परोपकारवृत्ति सम्यक आत्मचिन्तन—सभी दृष्टियों से अत्युच्च धरातल पर अवस्थित हैं। यदि ऐसे लोकोत्तर व्यक्ति साधना के पथ में या आचारकाल में किन्हीं ऐसे विधानों को मान्यता देते हैं जिन्हें सामान्य जनता अमर्यादित मानती है तो स्पष्ट है हम विचारशील और अनुशीलन परायण व्यक्तियों को जनसाधारण की भाँति गड्डरिका-प्रवाह में नहीं बहना चाहिए। हमें उनके मर्म और रहस्य का तटस्थ बुद्धि से अनुसन्धान करना चाहिए। दूसरी बात यह है कि मर्यादित आचार सर्वदा सापेक्ष हुआ करते हैं—देश काल और परिस्थिति के अनुसार उनका मानदण्ड बदलता रहता है। गोमांस भक्षण को ही लीजिए। यह हिन्दुओं के लिए एक अत्यन्त अमर्यादित आचार है किन्तु ईसाइयों और मुसलमानों की दृष्टि में इस विषय में मर्यादा का कोई प्रश्न ही नहीं है। मन्दिर मस्जिद गिरजा ईश्वर, अल्ला, गॉड—विभिन्न धर्मावलम्बियों के लिए इनमें आस्था बिलकुल सापेक्ष है। कैथलिक पादरी के लिए गृहस्थ जीवन उपेक्ष्य है किन्तु प्रोटेस्टेण्ट के लिए अपेक्ष्य है। शैव के लिए मांसभक्षण ग्राह्य है, वैष्णव के लिए गर्ह्य (गर्हित) है। इस प्रकार हम यह देखेंगे कि आहार विहार-संबंधी हमारे जितने भी नियम अथवा स्वीकृत आचार हैं वे सभी केवल लौकिक मान्यता के भाजन हैं। तीसरी बात यह है कि कभी कभी बहुसंख्यक जनसमुदाय ऐसी रीति-नीतियों को भी मान्यता देता है जिनका कोई बौद्धिक आधार नहीं है; उनकी मान्यता का एकमात्र आधार निर्जीव परम्परा है। हिन्दू-समाज की जात-पाँत की प्रथा को ही लीजिए। किसी युग में भले ही इसकी उपयोगिता रही हो किन्तु आज यद्यपि इसने भारत के समग्र राष्ट्रीय तथा सामाजिक जीवन में प्रवेश कर रखा है बीसवीं शताब्दी के इस वैज्ञानिक युग में इसकी जिस रूप में यह इस समय है उपयोगिता नगण्य है। बहुत से सरभंग संत और 'मईराम' हिन्दुत्व की इस जात-पाँत-प्रथा की ही देन हैं।[illegible] एक ही बात विवाह की प्रथा दूसरे उच्च कुलों में विधवा विवाह का निषेध। आज भी इसका दुष्परिणाम यह होता है कि बहुसंख्यक स्त्रियाँ बरबस बन जाती हैं अनेकानेक भ्रमपरिवर्तन करती हैं; और कुछ तो घुट-घुट कर आजीवन तुषाग्नि में जलती रहती हैं। यदि सरभंग-सम्प्रदाय में इस

प्रकार की उपेक्षिताओं और अभिशिप्ताओं को शरण दी, उन्हें एक नियंत्रित और मर्यादित जीवन-सरणि दी, तो शायद उसने समाज की अमूल्य सेवा की। यदि कोई व्यक्ति आज जात-पाँत का तीव्र विरोध करे, तो यह उसकी महत्ता का परिचय होगा, चाहे भले ही उसके विरोध का गला उसी तरह से रेंत जाय, जिस तरह से संत-परम्परा के अनेकानेक मतवादों के विप्लवी विचार कुंठित हो चुके हैं। इस प्रकार के मतवाद अपनी महत्ता के होते हुए भी भारतीय समाज में न प्रश्रय पा सके हैं और न शायद पायेंगे। ये क्रांति के प्रतीक रहे, किन्तु क्रांति के सफल न हो सकने के कारण वे स्वयं आक्रान्त हो गये। सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से विचार करने पर हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि संत मत की अघोर शाखा क्रान्ति और महत्ता का प्रतीक है, किन्तु रूढ़ि और परम्परा के अन्ध बहुमत ने क्रमशः इसके कृष्णपक्ष को उद्भासित किया और शुक्लपक्ष को सतह के ऊपर नहीं आने दिया।

विधिविहित मैथुन[१५] (जिसे 'लता-साधन' भी कहा जाता है) और युगनद्ध के आधारभूत सिद्धान्तों का सुन्दर विवेचन श्री एच्. वी. ग्वेन्थर (H. V. Guenther) ने अपने ग्रंथ 'युगनद्ध' में विस्तार से किया है। संक्षेप में उनका अभिमत यह है कि युगनद्ध के सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक तथा प्राकृतिक आधार पर अवस्थित हैं। प्रत्येक व्यक्ति पिता और माता, पुरुष और स्त्री के वीर्य और रज से उत्पन्न हुआ है। अतः उसे अनिवार्य रूप से *उभयलिंगी प्रकृति मिली है*, उसमें पुंस्त्व और स्त्रीत्व दोनों मिलकर *'समरसीभूत'* हुए हैं।[१६] दूसरे शब्दों में, प्रत्येक पुरुष में स्त्रीत्व निहित है और प्रत्येक स्त्री में पुंस्त्व। ये तत्त्व अर्थात् स्त्रीत्व और पुंस्त्व परस्पर विरोधी (contrary) भी हैं और परस्पर पूरक (complimentary) भी। पुरुष साधक अपने व्यक्तित्व के अन्तर्विरोध का समाधान दो तरह से कर सकता है—अप्राकृतिक ढंग से स्त्री-तत्त्व का निरोध करके, प्राकृतिक ढंग से दोनों का सामञ्जस्य करके। तथाकथित हठयोगी, आजन्म ब्रह्मचारी आदि प्रथम पद्धति का आश्रयण करते हैं। वे प्रत्यक्ष रूप से भले ही अपने प्रकृतिगत द्वैत में एकत्व का आधान कर पाते हैं, किन्तु यदि उनकी ज्ञात तथा अज्ञात मनोवृत्तियों का विश्लेषण किया जाय, तो उनमें सर्वदा एक खिंचाव या तनाव (tension) का आभास मिलेगा। युगनद्ध का सिद्धान्त इसके विपरीत सामञ्जस्य की पद्धति को अपनाता है और मानव-जीवन में अन्तर्निहित वैषम्य अथवा तनाव को उन्मुक्त (release) करने की चेष्टा करता है। वर्तमान मनोविश्लेषण-शास्त्र के अनुसार नैराश्य (frustration) हीन मनोवृत्ति (Inferiority complex) एकाकिता, नारीत्व-जुगुप्सा अथवा नारीत्व विरोध, तथाकथित 'कामिनी' के रूप में नारीत्व की भर्त्सना आदि मानसिक विकृतियों का मूल कारण प्रकृतिगत स्त्रीत्व तथा पुंस्त्व का हठात् निरोध है।

भारतवर्ष के दर्शनशास्त्र की कुछ ऐसी प्रवृत्ति रही है कि उसने अध्यात्म (Spirituality) को आवश्यकता से अधिक गौरव प्रदान किया है और सहज अन्तर्वृत्ति (Instinct) को पशुत्व कहकर अपमानित किया है। दर्शन की दूसरी परम्परा ने अन्तर्वृत्ति को, भूत-तत्त्व (Matter) को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। अध्यात्मवादी की दृष्टि

में अध्यात्म ही एकमात्र तथ्य है। भूतवादी की दृष्टि में ऐन्द्रिय प्रवृत्तियाँ ही सब कुछ हैं। वस्तुतः अध्यात्मवादी और भूतवादी दोनों ही 'कुछ-नहीं-वाद (Nothingbutism) के शिकार हैं। तथ्य है दोनों के समन्वय में। मानव का स्त्रीत्व शक्ति का प्रतीक है और उसका पुरुषत्व शिव का। युगनद्ध साधना के द्वारा शिव शक्ति के अद्वैत का परिताप करना साधक का लक्ष्य होना है। हमें स्मरण रहना चाहिए कि 'युगनद्ध' आनन्द के अनेक स्तरों का प्रतीक है जिन्हें क्रमशः आनन्द परमानन्द[१८] विरमानन्द और सहजानन्द की संज्ञा दी गई है। जो व्यक्ति युगनद्ध को परमानन्द का प्रतीक न मानकर परमानन्द ही मान लेते हैं वे भूल करते हैं। वे व्यक्ति भी भूल करते हैं जो नारी को कामवासना की परितृप्ति का माध्यम मानकर चलते हैं वस्तुतः साधक के लिए उसकी संगिनी शक्ति अनन्य श्रद्धा और समावना की पात्री है। गेटे (Goethe) के फॉस्ट (Faust) से कुछ पंक्तियों को उद्धृत किया है, जिनमें नारी के प्रति वे विचार व्यक्त किये गये हैं कि उसके माध्यम से पुरुष अपनी उच्चतम तथा सूक्ष्मतम अनुभूतियों में साफल्य-लाभ कर सकता है।[१]

अन्त में यह संकेत कर देना आवश्यक है कि बौद्धमत में प्रज्ञा ही 'शक्ति' का स्वरूप है और तांत्रिक उपासना भी 'शक्ति' की उपासना है। बौद्धधर्म में तांत्रिक बौद्धों की एक अलग शाखा है जिसका साहित्य शैव शाक्त तंत्र-साहित्य से बहुत अंशों में मिलता जुलता है और जिसके युगनद्ध सिद्धान्त की समीक्षा अभी की गई। तांत्रिक बौद्धों में सहज योग[४] का भी विधान है। कहने का आशय यह है कि बौद्धधर्म पर आगमों और तंत्रों का प्रभाव पड़ा और फिर इस बौद्धधर्म ने भी संत मत को प्रभावित किया। इसने सहज वज्रयानी-परम्परा के सिद्धाचार्यों की विचारधारा का कुछ विश्लेषण किया है। उससे यह पता चलता है कि सहज-मत के सिद्धान्त और साधना तथा सरभंग मत के सिद्धान्त और साधना में बहुत कुछ साम्य है। सिद्धों के अनुसार हमारे माया निर्मित मोह जाल से शून्य अथवा सहज में निर्वाण की प्राप्ति होती है कुदी और तारा आदि देवियों के परस्पर 'युगनद्ध' होने से 'महासुख' की प्राप्ति होती है साधना के लिए चित्त शुद्धि सहज मार्ग तथा गुरु का निर्देश आवश्यक है साधनाओं के द्वारा अनेकानेक सिद्धियों की उपलब्धि संभव है। यदि हम प्रस्तुत मुख्य ग्रन्थ का अनुशीलन करेंगे तो स्पष्टतः प्रतीत होगा कि सिद्ध-मत की प्रायः ये सभी विशेषताएँ[५] सरभंग-मत में भी हैं।

जहाँ तक कबीर आदि निर्गुण संतों का प्रश्न है यह निर्विवाद है कि उनसे 'सरभंग अथवा अघोर मत-मत विशेष रूप से प्रभावित हुआ।[६] वस्तुतः हम इस मत को निर्गुण मत रूप व्यापक एवं बरगद उपवन में एक ऐसा विटप मानेंगे जो तांत्रिक शाक्त-मत तथा नाथपंथ के वातावरण में पनपा, फूला और फला।[४१]

ही माध्यम मानते हैं और स्वतः स्वीकृत मर्यादा का पालन करते हैं। सत्य तो यह है कि वे अपनी पत्नी को भी मातृस्वरूपा या शक्तिरूपा मानकर उसकी संभावना करते हैं। यह सचमुच एक अधिकार-साधना है। मैंने अनेक पढ़े-लिखे और प्रतिष्ठित व्यक्तियों को इन मर्यादित तांत्रिकों की असीम श्रद्धा-भक्ति करते देखा। कुछ के प्रति मेरा भी मस्तक श्रद्धा से अवनत हो गया।

१८ Yuganaddha The Tantric View of Life (Chowkhamba Sanskrit Series, Banaras)

Bi-sexuality or to emphasise its functional and dynamic aspect ambierosicism, is both a psychological and a constitutional factor —पृ २

१८१ वहीं पृ ७

१८२ वहीं पृ ८

१८३ Highest mistress of the world !
Let me in the azure
Tent of Heaven in light unfurled
Hear thy Mystery measure !
Justify sweet thoughts that move
Breast of man to meet thee !
And with holy bliss of love
Bear him up to greet thee !
With unconquered courage we
Do thy bidding highest
But at once shall gentle be
When thou pacifiest.
Virgin pure in brightest sheen,
Mother sweet, supernal,
Upto us Elected Queen,
Peer of Gods Eternal !

—Goethe, Faust Pt II

१८४ तांत्रिक बौद्धों के संबंध में देखिए—आचार्य नरेन्द्रदेव-रचित 'बौद्धधर्म-दर्शन' की महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज लिखित भूमिका।

१८५ सिद्ध-मत के सिद्धान्त-पक्ष एवं साधना-पद्धति के विवरण के लिए देखिए—धर्मवीर भारती के सिद्ध साहित्य का तृतीय अध्याय।

१८६ Encyclopaedia of Religion & Ethics में 'अघोरी अघोरपंथी' शीर्षक 'औघड़' शीर्षक से Crooke ने जो विस्तृत परिचयात्मक टिप्पणी दी है उसका सारांश परिशिष्ट (क) में दिया गया है। Crooke के सामने इस अघोर-सम्प्रदाय का कोई साहित्य नहीं था ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु उसने जो सूचनाएँ दी हैं वे महत्त्वपूर्ण हैं। इनके जो अध्ययन अनुशीलन किया उसके आधार पर स्थूल रूप से हम यह कह सकते हैं कि अघोर-सम्प्रदाय और सरभंग-सम्प्रदाय में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। सामान्यतः

सतमत का सरभंग-सम्प्रदाय

पहला अध्याय

सिद्धान्त

१ ब्रह्म, ईश्वर, द्वैत, अद्वैत

'सरभंग' अथवा 'अघोर'¹ मत के सन्तों ने जिस परम तत्त्व अथवा ब्रह्म का प्रतिपादन किया है वह मूलतः और मुख्यतः अद्वैत तथा निर्गुण है। इस मत की उत्तर प्रदेशीय शाखा के सर्वप्रमुख आचार्य 'किनाराम' ने अद्वैत ब्रह्म को 'निरालम्ब' की संज्ञा देते हुए यह कहा है कि जीवात्मा और परमात्मा सद्गुरु की कृपा से द्वन्द्व-रहित होकर अभिन्न हो जाते हैं —जैसा कि उपनिषदों में वर्णित है। 'अद्वैत' का यह अर्थ हुआ कि आत्मा और परमात्मा दोनों दो नहीं तत्त्वतः एक हैं। उसका यह भी अर्थ हुआ कि परमात्मा और त्रिगुणात्मक प्रकृति अथवा उसकी विकृतियों से निर्मित जगत् —ये दोनों एक हैं। इन दो केन्द्रीभूत सिद्धान्तों को उपनिषदों में 'अहं ब्रह्मास्मि' तथा 'सर्वं खल्विदम् ब्रह्म' इन निष्कर्ष-वाक्यों के द्वारा प्रकट किया गया है। किनाराम ने भी अपने प्रमुख ग्रन्थ 'विवेकसार'² में विस्तार के साथ आत्मा, परमात्मा और जगत् के अभेद की व्याख्या की है। वे कहते हैं कि मैं ही जीव हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही आकारवत् निर्मित जगत् हूँ, मैं ही निरञ्जन हूँ और मैं ही विकराल काल हूँ; मैं ही जन्मता हूँ और मरता हूँ; पवन आकाश भी मैं ही हूँ। ब्रह्मा विष्णु महेश भी मैं ही हूँ। सुमन और उसका वास विष और उसका रस मैं ही हूँ। बन्धन तथा मुक्ति, अमृत तथा हलाहल, ज्ञान तथा अज्ञान, ध्यान तथा ज्योति मैं ही हूँ। लूला-लँगड़ा, सुन्दर असुन्दर, नीच ऊँच, अन्धा-नेत्रवान्, धातु-अधातु मैं ही हूँ। मेरु कैलाश वैकुण्ठ सत्यलोक क्षीरसिन्धु गोलोक रविमण्डल सोमलोक सभी मैं ही हूँ। नारी-पुरुष, मूर्ख-चतुर, दानव-देव, दीन-धनी, सिंह शृगाल, अभय निर्भय, चोर-साधु, रंक-राजा, मित्र-स्वामी, पूजक-पूज्य, गोपी-गोपाल, रावण-राम, कृतज्ञ-कृतघ्न, पाप-पुण्य, शुभ अशुभ, दिन-रात मैं ही हूँ। मैं ही वेद-वाणी हूँ और मुझमें ही सकल कलाएँ निहित हैं। मैं ही योगी हूँ और मैं ही योग हूँ। तरुवर, शाखा, मूल, फल, पत्र—सभी मैं ही हूँ। उजला-काला, स्थावर-जंगम, अन्तर-बाह्य, छोटा-बड़ा, भेद-अभेद, अग्नि-धूम्र मैं ही हूँ। मत्स्य, वाराह, कच्छप, नरसिंह—ये अवतार भी मैं ही हूँ। आकाश और उसके नक्षत्र, दश दिशाएँ, कल्प का नाश, पंच सतयुग कलियुग मैं ही हूँ। गजराज से लेकर पिपीलिका तक सभी मैं ही हूँ। मैं अनीह, अद्वैत, निस्पृह और निरालम्ब हूँ। मैं न आता हूँ, न जाता हूँ, न मरता हूँ, न जीता हूँ। यही सभी अद्वैत बुद्धि है जो भेद में अभेद की भावना की जननी है।

इस मत के अन्य सन्तों ने भी अद्वैत और अभेद का प्रतिपादन अपने अपने ढंग से किया है। योगेश्वराचार्य ने स्वरूप प्रकाश में गाया है कि—मुझमें और जग में भेद

नहीं। ज्ञानी अज्ञानी ध्यानी मैं ही हूँ पुण्य-पाप सूर्य-चन्द्रमा पृथ्वी-पर्वत पवन-पानी राजा-रंक जीव जगत् माता पिता हिन्दू-तुर्क गुरु शिष्य मैं ही हूँ। यही 'निराकार' की कहानी है। रामस्वरूप दास ने कहा है कि—

'एका एकी राह पकड़ ली दुनिया ना ठहराई।'[१]

एक दूसरे संत अपने गद्य-ग्रन्थ 'भ्रमनाशक प्रश्नोत्तरी'[२] में लिखते हैं—"एक ही आत्मा परिपूर्ण स्वयं-प्रकाश आनन्द स्वभाववाला अपने अज्ञान से 'मैं जीव हूँ' 'मैं संसारी हूँ' इत्यादि मत्तों का भाष्य होता है जिससे भिन्न और कोई संसारी भावना करने को शक्य नहीं है और जिसीको वैराग्य आदिक साधना-सम्पन्न का शास्त्र आचार्य के उपदेश करके, श्रवण आदि साधना की पटुता करके 'तत्त्वमसि' आदिक वाक्यों करके, तत्त्व-साक्षात् करके, उत्पन्न हुए पर, अज्ञान और जिसका काम सम्पूर्ण नष्ट हो जाता है पश्चात् अपने आनन्द करके तृप्त हुआ अपनी महिमा में स्थित हुआ मुक्त व्यवहार को भजता है। हे शिष्य! एक जीवात्मा ही मुख्य वेदांत का सिद्धान्त है। इसी को तुम निश्चय करो और सब अनात्म पदार्थों का त्याग करो। अपने आनन्द चैतन्य स्वरूप में स्थित होओ।" पुनश्च— 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' जो वाक्य हैं सो भी गुरु पूजा करके आत्मा में आरोपित किए जो कर्तृ त्यादि तिनका निषेध करके जीव ब्रह्म का अभेद का बोधन करते हैं।"[३]

वक्तव्य के साथ-साथ क्रियाओं के अभेद को घोषित करते हुए भिनकराम के विद्वान् शिष्य गुलाबचन्द 'आनन्द' ने यह लिखा है[४] कि—हम आप ही बोलते हैं और आप ही सुनते हैं आप ही 'पिउ' और आप ही 'पपीहरा' हैं; आप ही देखते हैं और आप ही रीझते हैं; आप ही कलाम हैं और आप ही मद हैं; आप ही नशा में मस्त होकर गान लगते हैं। जीव और शिव में कोई अन्तर नहीं। यह अंतर मन का भ्रम है तात्त्विक नहीं। यहाँ जीव और शिव का मतलब आत्मा-परमात्मा से है। दूसरे शब्दों में अर्थात् योग के क्षेत्र में शिव और शक्ति में भेद देखना भी अज्ञान है। भेद केवल नाम का है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने में कार्य और कारण में भी कोई अन्तर नहीं है। हमलोगों का जीवन मैं-मैं तू-तू में बीत जाता है; वस्तुतः 'मैं' और 'तू' एक हैं। एक दूसरे स्थल पर सरल शब्दों में 'आनन्द' ने समझाया है कि एक में एक जोड़कर दो बनाइए और दो में एक जोड़कर तीन बनाइए इस प्रकार जहाँ तक गिनते बन जाइए, हम देखेंगे कि चाहे कितनी भी बड़ी संख्या हो शून्य हटा देने से सब एक-ही-एक रह जाती है। तात्पर्य यह कि यह समस्त प्रपंचमय जगत् वस्तुतः एक ही परम तत्त्व का विस्तार है और वह सब तत्त्व अद्वैत है।[५] भगवान के दरबार मठ और उसके प्रमुख संत कमाराम तथा भिनकराम के चरित्र-वर्णन के सिलसिले में उपनिषद्-वाक्य 'तत्त्वमसि' का उल्लेख किया गया है और द्वन्द्व अर्थात् द्वैत का निराकरण किया गया है।[६] भगवान की संत परम्परा के एक अन्य साधु 'पल्टू' दास ने कहा है कि ब्रह्म और जीव एक हैं। दूसरा तो जानना भ्रम है।[७]

यह प्रश्न था है कि जब अद्वैत ही सत्य है तब फिर हमें द्वैत का भान क्यों होता है और सत्य एक ही है तो उसमें अनेकत्व भावना क्यों उत्पन्न होती है। 'वनारम उत्तर देता

है कि द्वैत और अनेकत्व की भावना के मूल में 'माया' अथवा 'उपाधि' है। उदाहरणतः सोना एक होते हुए भी, उससे बने हुए आभूषणों के कुण्डल, गलहार, कंगन आदि अनेक नाम होते हैं। आत्मा भी माया और उपाधि के वश में अपने को अपने-आप से भिन्न और बहुत्व विशिष्ट देखता है। हमारे माता पिता बन्धु-बान्धव स्त्री-पुत्र सभी उपाधि अथवा भ्रमजन्य हैं।[13] ब्रह्म मन-बुद्धि गिरा-गोतीत अनंत तथा एकरस है वह ब्रह्म निमल, नित्य है। किन्तु सामान्य व्यवहार के निम्नतर स्तर पर वह 'ईश्वर' हो जाता है और सगुण निगुण भेद का पात्र बन जाता है। उसका सम्बन्ध उस समस्त प्रपंच से जुड़ जाता है जिसमें पाँच तत्व पचीस 'प्रकृतियाँ' (पंचतत्व की विकृतियाँ) और दस इन्द्रियाँ हैं। सारांश यह कि तत्वतः एक ब्रह्म अनेक प्रतीत होता है।[14] पलटूदास ने इस जगत् के नानात्व का तिरस्कार करके अपने असली अद्वैत स्वरूप को पहचानने और आत्म-परिचय को समझने का उपदेश दिया है। आलंकारिक-भाषा का प्रयोग करते हुए उन्होंने जीवात्मा को जो इधर उधर भटक रहा है अपने घर-लौट चलने का आदेश दिया है।[15]

कबीर से लेकर किनाराम तक की परम्परा जहाँ तक सिद्धान्त पक्ष से सम्बन्ध है मूलतः एक है। कबीर ने सिद्धान्ततः निगुण ब्रह्म को माना है। किंतु अपनी रचनाओं में उन्होंने राम की भक्ति और राम-नाम जपने का उपदेश दिया है। यह राम 'दशरथ सुत सगुण राम' न होकर निगुण राम है। कबीर पर वैष्णव मत का प्रकट प्रभाव पड़ा था वे वैष्णव भक्ति के समर्थक रामानन्द के शिष्य थे। अतः राम-नाम मानो उनके रोम-रोम में रम रहा था। किन्तु यदि हम 'रामचरित-मानस' और कबीर के 'बीजक' का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो सगुण राम और निगुण राम का अन्तर स्पष्ट विदित हो जाता है। वैसे तो तुलसी ने भी 'अगुनहि सगुनहि नहिं कछु भेदा' के द्वारा सगुण और निगुण की तात्विक एकता का प्रतिपादन किया है और कबीर ने भी राम के सगुण-अवतार के रूप में प्रह्लाद, ध्रुव-सुता आदि का जो उद्धार किया उसकी चर्चा अपने पदों में की है; तथापि कबीर का राम तुलसी के राम से नितान्त भिन्न है वह मूर्ति के रूप में स्थूल प्रतीकों का भाजन कदापि नहीं बन सकता। वस्तुतः भारतीय विशेषतः उत्तर भारतीय भक्ति-जगत् में राम के नाम का प्रचार इतना अधिक हो चुका था कि कबीर दादू आदि सन्तों ने उसे अपनाने की वाञ्छनीयता का अनुभव किया। इसके अतिरिक्त राम को अपनाकर उसी के माध्यम से वे बहुसंख्यक हिन्दुओं के हृदय प्राङ्गण तक पहुँच सकते थे। इन्हीं परिस्थितियों से प्रेरित होकर कबीर ने राम की भक्ति का प्रचार किया किन्तु चेष्टा यह रही कि राम भक्ति के साथ निरर्थक कर्मकाण्ड मूर्तिपूजा आदि जो रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास सम्बद्ध हो गये हैं उनसे उसे असंपृक्त रखें। किनाराम भिनकराम मोहनराम आदि युक्त प्रदेश तथा बिहार के 'औघड़' एवं 'मरमंग' संतों ने कबीर की ही नाईं राम का निगुण-ब्रह्म के रूप में अपनाने की चेष्टा की। किनाराम ने लिखा है—

राम हमारे बुद्धि बल राम हमारे प्राण।
राम हमारे सखा किनाराम गुरु ज्ञान।[16]

'निर्गुण' की व्युत्पत्ति हुई 'गुणान्निर्गतः' अर्थात् सत्त्व रजस् और तमस्—इन तीन गुणों से परे। भारतीय-दर्शन के अनुसार समस्त सृष्टि-प्रपंच और सांसारिक दुःखों तथा बन्धनों के मूल में ये ही तीन गुण हैं। इन्हीं के प्रभाव से हम शरीर-धारण करते हैं और जन्म-मरण के चक्र अथवा भवर में नाचते रहते हैं। ब्रह्म या परमात्मा इन गुणों से परे है। किन्तु कुछ वैष्णव शैव आदि भक्तों ने त्रिगुणातीत ब्रह्म को सगुण अवतार मानकर उसे उसी प्रकार जन्म-मोह जरा-मरण आदि से ग्रसित कल्पित किया है जिस प्रकार हम साधारण मानव पशु पक्षी आदि हैं। अतः सरभंग सन्तों ने ब्रह्म के निर्गुण-रूप को ही अपनाया है और मूर्ति आदि प्रतीकों की उपासना को निंद्य बताया है। किनाराम कहते हैं कि सद्गुरु के उपदेश के प्रभाव से साधक उस 'अकल असंभित देश' तक पहुँच सकता है जहाँ उस निर्गुण ब्रह्म से साक्षात्कार होगा जो निर्मल निरञ्जन निर्भय दुःख-सुख और कर्म विकार से परे तथा पूर्ण है।[१]

किनाराम के इस पद में 'निरञ्जन' शब्द ध्यान देने योग्य है। यहाँ यह निर्गुण ब्रह्म का विशेषण मात्र है। ऐसे पद बहुत संख्या में मिलेंगे जिनमें निरंजन का यही अर्थ है। किन्तु कबीर से लेकर सन्त मत के जितने प्रमुख प्रवर्तक हुए हैं उन्होंने एक-दूसरे रूप में भी निरंजन की कल्पना की है। इस अर्थ में निरंजन एक प्रकार का 'अपर-ब्रह्म' है। जिस प्रकार शांकर वेदान्त में परमार्थ-दर्शन का ब्रह्म जो एकमात्र ज्ञान गम्य है व्यवहार-दर्शन में उतरकर 'ईश्वर' बन जाता है और भक्त की उपासना का भाजन तथा जगत् की जन्म स्थिति और लय का कारण बनकर द्विरूपता को प्राप्त होता है उसी प्रकार कबीर आदि सन्तों की कल्पना में निर्गुण-ब्रह्म का ऐसा रूप भी है जो ईश्वर स्थानीय है। इसका नाम 'निरंजन' है। 'निरंजन' की यह अभिधा उपनिषदुत्तर-काल में विकसित हुई होगी क्योंकि 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्'[४] आदि उपनिषद् वाक्यों में 'निरंजन' शब्द का प्रयोग निर्गुण निरुपाधि ब्रह्म के ही लिए हुआ है। पूर्वीय और पश्चिमीय सभी दर्शनों के सम्मुख यह एक शाश्वत समस्या रही है कि त्रिगुणातीत ब्रह्म और त्रिगुण विशिष्ट जगत् के बीच सामंजस्य कैसे स्थापित हो और विभिन्न दार्शनिकों ने इसका समाधान अपने-अपने ढंग से किया है। उदाहरणतः पाश्चात्य-दार्शनिक कांट (Kant) के तात्विक विचार जगत् (Critique of Theoretical Reason) का ब्रह्म (Absolute) व्यवहार जगत् (Critique of Practical Reason) में भक्तों का आराध्य देव (God) बन गया है। निर्गुण सन्तमत के विचारकों ने भी अद्वैत ब्रह्म और द्वैत जगत् के बीच के व्यवधान को पाटने के लिए और उनमें परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक 'निरंजन' देव की कल्पना की है। यह निरंजन 'सत्पुरुष' से भिन्न है और माया के त्रिगुणात्मक-जगत् का अधिष्ठाता है। सन्त दरिया (बिहार) ने निरंजन को सत्पुरुष का पुत्र माना है और यह बताया है कि निरंजन और माया के परस्पर उन्मुक्त वास सम्पर्क से देवताओं और अन्य प्राणियों की सृष्टि हुई। इस जगत् की विषमता अमीरी और गरीबी सुख और दुःख के उत्तरदायी निरंजन ही हैं। जब सत कवि दरिया एक धर्म-निष्ठ व्यक्ति को आपत्तियों में कराहते हुए और एक व्यभिचारी को मधुर वैभव में इठलाते

इस संघपमव-संवाद की पूर्णाहुति करते हुए और ज्ञानी का समर्थन करते हुए अन्त में सत्पुरुष ने घोषित किया—"ऐ बटमार काल! सुनो, जो जीव भक्ति रूपी मेरा बीड़ा पाता है वह अवश्य मेरे लोक में आता है; उसके आँचल का 'खूँट' (छोर) तुम कभी न पकड़ो।"[३३] यद्यपि 'काल' के अर्थ में 'निरंजन' का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है तथापि बहुत-से ऐसे प्रसंग हैं जिनमें निरंजन के साथ कोई हीन भावना सम्बद्ध नहीं है और भक्ति के क्षेत्र में वह भगवान् के पद पर आसीन है।[३४]

निर्गुण-भावना के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए हम उन पदों की ओर भी संकेत करना चाहते हैं जिनमें तैत्तिरीय उपनिषद् के 'यतो वाचो निवर्तन्ते'[३५] के अनुसार निर्गुण ब्रह्म को अनिर्वचनीय मानकर 'नेति नेति' की शैली में उसका नकारात्मक स्वरूप अंकित किया गया है। जब कठोपनिषद् ने ब्रह्म का 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवम्'[३६] वर्णित किया है तब उन्होंने इसी शैली को अपनाया है। 'आनन्द' ने लिखा है कि 'हमारा साहिं' दृष्टि, श्रवण और कथन से परे है; वह अलख अलेख अनीह अनाम अकथ अमोह अमान अगुण अगोचर अमर, अकाम है।[३७] किनाराम ने भी कहा है कि सत्पुरुष की रूप-रेखा नहीं है इसलिए उसका 'विशेष कथन अथवा निर्वचन सम्भव नहीं है।[३] एक दूसरे सन्त ने ब्रह्म के परिचय को 'अकथ कहानी' कहा है और बताया है कि जिस प्रकार गूंगे को गुड़ खिलाइए तो वह उसके स्वाद का बयान नहीं कर सकता इसी तरह ब्रह्म अनुभव-गम्य मात्र है। वह न एक है न दो, न पुरुष है न स्त्री न सिर है न पैर, न पीठ न पेट न छाती न पेंट न जिह्वा न नैन न कान न श्वेत न रक्त न चित्रित न पीत न श्याम न ह्रस्व न दीर्घ न कल्प न क्षीण, न आदि न अन्त न घर में न वन में न मन में न तन में न नीचे न ऊपर, न मूल न शाखा न शत्रु न मित्र, न संग न पृथक् न सुप्त न जागरित, न मूरख न ज्ञानी।[३९] उस अनादि ब्रह्म का 'सुमिरन' करना चाहिए जो न दूर है न निकट, न काला न पीला न लाल न बूढ़ा न वृद्ध न बाल न स्थिर न गतिशील, न आकुल न शान्त न अद्वैत न द्वैत, न पीर न काफिर, न आस्मान न जमीन और न पापी न पुण्यवान।[४०] किनाराम ने निर्गुण ब्रह्म के निर्विशेष तथा अलक्ष्य भाव को व्यक्त करते हुए कहा है—

> सन्तों सन्तों सबिकायाँ सबलखनवाला सबल।
> रामकिना कैसे लखे वाको नाम अलख ॥[४१]

ज्ञान के क्षेत्र का निर्गुण-ब्रह्म जब भक्ति के क्षेत्र में उतरता है और अनायास भक्त भगवान् उपासक उपास्य के इतरेतर-सम्बन्ध में बँध जाता है तब द्वैतवाद एकेश्वरवाद का रूप धारण कर लेता है। इस रूप में निर्गुणवादी सन्तों ने ईश्वर को बहुदेववाद से परे कल्पित किया है। ब्रह्मा विष्णु महेश उस एकेश्वर की संज्ञा तबतक नहीं पा सकते जबतक इनका फिर विनाश नहीं हो जाता। अद्वैतवाद के साथ-साथ एकेश्वरवाद की भावना भारतवर्ष में वैदिक काल से समानान्तररूप से चली आ रही है। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' में श्रुतियों ने स्पष्ट रूप से एकदेववाद या एकेश्वरवाद को प्रतिपादित किया है। सन्त कवि भी

जब यह बात है कि ब्रह्मा शिव आप गणपति, शारदा सभी नित्यप्रति जपकर 'पूरन ब्रह्म' का पार नहीं पाते[४२] तब व सब देवों में एक सर्वाधिदेव की कल्पना करते हैं। प्रकृति और जीव से भिन्न एक ईश्वर की सत्ता मानने से संत हम पर पहुँचते हैं कि ईश्वर एक है जीव अनेक हैं। प्रकृति की नानात्वविशिष्ट विर्द्ध अभिव्यक्ति जगत् के पदार्थ भी अनेक हैं। ईश्वर, जगत् और जीवात्मा दोनों में किनाराम ने लिखा है कि प्रभु जड़ और चेतन सबमें रम रहा है।[४३] जिस तरह सबत्र निरन्तर रूप से व्यापक है उसी तरह से ब्रह्म भी व्याप्त है।[४४] पलटूदास साहब सब जीवों के अन्तर में 'समाया' हुआ है वह पृथ्वी पवन जल अग्नि इन पंच तत्त्वों में व्याप्त है निरंजन ईश्वर व्याप्य-व्यापक भाव से विश्व में प्रतिष्ठित है। ... के शब्दों में भगवान कहते हैं कि मैं सबसे अलग होते हुए भी सबमें उसी तरह व्याप्त हूँ जिस तरह पुष्प में सुगन्ध तलवार में चमक सुन्दर पदार्थों में सौन्दर्य सरिता में गति और समुद्र में लहर[४५]। फिर, दूसरे शब्दों में वे कहते हैं—मैं फूल में हूँ और फूल के रंग सुगन्ध तथा काँटा में भी हूँ, मैं पृथ्वी आकाश और अन्तरिक्ष में हूँ, मैं ही सूर्य चंद्र और तारा में हूँ।[४६] मैं त्रिगुण-रूप ब्रह्मा विष्णु और शिव में हूँ, अन्य सभी देवता और अवतारों में भी हूँ।[४७] व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध अद्वैत की पृष्ठभूमि पर प्रसंगवश इतरेतर-व्याप्ति का भी रूप ग्रहण करता है। किनाराम लिखते हैं कि राम में जगत् और जगत् में राम है[४८] आपमें सब है और सबमें आप है।[४९] जब ईश्वर विश्वव्यापक के रूप में चित्रित किया जाता है तब उसे 'जगत्-पालक' 'जगदीश' आदि अनेकात्मक संज्ञाओं से विभूषित किया जाता है[५०]। एक ही ईश्वर सब जीवों में व्याप्त है—इस सिद्धान्त के आधार पर संतों ने समदर्शिता का समर्थन किया है। ब्रह्मानन्द लिखते हैं कि ब्रह्म विप्र में डोम में, शनि में सोम में काल में कीट में काच में हरि में पर्वत में समुद्र में घर में वन में गाय में कुत्ते में कुंजर में कीट में भूप में रंक में सर्वत्र व्यापक है। तात्पर्य यह कि हम मानवों को ऊँच-नीच धनी गरीब स्पृश्य अस्पृश्य आदि वैषम्य विषयताओं को दूर करना चाहिए।

द्वैत अद्वैत तथा सगुण निर्गुण की इस चर्चा को समाप्त करने के पूर्व यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि संतों ने निर्गुण ईश्वर के सगुण रूप धारण करने के कारणों और प्रयोजनों का किस प्रकार उल्लेख किया है। निर्गुण के सगुण रूप धारण करने का ही पौराणिक भावना में अवतारवाद कहते हैं। यद्यपि कबीर तथा किनाराम आदि ने अवतारवाद का स्पष्ट समर्थन नहीं किया है तथापि उन्होंने यत्र-तत्र अनेकात्मक ऐसे पद लिखे हैं जिनमें अवतार-भावना की परिपुष्टि मिलती है। इस प्रसंग में हमलोगों को यह ध्यान में रखना होगा कि यह कहना और है कि ब्रह्म ने निज इच्छा से त्रिगुणात्मक रूप धारण किया और यह कहना और है कि ब्रह्म ने भक्तों के संकट मोचन के लिए, अथवा गीता के शब्दों में धर्म की ग्लानि और अधर्म के अभ्युत्थान के निवारण के लिए सगुण अवतार-रूप धारण किया। निर्गुणवादी सन्तों के पदों के सामान्य अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि यद्यपि उन्होंने अद्वैतवाद अथवा एकेश्वरवाद के सिद्धान्तों के साथ अवतारवाद का खंडन किया है तथापि भक्तों के कल्याण और उद्धार के सम्बन्ध में रामावतार तथा

कृष्णावतार के जितने रामायण महाभारत तथा पुराण-सम्मत कथानक प्रचलित हैं, उनमें आस्था दिखाई है। जिस समय किनाराम यह कहते हैं कि "आज निमल निरख मन-बुधि गिरा गोतीत अलखित ब्रह्म ने निज इच्छा से त्रिगुणात्मक रूप ग्रहण किया और उस कारण एक होते हुए भी अनेक कहाया तो यह अवतारवाद नहीं बल्कि अद्वैतवाद होगा। किन्तु उन्हीं के शिष्य 'आनन्द' के अनुयायी भगवती प्रसाद जब यह लिखते हैं कि भगवान् की यह सहज रीति है कि वे संकट पड़ने पर भक्तों का उद्धार करते हैं गज, प्रह्लाद द्रौपदी आदि के उदाहरण विद्यमान हैं भगवान ने स्वयं बाजी हारी और अपने भक्तों को जिताया"[२] —तो यह पौराणिक अवतारवाद का अविकल अंगीकरण है। 'आनन्द' के अनेक ऐसे पद हैं, जिनमें उन्होंने अवतारवाद की समर्थन-पूर्वक चर्चा की है।[३] स्वयं किनाराम ने एक स्वतंत्र पोथी लिखी है जिसका नाम है 'रामरसाल'। उसमें उन्होंने रामचरित की कुछ घटनाओं का इस रूप में वर्णन किया है जिससे उनकी रामावतार में आस्था व्यक्त होती है। इतना अवश्य है कि वे बीच-बीच में हमें 'राम ब्रह्म रूप भूप और 'निर्गुणादिसगुणम्' आदि पदों द्वारा राम के निर्गुणत्व की याद दिलाते चलते हैं।[४] अनेक ऐसे पद सन्तों के मिलते हैं जिनमें निर्गुण और सगुण निराकार और साकार के बीच समन्वय तथा सामंजस्य की भावना प्रकट की गई है।[५] कहीं-कहीं तो सन्तों ने स्पष्ट रूप से अवतारवाद का प्रतिपादन किया है।[६] स्वयं किनाराम की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

> भज मन नारायण नारायण नारायण।
> सरजू तीर अयोध्या नगरी
> राम लखन भजनारायण।[७]

किन्तु सामान्य रूप से योगेश्वराचार्य के शब्दों में निर्गुणवादी सन्तों की निर्गुण और सगुण दोनों में आस्था होते हुए भी उनकी भावना की चरम परिणति निर्गुण में ही है।

> गाइ निर्गुण सगुण मिलत
> ध्यान निर्गुण में रहा।[८]

सरभंग अथवा अघोर-मत के संतों की ईश्वर-सम्बन्धी 'बानियों' के अध्ययन और मनन से हमारे मस्तिष्क पर यह प्रभाव पड़ता है कि वे विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के सम्बन्ध में उदारता का भाव रखते हैं। हमने कबीर आदि सन्तों के विचारों का अनुशीलन करके यह पाया है कि वे सम्प्रदायवाद जातिवाद अथवा वर्गवाद के प्रतिकूल हैं। उन्होंने बार-बार राम-रहीम और कृष्ण-करीम की एकता पर बल दिया है और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों को भाई-भाई-जैसा बर्ताव करने का आदेश दिया है। यदि तुलसी सूर आदि सगुणवादी सन्तों की विचारधारा के साथ कबीर रैदास दादू आदि निर्गुणवादी सन्तों की विचारधारा की तुलना की जाय तो हम यह कह सकते हैं कि मानवता तथा भारतीय सभ्यता और संस्कृति की रक्षा की दृष्टि से दोनों का लक्ष्य समान था। दोनों मानव मानव में प्रेमभाव की आकांक्षा करते थे और चाहते थे कि धर्म और मत के नाम पर जो द्वन्द्व मचा हो रहा है उसका निराकरण हो। भेद था पद्धति में समस्या के समाधान की प्रणाली में।

समस्या यह थी कि हिन्दू और मुसलमान में जो संघर्ष है वह मिट जाय और हिन्दू अपने हिन्दुत्व के, तथा मुसलमान अपने इस्लाम के, मानने एवं अनुसरण करने में स्वतंत्र हों। सूर तुलसी आदि तथा रामानुज मध्व निम्बार्क चैतन्य आदि कवियों एवं सन्तों ने हिन्दू संस्कृति-रूपी दुर्ग की अन्तर-रक्षा की चेष्टा की। कबीर, जायसी आदि ने इस दुर्ग पर आक्रमण करनेवालों को यह बतलाने का प्रयत्न किया कि धर्म के नाम पर एक-दूसरे के विरुद्ध आक्रमण निरर्थक है हिन्दू अपने दुर्ग में रहें मुस्लिम अपने दुर्ग में रहें। तुलसी आदि ने हिन्दू-सभ्यता और संस्कृति की अन्तश्शुद्धि का लक्ष्य रखा और कबीर आदि ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति के व्यापक अंचल में हिन्दू और मुसलमान दोनों को समान रूप से पलने और फूलने के लिए प्रोत्साहित किया। एक पक्ष को हम विशुद्धतावादी कह सकते हैं तो दूसरे को समन्वयवादी। सार्वभौम प्रेम दोनों को इष्ट था। किनाराम की शिष्य परम्परा में मुख्यतः 'आनन्द' के प्रभाव-क्षेत्र के अन्दर बहुत-से ऐसे सन्त अथवा भक्त हो गये हैं जिन्होंने मत और सम्प्रदाय के नाम पर वैर विरोध को निंदित ठहराकर परस्पर-प्रेम-भाव बरतने का उपदेश दिया है। हनीफ ने राम, कृष्ण खुदा अहद अहमद मुस्तफा आदि संज्ञाओं को समान अभिधा-परक बताया है और कहा है कि मस्जिद मन्दिर और गिरिजा में एक ही भगवान की चर्चा है।[५४]

२ माया, अविद्या

उपनिषदों को 'वेदान्त' कहा गया है क्योंकि उनका सीधा सम्बन्ध आरण्यकों से होते हुए वेदों से जोड़ा जाता है। इस शृंखला की प्रारम्भिक कड़ी वेद है और अन्त अथवा अन्तिम छोर उपनिषदें हैं। इसीलिए वे वेद का अन्त अथवा वेदान्त हैं। निर्गुण सन्त-परम्परा का अद्वैतवाद इन्हीं उपनिषदों के 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' आदि निष्कर्ष सिद्धान्तों पर आधारित है। हमने यह भी देखा है कि कबीर आदि सन्तों ने परमेश्वर के लिए 'ब्रह्म' शब्द का उतना अधिक प्रयोग नहीं किया है जितना 'राम' 'पुरुष' और 'सत्पुरुष' का। ये प्रयोग भी उपनिषदों में ही मूलीभूत हैं यथा 'असंगो-ह्ययम् पुरुषः'[१८] अथवा 'वेदाहमेतम् पुरुषं महान्तम्'[१९] अथवा महात्ममूर्तेपुरुष।[२०] सन्तों ने जीवात्मा को 'हंस' और परमात्मा को 'परमहंस' कहकर वर्णित किया है। ये शब्द भी 'हिरण्मयः पुरुष एकहंसः'[२१] आदि उपनिषद्-वाक्यों से अनुप्राणित हैं। सन्तों के पदों में 'माया' 'अविद्या' और 'उपाधि' इन शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इन पदों की प्रतिष्ठा और दार्शनिक पारिभाषिकता का श्रेय शंकराचार्य को है किन्तु शंकराचार्य ने मूल प्रेरणा ग्रहण की उपनिषदों से। यही कारण है कि वेदान्त-सूत्रों के भाष्य में शंकर

ने पद-पद पर उपनिषद्-वाक्यों को उद्धृत किया है और उन्हें 'इति श्रुतिः' कहकर कथाकथा के समकक्ष प्रमाणित किया है। उपनिषदों में 'विद्या' और 'अविद्या' शब्द का बार-बार प्रयोग किया गया है। यथा—

'अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥'[८४]

अथवा

'द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याऽविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥'[८५]

अथवा

'दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याभीप्सितं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवो लोलुपन्त ॥४॥
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥५॥'[८६]

पुनः

"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥"[८७]

अथवा

"छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥९॥
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥१०॥"[८८]

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में 'अध्यास' की परिभाषा दी है—'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' अथवा 'अन्यत्र अन्यधर्माध्यासः' अथवा 'विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रमः' अथवा 'विपरीतधर्मत्वकल्पना' अथवा 'अन्यस्य अन्यधर्मावभासता'।[८९] सारांश यह कि जिसका जो तात्त्विक धर्म है उसका आरोप न होकर किसी अन्य के धर्म का उसमें आरोप अथवा भ्रम होना 'अध्यास' है। रज्जु का तात्त्विक धर्म सर्प के तात्त्विक धर्म से भिन्न है अतः यदि सायंकाल रज्जु को देखकर सर्प की भ्रान्ति होती है तो वह अध्यास है। अध्यास ही का दूसरा नाम अविद्या है। 'तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते'।[९०] इसी का इतर नाम 'माया' है। मायावी परमात्मा ने 'माया' को स्वयं प्रसारित किया है किन्तु उससे संस्पृष्ट नहीं होता। ईश्वर जीव और जगत्—ये तीन अवस्थाएँ रज्जु में सर्प के समान आभास मात्र हैं। 'यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते अवस्तुत्वात् एवं

परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यत इति।[७१] किनाराम ने इसी शांकर मायावाद की ओर संकेत किया है जब वे कहते हैं कि 'पाँच प्राण' और 'पचीस प्रकृतियाँ' जीव तथा जगदीश—ये माया के संगम से हैं।[७२] उन्होंने पारिभाषिक शब्द 'उपाधि' का भी प्रयोग किया है और कहा है कि शरीर उसका सौन्दर्य और उसकी जवानी—ये सभी उपाधि-जन्य हैं। इनसे मुक्ति मिलने को समाधि कहते हैं।[७३] 'माया' और 'अविद्या' के पर्याय की ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं कि हमारा आत्मा अज्ञान के आवरण में उसी तरह छिप जाता है जिस तरह अन्धेरे घर में सूर्य की किरण अदृश्य बनी रहती है।[७४] जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं किन्तु उनमें भेद का कारण है—उपाधि अथवा माया। सोने के भिन्न भिन्न आभूषणों को अलग अलग मानना अर्थात् अभेद में भेद मानना उपाधि-जन्य है। उसी प्रकार हम स्वयं अपने कुटुम्ब की सृष्टि करके स्वयं उसमें भ्रम और भूल जाते हैं। यह भी उपाधि ही है।[७५] इसी सिलसिले में हम 'निरंजन' की ओर भी संकेत करेंगे जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। जिस प्रकार 'निरंजन' को प्रसंगवश 'काल' कहा है उसी प्रकार उसको 'मन' भी कहा गया है और मन तथा माया के परस्पर-सम्पर्क तथा संसर्ग को ध्वनित करने के लिए अनेकानेक पद गाये गये हैं। संत रामटहल राम ने कहा है कि 'मन माया के सकल पसारा।'[७६] टेकमनराम जो चम्पारन-शाखा के एक प्रसिद्ध सरभंग सन्त हो गये हैं प्रतीक भाषा का प्रयोग करते हुए लिखते हैं कि मन-रूपी 'रसिया अतिथि' आया है और उसके साथ में 'पाँच तथा पचीस' साथी हैं जो कि उसके आते समय पंखा झुलाते हैं।[७७] स्पष्टतः यहाँ 'पाँच' और 'पचीस' से तात्पर्य माया पंचतत्त्व और उसके प्रपंच से है।

सामान्यतः अर्थ में स्वयं 'माया' को अथवा 'मन' और 'माया' उभय को इस जगत् की सृष्टि और विस्तार का उत्तरदायी माना गया है। संसार में जितने भी भ्रम हैं जितने अनय और विपरीत व्यवहार हैं सभी मायाकृत हैं। जहाँ मन और माया के परस्पर सम्पर्क का वर्णन है वहाँ अनुमानतः मन सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया में पुरुष-शक्ति का प्रतीक है और माया नारी शक्ति का।[७८] टेकमन राम लिखते हैं कि देवी देवता मानव—जिनने माया की 'नोकरी' की वह यमराज के दरबार में 'बेगार' पकड़ा जायगा।[७९] ब्रह्मा को देखिए उनके यहाँ ब्रह्माणी हैं शिव के यहाँ भवानी। 'ठगनी योगिनियों' ने तीनों पुरों को 'सर' कर रखा है। पार्वती ने शिवजी को और कैकेयी ने दशरथ को मोह-पाश में बद्ध किया। सीता ने रावण को ऐसा छला कि उसकी सोने की लंका उजड़ गई राधा ने कृष्ण को मोहित किया और वृन्दावन में 'धमार' रचाया। ऋषि दुर्वासा भी माया के प्रभाव से वंचित नहीं रहे। माया ने ही सिंहलद्वीप की पद्मिनी के रूप में मत्स्येन्द्रनाथ को मुग्ध किया। आज गंगा के रूप में माया सारी दुनिया को धोखे में डाल रही है।[८०] निरंजन और माया के फंद में जो भी पड़ा वह कभी आत्म-ज्ञान की ओर अग्रसर नहीं हो सकता।[१] जीव के दो भेद माने जा सकते हैं—माया विवश और माया-रहित। प्रथम बद्ध है और दूसरा मुक्त है। माया विवश होने से विषय और असत्य में लीन होकर जीवात्मा ज्ञान से दूर भागता चला जाता है।[२] 'आनन्द' ने बताया है कि पाँच तत्त्वों का एक पिंजरा बना है उसमें जीवात्मा आबद्ध है उसमें आशा-तृष्णा

का किवाड़ लगा है और माया-मोह का ताला।[४८] जब सन्त को ज्ञान होता है तब उसे पश्चात्ताप होता है कि उसने सारा जीवन माया और मोह में बिता दिया। वह अनुभव करता है कि दुनिया की धन-दौलत किसी काम नहीं आयगी, जगत् का सारा व्यवहार झूठा है। अतः वह कहता है—"भूले में आय बेटा-बेटी घर-गृहस्थी, नैहर-ससुरार,[४९] मैं भगगुरु की सान बना रहा। न भजन किया न हरिनाम लिया।[५०] मुझे जानना चाहिए था कि मैं सत्यलोक का निवासी हूँ और मर्त्यलोक में भटक कर आ पड़ा हूँ, अतः पाप और मोह के नशे में उन्मत्त होना अनुचित है।[५१] आश्चर्य तो यह है कि बहुत कम ऐसे सन्त मिलते हैं जो सही राह बता दें। अधिकांश संख्या ऐसों की है जो स्वयं अन्धे हैं और संसारी जन भी स्वयं अन्धे हैं, जो उनके निर्देशन में पड़कर पथभ्रष्ट हो रहे हैं।[५२]

'आनन्द' ने माधुर्य के आवेश में अपने को परमात्मा की प्रियतमा मानकर माया को अपनी 'सौतिन' कहकर कोसा है। वे कहते हैं कि जब से 'माया' ने उनके प्रियतम को मोह-पाश में बाँधा तब से वह अभिमानिनी हो गयी; उसने ब्रह्मा, विष्णु और शिव तथा अन्य ऋषि-मुनियों को नागिन बनकर डँसा है। वे भक्तिन हैं और उनका 'पिया' भक्त-वत्सल है; परन्तु माया के व्यवधान के कारण सान्निध्य नहीं स्थापित हो पाता।[५३]

जहाँ भी दृष्टि डालिए, वहीं माया का बाजार लगा है।[५४] अलखानन्द की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :—

मायां के लागे बजार मेरे साधो।
नेकी-बदी के दोकान बना है
खरीदत मनुष हजार हजार मेरो साधो।[५५]

उस माया मोह की नगरी में सब कुछ झूठा है; झूठी है काया, झूठी है माया और झूठा है सम्पूर्ण संसार; माता पिता, भाई-बन्धु, कुल परिवार, कोट किला, परवार-गृहस्थी सब कुछ झूठा है। 'झूठे विधाता को सगरो व्योहार हो रामा।'[५६] भाई-बन्धु माता पिता सभी तभी तक अपने हैं जबतक स्वार्थ है। जिस दिन हंस पिंजड़े से उड़कर निकल जायगा उस दिन कोई उसका साथ न देगा।[५७] अन्त का साथी कोई न होगा।[५८] हम अपने शरीर के सौन्दर्य पर कितना गर्व करते हैं किन्तु यदि झुककर देखिए तो कामिनी के जिस कुच से हम प्यार करते हैं वह निरी मांस-ग्रन्थि है और उसका मुख कूप-जैसे अशुद्ध पदार्थ से परिपूरित है।[५९] हमें स्मरण रखना चाहिए कि "सारा मुलुक की मान।"[६०] किनाराम कहते हैं कि माता पिता, पति पत्नी, सगा-संगी ये सभी सम्बन्ध केवल मानने पर हैं अर्थात् निरे मानसिक भ्रम हैं। पारिभाषिक माया में ये उपाधि-जन्य तथा आभास-मात्र हैं। यह संसार मानो दो पैर की हाट है जहाँ शत-सहस्र जन आते जाते हैं और खरीद बिक्री करते हैं, कोई पाप खरीदता है तो कोई पुण्य।[६१] जिस तरह पीपल के पेड़ के पत्ते की पुतली हवा में डोलती रहती है वैसी ही डगमग हमारी दुनिया डोलती है, उसमें आस्था कैसी? माया के भ्रम में पड़े हुए जीव की तुलना के लिए सन्तों ने अनेकानेक उपमानों का प्रयोग किया है। जिस प्रकार भँवरा वन में पुष्प की

सुगन्धि के लिए चक्कर काटता है, जिस प्रकार मृग अपनी नाभि में ही अवस्थित कस्तूरी की गन्ध के लिए वन का कोना-कोना छानता है, जैसे बाजीगर का बन्दर उसका मनचाहा नाच नाचता रहता है, जिस प्रकार 'सुगना' 'सेमर' के सुन्दर फूल को फल समझकर उसमें व्यर्थ चोंच मारता है, ठीक उसी तरह माया के वश में पड़ा हुआ मानव तृष्णा और वासना के पीछे वृथा दौड़ता रहता है।[१५०]

आश्चर्य है कि सारा संसार माया के भ्रमजाल में पड़ा हुआ है, मानो उसके गले में 'उलटा फाँस' लगी हुई है।[१५१] वह अमृत छोड़कर वारुणी पीता है।[१५२] मानव को समझना चाहिए कि सुत, सम्पत्ति, स्त्री, भवन, भोग—ये सभी क्षणिक हैं। यह तो स्वप्नवत् पूर्ण चित्-स्वरूप ब्रह्म है, किन्तु मन के धोखे में उसी तरह पड़ा है जिस तरह मृग सूर्य की किरणों के प्रभाव से बालुकाराशि में जलधारा समझकर उससे प्यास मिटाने को दौड़ता है।[१५३] जिस समय संसारी नर माया की मदिरा से मस्त रहता है, उस समय वह अभिमान में इतना भूला और अपनी धन-दौलत के पसारे को देखकर इतना फूला रहता है कि उसे यह खबर नहीं रहती कि उसके सिर पर काल नाच रहा है।[१५४] काल ऐसा चोर साथ है कि वह अचानक डाका डालता है और अकेला नहीं, 'पाँच पचीस' चोरों के साथ।[१५५]

जब हमें ज्ञान होता है तब हमें यह याद आती है कि हमने अपने चिन्तामणि-जैसे जन्म को मोह-मद में 'गाफिल' होकर मिथ्या-अपवाद और शोक-बन्ध में गवाँ दिया।[१५६] हमने रामनाम की भक्ति को विस्मृत कर अपने को कनक, कामिनी और काल के पाश में आबद्ध कर लिया।[१५७] एक भक्त आत्म-परिताप के आवेग में गाते हैं कि—मैंने माया मोह में फँसकर भगवत् भजन नहीं किया, न दान-पुण्य किया और न दुर्जनों का संग छोड़कर सन्तों की संगति की। अब तो यह उम्र बीत चली; सिर धुन-धुन कर पछता रहा हूँ।[१५८] किनाराम की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

> धन धाम सगाई लागि गँवाई जन्म सिराइ नर धंध।
> भक्ति रंग दान मद के मात कौन दास तरा बंध॥
> यहि विधि दिन खोया बहु विधि रोया आप बिगोया तू अंध।
> किनाराम सम्हारै समय विचारै सतगुरु लाया मन रंग॥[१५९]

और आनन्द की ये दो गजल—

> १ दुनिया में लक्ष आय थे हम लाख बना धन।
> मुट्ठी में बाँध लाय थे जो कुछ गया चल॥
> २ महला महल बनाया कहाँ मान के लिए।
> पर आखिरत को गोर में लेकिन मिला महल॥[१६०]

३ शरीर, मन और इन्द्रियाँ

मायामय संसार की असारता की ही उपपत्ति है—शरीर की क्षणभंगुरता। इस शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ और अन्तःकरण है। अन्तःकरण के चार अंग हैं—मन बुद्धि चित्त और अहंकार।[111] मन में हृदय का वास है क्योंकि सभी इन्द्रियों को प्रकाशित करता है।[112] शिवनारायण ने इस विषय का और विश्लेषण करते हुए बताया है कि मन का आधार प्राण है प्राण का आधार श्वास है, श्वास का आधार शब्द-ब्रह्म और ब्रह्म का आधार सहज-स्वरूप।[113] ब्रह्म नित्य तथा अनश्वर है; किन्तु शरीर अनित्य एवं नश्वर। शरीर की स्थिरता उतनी ही क्षणिक है जितनी ओस की बूँद। जबतक यह शरीर कायम है तबतक भाई भतीजा बेटा-नाती हिलमिलकर प्रेम करते हैं। जब यमराज का प्यादा आयगा तब सब कोई खाली पीटते रह जायेंगे, प्राण निकल जायगा और शरीर मिट्टी में मिल जायगा।[114] संसार की असारता और शरीर की नश्वरता को ध्यान में रखते हुए हमें तन यौवन और सौन्दर्य के अभिमान में मत्त नहीं होना चाहिए, और न 'मोर तोर' के टटे बखेड़े में पड़ना चाहिए।[115] हमें यह स्मरण होना चाहिए कि हमारा अल्पकालीन जीवन 'दिन-रैन' 'पल-पल' 'छिन छिन' घटता चला जा रहा है। जब कभी सुधि आ जाय तभी से चेत जाना चाहिए। यदि ऐसा नहीं हुआ तो हमारा जन्म व्यर्थ में नष्ट हो जायगा। उद्धार का एकमात्र मार्ग है—सत्संग और भगवद्भजन। मनुष्य को सदा यह सोचना चाहिए कि मृत्यु उसकी चोटी पकड़े हुई है। काल बाज के समान है और हमारा शरीर लावा पक्षी के समान जो एक झपट में विनष्ट हो जायगा।[116] हमारी आयु बिजली की चमक के समान अचिर प्रभ है कभी आलोकित और कभी अन्धकारमय। जिन जिन ने अपने शरीर और धन-यौवन पर गर्व किया वे सब-के-सब धूल में मिल गये। एक सन्त ने एक पद में शरीर की अस्थिरता का सुन्दर चित्र खींचा है। अभी अभी यह शिशु ठुमुक-ठुमुक चाल चलकर और तुतली बोली बोलकर माता पिता को स्वर्ग-सा सुख दे रहा था कभी रूठता था तो कभी खिलखिलाकर हँसता था; कभी सखा संगियों के साथ खाता था तो कभी माँ से स्वयं खाने के लिए दही माँगता था। यदि खेलते समय शरीर में धूल लिपट गई तो माँ उसे तुरत झाड़कर शरीर को साफ कर देती थी। किन्तु हाय री नियति! वही सोने का सा सुन्दर गौर शरीर क्षण ही बाद मरघट में लोटने लगा और कौए तथा गृध्र उससे मांस नोच-नोच कर खाने लगे।[117] शरीर एक पचरंगा पिंजरा (पंच-तत्त्व निर्मित) है जिसकी सार्थकता तभी तक है जबतक उसमें 'सुगना' विद्यमान है। जब यह सुगना दसो दरवाजे (इन्द्रियाँ) बन्द होते हुए भी एक दिन उड़ जायगा तब पिंजरा निरर्थक हो जायगा। शरीर की परिवर्तनशीलता को देखकर भी लोगों को सुधि होनी चाहिए, क्योंकि यह चार अवस्थाओं से होकर गुजरता है—बाल्यकाल, किशोरावस्था यौवन और वृद्धत्व। जब वृद्धावस्था आती है और तन काँपने तथा त्वचा झूलने लगती है तब पश्चात्ताप होता है और हमको यह ध्यान आता है कि संसार का मिलन वियोग बाजार-हाट के मिलने बिछुड़ने-जैसा है।

और घन जन मकान क्षीण होने के लिए ही संचित होते हैं। 'आनन्द' ने एक गजल में लिखा है कि

दुनिया को एक सराय, समझते रहे सदा।
एक रात रहके सुबह को बिस्तर उठा चले॥[१४]

एक दूसरी गजल में 'आनन्द' ने लिखा है कि हमलोगों के इस शरीर में एक निरन्तर होली जल रही है काया की लकड़ी में तृष्णा की आग धधक रही है।[१५] इससे बचने का एकमात्र साधन है—भगवद्भक्ति द्वारा आन्तरिक शान्ति की प्राप्ति और कच्ची मिट्टी के खिलाने जैसे शरीर के प्रति अनास्था।[१२] अपने बच्चे के सुन्दर कोमल मुखड़े को माता चूमती है और उसको जाड़े की ठंढ और गर्मी की धूप से बचाती है किन्तु अचानक जब काल उसको कवलित कर लेता है तो माता रोती-कलपती रह जाती है और उसे चिता पर जला दिया जाता है।[१३] यदि इसपर भी विराग भावना न उत्पन्न हो तो आश्चर्य ही है। सन्त कबीरदास ने कल्पना की है कि जब शिशु माता के गर्भ में उलटा लटका रहता है तो मानो भगवान से पश्चात्तापपूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि—जब मैं वसुधा में जन्म लूँगा तो भगवान की भक्ति करूँगा किन्तु जब उसका जन्म होता है तो उस प्रतिज्ञा को भूल जाता है बचपन को खेल-कूद में और तारुण्य को भोग विलास में बिता देता है 'नात-बात' के बन्धन में पड़कर काम-क्रोध आदि इन्द्रिय जन्य वासनाओं में फँसकर अपना हीरे-का-सा मानव-जीवन व्यर्थ गँवा देता है।[१२१] यदि उसे शरीर की नश्वरता और इन्द्रियों की वासनाओं की हेयता का ध्यान होता तो ऐसा नहीं करता।

'आनन्द' ने एक सुन्दर कथानक में शरीर की उपमा चन्दन के बागीचे से दी है। 'एक बार एक राजा जंगल में निकल गया। उसको वहाँ प्यास लगी। एक आदमी भेड़ें चरा रहा था। उसने पानी माँगा। उसने बड़े आदर से राजा पानी खींचकर पिलाया। राजा उसे अपनी राजधानी में ले गया और एक चन्दन का बाग उसको दिया कि उसकी रखवाली करे। उसका वेतन भी निश्चित कर दिया। रहते-रहते इस आदमी को लालच ने आ घेरा। वेतन में से परवालों के वास्ते कुछ बचाने के विचार से वह चन्दन की लकड़ी काट-काटकर मामूली लकड़ी के समान बेचने लगा। कुछ दिन बाद राजा बाग देखने गया और उसे उजाड़ पाकर दुःखी हुआ। उससे पूछा तो उसने सारा हाल कहा। राजा ने एक छोटी सी डाल जो पड़ी थी उसे देखकर कहा कि इसको पंसारी की दूकान पर ले जा। वह ( ) लेकर आया और राजा के सामने रख दिया। तब राजा ने कहा 'मूर्ख देखा हजारों का माल तूने मुफ्त बेच डाला। वह बहुत पछताने लगा और उस दिन से बागीचे की सेवा में लग गया। मर्मज्ञियो! चन्दन का बाग यह तुम्हारा शरीर है। भगवान ने तुम्हें इस लिया है कि इससे कमाओ, लाओ परमार्थ और भजन करो। पर तुमने काम क्रोध लोभ आदि के वश में होकर इसे नष्ट कर डाला। अब भी बचो यह बहुमूल्य वस्तु है।[७३]

कबीर आदि सन्तों ने मूलतः सांख्य से ही पंचतत्त्वों, दश इन्द्रियों तथा मन बुद्धि आदि के सिद्धान्त को ग्रहण किया है; किन्तु कालक्रम से इस मूलभूत सृष्टि सिद्धांत में बहुत परिवर्तन आ गए हैं। भिन्न भिन्न पुराणों ने इस मूल सिद्धांत को देवी-देवताओं के चरितों के साथ मिलाकर विविध रूपों में पल्लवित तथा संवर्द्धित किया है। उदाहरणतः सृष्टि का निर्माण ब्रह्मा का, उसकी रक्षा विष्णु का और विनाश शिव का उत्तरदायित्व है। इस प्रकार की कल्पना पुराणों तथा धार्मिक ग्रन्थों में बद्धमूल हो गई है। भगवद्गीता के चौदहवें अध्याय में पुरुष प्रकृति के संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति का कथन करते हुए प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों का जीवात्मा के ऊपर जो प्रभाव है उसका विस्तृत विवरण दिया गया है। उदाहरणतः यह कहा गया है कि सत्त्वगुण की वृद्धि से अंतःकरण और इन्द्रियों में चेतनता और बोध शक्ति उत्पन्न होती है; रजोगुण की वृद्धि से लोभ, सांसारिकता, कर्मारम्भ, अशान्ति तथा लालसा की उत्पत्ति होती है और तमोगुण की वृद्धि से अन्तःकरण और इन्द्रियों में अन्धकार, कर्तव्य में आलस्य, व्यर्थ चेष्टा और मोह उत्पन्न होते हैं।[६३]

कबीर से लेकर भिनाराम तक निर्गुणवादी संतों ने पंचतत्त्व को आधार मानकर अपने उपरि निर्दिष्ट सिद्धांतों तथा मन्तव्यों को ध्यान में रखकर सृष्टि के विकास की ऐसी व्याख्या की है जिसमें कुछ उनकी मौलिकता भी रहे और साथ ही-साथ निर्गुणवाद को भी बल मिले। भिनाराम ने अपने प्रमुख ग्रन्थ 'विवेकसार' में पाँच तत्त्वों और तीन गुणों का भेद बताते हुए 'श्रुतिपुराण सब शास्त्र को समान सार' सिद्धान्त रूप सृष्टि के विकास की रूप-रेखा दी है। प्रारम्भ में सत्पुरुष रूप-रेखा अथवा नाम-रूप से रहित अलक्ष्य अवस्था में विद्यमान थे। फिर अपनी ही इच्छा से एक शब्द का विस्फोट हुआ जिससे तीन पुरुष अथवा ब्रह्मा विष्णु और महेश तथा एक नारी उत्पन्न हुई। तब क्षिति, पावक, पवन और जल की भी रचना हुई और जगत् का विस्तार आरम्भ हुआ। नारी-रूपी आदिशक्ति ने इच्छानुसार इच्छा, क्रिया तथा शक्ति का रूप धारण कर और पाँच तत्त्वों तथा तीन गुणों का सहारा लेकर ब्रह्मा विष्णु और महेश की संगति से सृष्टि के निर्माण पालन और संहार की व्यवस्था की।[६४]

इस प्रसंग में हम संतमत के उस मुख्य सिद्धांत की चर्चा करेंगे जिसे पारिभाषिक शब्दावली में काया-परिचय कहा जाता है। इस सिद्धान्त का सारांश यह है कि यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे। यह विषय समस्त संत-साहित्य ग्रन्थों में विस्तार से वर्णित है। [illegible] इस सिद्धांत को [illegible] हठयोग [illegible] [illegible]

अपने-आप से जुड़ गया। जो परतन्त्र था वह स्वतन्त्र हो गया। पिण्ड अर्थात् अपनी ही काया में ब्रह्माण्ड की झाँकी इसी स्वतन्त्रता की प्रतीक है। चाहे वह ध्यानयोगी हो या कर्मयोगी जबतक वह बाह्य जगत् से हटकर अपने या अपने आराध्य देव में विश्व रूप का दर्शन नहीं करता तबतक मोह से उसकी निवृत्ति नहीं होती। भगवद्गीता के एकादश अध्याय में इसी विश्वरूप-दर्शन के द्वारा भगवान् कृष्ण ने अर्जुन का मोह निवारण किया। भगवान् कृष्ण कहते हैं—'यहाँ मेरे इस शरीर में एक जगह बैठे हुए तुम निखिल जगत् को देखो।'[१४] किन्तु इस विभूति को अर्जुन अपनी सामान्य आँखों से नहीं देख सकते थे। अतः भगवान् ने उन्हें 'दिव्य चक्षु' या दिव्य दृष्टि प्रदान की।[१५] साधक योगी अपनी साधना के द्वारा दिव्य दृष्टि-लाभ करते हैं और अपने पिण्ड में ब्रह्माण्ड का दर्शन करके स्वतन्त्र-स्वतन्त्र अथवा मुक्त हो जाते हैं।

किनाराम ने पिण्ड-ब्रह्माण्ड की एकता का जिस रूप में प्रतिपादन किया है उसका सारांश दिया जाता है—गणेश ब्रह्मा विष्णु महेश सुमेरु गिरि, सप्तर्षि सूर्य चन्द्र सभी लोक स्वर्ग नरक अपवर्ग गंगा, अड़सठ तीर्थ दश दिक्पाल, कालकाल समुद्र चार वेद पवन 'उनचास कोटि जग त्रिवेणी कैलाश सुर, मुनि नव नक्षत्र, सप्तपाताल शेषनाग वरुण कुबेर, इन्द्र अष्टसिद्धि, नवनिधि, देश-देशान्तर, मंत्र-यंत्र अनन्तदेव विद्या अविद्या मन बुद्धि चित्त और अहंकार, ज्ञानेन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ 'पाँच प्राण' और 'पचीस प्रकृतियाँ' माया-सहित जीव और जगदीश, अवतार, समग्र ब्रह्माण्ड जो पाँच तत्वों और तीन गुणों से बना है—सब कुछ आप पिण्ड में देख सकते हैं। इस पिण्ड अथवा शरीर में दश द्वार हैं और यह मन के अधिकार में है जिसे ज्ञान विराग और विवेक है वह मन की प्रबलता को जीतकर अपने-आपमें अनाहत नाद अथवा शब्द-ब्रह्म की मधुर ध्वनि को पा सकता है।[१६]

एक दूसरे प्रसंग में किनाराम ने ब्रह्मा विष्णु महेश आदि देवों के 'उद्भव' का अपने ढंग से विवरण दिया है। इनकी उत्पत्ति निरंजन से बताई गई है। निरंजन से शिव हुए, शिव से काल काल से शून्य की दिव्य ज्योति। उसी दिव्य ज्योति की प्राप्ति से अविनाशी शिव प्रगट होते हैं जो निरंजन-जनित शिव अर्थात् जीव को अपने-आपमें विलीन कर अभिन्न बना देते हैं।[१७] भिन्न भिन्न सन्तों ने सृष्टि के विभिन्न जीवों तथा पदार्थों के विकास का चित्र प्रस्तुत किया है किन्तु सबमें हम इस मूल कल्पना का प्रतिपादन पायेंगे कि सृष्टि की अव्यक्तावस्था में एकमात्र सत्पुरुष थे। उनको इच्छा हुई कि एक से बहुत हों। इच्छा के फलस्वरूप ब्रह्मा विष्णु महेश इन तीन देवताओं और आदि भवानी या माया शक्ति की सृष्टि हुई। इन्हीं से विराट विश्व-प्रपंच विकसित हुआ। उपनिषदों में भी कहा है—'तदैक्षत बहु स्याम प्रजायेय' अर्थात् निर्विकल्प ब्रह्म ने अपने चारों ओर देखा और सविकल्प रूप होकर यह कामना की कि मैं एक से अनेक होऊँ। यही बीज है—उत्तरवर्ती समस्त सन्त-साहित्य के सृष्टि विधान का।

सन्तों ने सृष्टि के मूल पाँच तत्वों के आधार पर प्रत्येक तत्व से उत्पन्न पाँच-पाँच विकृतियाँ (जिन्हें संत-साहित्य में स्वभाववाले अर्थ को ध्यान में रखते हुए 'प्रकृतियाँ'

कहा गया है) का निरूपण किया है। एक तालिका द्वारा इसको विवृत किया जाता है[१४९]—

स्तम्भ १	२	३	४	५	६	७
तत्त्व	उनका निवास स्थान	उनका रंग	उनमें से प्रत्येक की पाँच-पाँच प्रकृतियाँ	तत्त्वों के अनुरूप इन्द्रियाँ	ज्ञानेन्द्रियों के विषय	तत्त्वों के अनुरूप गुण
अग्नि	पित्त	काला	आलस्य तृष्णा निद्रा, भूख तेज	नेत्र	काम मोह	रजस्
पवन	नाभि	हरा	चलन, गान बल संकोच विवाद	नासिका	गंध सुगंध	तमस्
पृथ्वी	हृदय	पीला	अस्थि मज्जा रोम त्वचा नाड़ी	मुख	मोहन आचमन	सत्त्व
नीर	नाल (कपाल)	लाल	रक्त, वीर्य पित्त लार, पसीना	जिह्वा और जननेन्द्रिय	मैथुन स्वाद	—
आकाश	मस्तक	उजला	क्रोध मोह शंका डर, लज्जा	कान	शब्द, कुशब्द	—

जो मानव पिण्ड में ब्रह्माण्ड के साक्षात्कार की दिशा में आगे नहीं बढ़ते, वे त्रिगुणात्मक मायामय शरीर और उसकी वासनाओं में पड़कर पापाचरण में निरत होते हैं। परिणाम यह होता है कि नरक के अधिष्ठातृ देवता यमराज के शिकार बनते हैं और 'चौरासी लाख' योनियों में भटकते हैं तथा अनेकानेक यंत्रणाएँ सहते हैं।[१५०] जब यमराज का प्यादा पहुँचता है तो उसे यमलोक में ले जाता है और बाँध कर 'मुगरू' चला देता है 'मुगरी' से पीटता है और अपने किये हुए पाप-पुण्य की याद दिलाता है।[१५१] वहाँ उसे विष्ठा मूत्र रुधिर में डाल देता है और वहाँ भी मार लगती है।[१५२] इसलिए मनुष्य को कभी निश्चिन्त नहीं बैठना चाहिए, क्योंकि क्या पता कब यमराज बुलावा देकर बाँध देगा और पलक बचाकर मारना शुरू करेगा।[१५३]

इन वचनों से यह स्पष्ट है कि जीवों का भिन्न भिन्न जन्म-ग्रहण करना उनके पूर्व जन्म के कर्मों का फल है। जो अधिक पापाचरण में लिप्त रहता है उसका किया हुआ जो कुछ थोड़ा-सा पुण्य रहता है वह भी क्षीण हो जाता है। यदि इस जन्म में हम मानव हैं और हमें धन-सम्पत्ति मिली है तो समझना चाहिए कि यह पूर्व जन्म की कमाई है।[१५४] यदि इस जन्म में हमने अच्छी कमाई नहीं की और सद्गुरु की कृपा पाकर अपने आत्मा को नहीं पहचाना तो निश्चय ही हम अपने दुष्कर्म के प्रभाव से जन्म-मरण के चक्र बन्धन में पड़े भटकते और यम की यंत्रणाएँ सहते रहेंगे।[१५५]

५ ज्ञान, भक्ति और प्रेम

निरे तर्क तथा असंगति-परिहार के आधार पर जो अद्वैत मत है वह भावना के आधार पर द्वैत विशिष्ट बनकर भक्त तथा भगवान् का द्विधा-रूप धारण कर लेता है। भक्ति-पथ के पथिकों का मत है कि निरे शास्त्रीय ज्ञान से परमात्मा की प्राप्ति सम्भव नहीं निरे तर्क के माध्यम से हम द्वैभी भाव से ऊपर उठकर भगवान् के साथ तादात्म्य अथवा अति सान्निध्य नहीं प्राप्त कर सकते। 'कठोपनिषत्' में 'नचिकेता' एक सच्चे जिज्ञासु तथा भक्त के रूप में चित्रित किया गया है। अतः सर्वप्रथम गुरु को उसमें लक्षित हुआ था वह था श्रद्धा।[१४] नचिकेता मृत्युदेव के यहाँ जाता है और उनसे अध्यात्म के अनेक प्रश्न करता है। वह यह जानना चाहता है कि मृत्यु का रहस्य क्या है और 'साम्पराय' (इतर लोक) की क्या विशेषता है। इसपर मृत्युदेवता जो सर्वप्रथम बात उसे बतलाते हैं वह यह है कि 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'[१५] अर्थात् जिस मति अथवा अनुभूति की आकांक्षा नचिकेता करता था वह तर्क के द्वारा सम्भव नहीं है। निर्गुण-परम्परा के सन्तों ने भी कभी निरे शास्त्रीय ज्ञान में अपनी आस्था नहीं दिखाई है; बल्कि ऐसा कहा जा सकता है कि उन्होंने भक्ति विरहित शास्त्रीय ज्ञान की निन्दा की है। कबीरदास की निम्नलिखित पंक्तियों पर ध्यान दें—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ
पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का
पढ़ै सो पंडित होय॥

अथवा

वेद पुराण पढ़त अस पाँड़े
खर चंदन जैसे भारा।
राम नाम तत समझत नाहीं
अन्ति पड़े मुख छारा॥

तात्पर्य यह कि जिस व्यक्ति में प्रेम नहीं भक्ति नहीं उसके मस्तिष्क में संचित शास्त्रीय ज्ञान उसी प्रकार निरर्थक है जिस प्रकार गदहे की पीठ पर लदी हुई चन्दन की लकड़ी।

गोविन्दराम ने लिखा है कि यदि कोई वेद शास्त्र और भागवत पढ़ता हो किन्तु उसमें अहिंसादि सदाचार और भक्ति भावना न हो तो उसे यमराज के बन्धन में आबद्ध होना पड़ेगा।[१६] नारायणदास लिखते हैं कि काजी और मौलवी पढ़ते हैं और पढ़ते हैं विद्यालय में लड़के भी किन्तु योग-साधना के पथिक को पढ़ने लिखने से क्या प्रयोजन? वह तो अपने आराध्य देव के प्रेम में मतवाला है।[१७] किनाराम बताते हैं कि चाहे मानव ज्ञानी पंडित और रूप-गुण सम्पन्न क्यों न हो उसके चतुर तथा गुणी सुपुत्र क्यों न हो

उनके घर-बाहर बुद्धिमान व्यक्तियों का जमघट क्यों न हो उनकी अत्यन्त स्नेह करनेवाली नागरी नारी क्यों न हो ये सब खोटे स्वांग मात्र हैं यदि वह हरिनाम-जपन से विमुख है।[१६०] ज्ञान और भक्ति का समन्वय हो तो सोने में सुगन्ध हो जाय ज्ञानी और साथ ही भक्त मनुष्य की तुलना उस कमल से की जा सकती है जो एक तो अत्यंत निर्मल जल में विकसित है और दूसरे मनमोहक रंग से रंजित है।[१६१]

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि शास्त्रीय ज्ञान इतनी निकृष्ट वस्तु है तो फिर सन्तों ने बार-बार ज्ञान-रूपी खड्ग के द्वारा लोभ मोहादि शत्रुओं के विनाश की चर्चा क्यों की है?[१६२] उत्तर यह होगा कि सन्तों ने 'ज्ञान' शब्द का व्यवहार निरे पुस्तकीय पांडित्य के अर्थ में कभी नहीं किया है। हम ऐसा कह सकते हैं कि सन्त बिना ग्रन्थ पढ़े भी ज्ञानी हो सकता है। यदि उससे सुख-दुःख मान अपमान ऊँच-नीच सम्पत्ति विपत्ति आदि की द्विविधा दूर हो गई तो वह ज्ञानी हो गया भले ही उसने किसी ग्रन्थ का अध्ययन न किया हो। हमने पिछले परिच्छेदों में बताया है कि माया का ही नाम अविद्या तथा अज्ञान है। जिस दिन संत या साधक ने माया के आवरण को अपनी आत्मा से उतारकर फेंक दिया उसी दिन वह ज्ञानी हो गया। ऐसा सम्भव है कि महान् शास्त्रज्ञ पंडित माया और अविद्या के बन्धनों में पड़ा भटकता रहे और मोक्ष का अधिकारी न बने। इसके विपरीत अपढ़ व्यक्ति भी यदि तप साधना तथा सत्संग द्वारा अपने आचार को शुद्ध कर सका और परम तत्व अर्थात् परम सत्य की खोज में मस्त पड़ा तो वह ज्ञानी कहा जायगा। इस दृष्टि से हम 'शिक्षा' और 'ज्ञान' में अन्तर मान सकते हैं। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति ज्ञानी नहीं है और प्रत्येक ज्ञानी व्यक्ति शिक्षित भी नहीं है। सन्तों के इस ज्ञान को जो साक्षरता तथा शिक्षा से उत्कृष्ट तथा परे है 'अनुभूति' या 'अनुभव' की संज्ञा दी गई है। किन्हीं प्रसंगों में इसे विवेक भी कहा गया है और ज्ञान से श्रेष्ठ बताया गया है। किनाराम के निम्नलिखित पद्य में हम इसी अर्थ में 'अनुभव' का प्रयोग पाते हैं।

दिल की दुरमति टरि गई
भई राम सों नेह।
रामकिना अनुभी भया
मिट गयो सबै सँदेह॥[१६३]

एक दूसरे पद्य में टेकमनराम लिखते हैं कि जो भजन करे वह मेरा चेला है जो 'ज्ञान' पढ़े वह मेरा साथी है और जो 'रहनी' रहे वह मेरा गुरु है, क्योंकि मैं रहनी का साथी हूँ।[१६४] इस पद्य का आशय यह है कि ज्ञान से बढ़कर भजन है और भजन से बढ़कर 'रहनी' अर्थात् उचित आचार विचार। वस्तुतः संतों के 'ज्ञान' में भजन और रहनी दोनों ही समाविष्ट हैं। इस प्रसंग में हम पाश्चात्य दार्शनिक बर्गसों (Borgson) की चर्चा कर सकते हैं। उसने बुद्धि (Intelligenco) और अनुभूति (Intuition) का सुन्दर विश्लेषण किया है और यह प्रतिपादित किया है कि अनुभूति बुद्धि अथवा तर्क साध्य ज्ञान से श्रेष्ठ है। जबतक हम बुद्धि के स्तर पर रहेंगे, तबतक पक्ष विपक्ष के

हित का अतिक्रमण नहीं कर सकते क्योंकि तर्क के विकास-क्रम में हम मण्डन (Thesis) और खण्डन (Anti thesis) के ही माध्यम से सिद्धान्त (Synthesis) पर पहुँचने की चेष्टा करते हैं। अतः हम सदा पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष के चक्र में पड़े रहते हैं। किन्तु अनुभूति में हम उस अवस्था को प्राप्त करते हैं जिसमें तर्क वितर्क का अवकाश नहीं है, जिसमें सत्य-तत्त्व विद्युत्-प्रकाश के समान हृदय और मस्तिष्क को आपातत: तथा एक साथ ही आलोकित कर देता है। महात्मा बुद्ध अथवा महात्मा गांधी जिन्हें हम अलौकिक तथा असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न कहते हैं—बुद्धि से भूषित अवश्य थे किन्तु उससे भी अधिक वे अनुभूति की विभूति से सम्पन्न थे। जिस प्रकार एक निपुण गणितज्ञ बड़े-बड़े गणित के प्रश्नों को बिना प्रक्रियाओं (Processes) के सहारे क्षण-भर में हल कर देता है मानो हठात् उसे कोई आलोक-पुञ्ज मिल गया हो, उसी प्रकार पहुँचे हुए सन्त तथा उत्कट त्यागनिष्ठ कर्मयोगी में एक लोकोत्तर शक्ति आ जाती है जिसके द्वारा वह बिना पूर्व पक्ष के विवेचन के ही मानो किसी दिव्य अन्तर्ज्योति के बल पर सत्य-तत्त्व को पा लेता है।

६

उपर्युक्त अलौकिक शक्ति अथवा विभूति एक दो दिन में अर्जित नहीं की जा सकती वह तो दीर्घकालीन सतत साधना के द्वारा ही मिल सकती है। इस साधना के निमित्त श्रद्धा तथा प्रेम की नितान्त आवश्यकता है। चम्पारन के एक सरभंग सन्त ने भक्ति मार्ग के दश सोपान वर्णित किये हैं—श्रद्धा सत्संग भजन विषय विराग निष्ठा अथवा रुचि ध्यान नाम में रसिकता भावना प्रेम की पूर्णता तथा भगवान का साक्षात्कार।[१८५] समग्र अघोर-मत अथवा सरभंग-मत के सन्त-साहित्य में प्रेम की महिमा गाई गई है। प्रेम की 'गैल' अथवा राह सबसे न्यारी है। उसमें वही जाता है जो राम-नाम का धनी है जिसने काम क्रोधादि विषयों को मन से निकाल दिया है जिसे जीवन और मरण का भय नहीं है जिसने शास्त्रीय ज्ञान की निरर्थकता समझ ली है और अपने आचार, कर्त्तव्य तथा सत्संग को उससे अधिक आवश्यक माना है। प्रेम की 'अटपटी' राह पर सद्गुरु के निर्देशानुसार चलने से मनुष्य को अनुभूति की प्राप्ति होती है और अंधकार-प्रकाश के बीच की रेखा दीख पड़ती है।[१८६] जिस व्यक्ति के हृदय में प्रेम का समावेश नहीं, वह कितना भी जप तप योग विराग करे वे सब उसी तरह निष्फल जायेंगे जैसे किसी वस्त्र विहीन या कुरूप युवती के अंगों में सुन्दर आभूषण।[१८७] ईश्वर से प्रेम होने के लिए दृढ़-संकल्प की नितान्त आवश्यकता है। जब भक्ति के मार्ग में साधक आगे बढ़ता है तब उसके चारों ओर दुश्मनों का जत्था चलता है। नारी अपनी चंचलता से उसपर जादू डालती है माज शृंगार करके और सुरंग चोली पहनकर राह में धूम मचाती है म्यारह मोगह और पाँच मल्लियाँ (पंचतत्त्व इन्द्रियाँ तथा उनकी वासनाएँ) घेरकर खड़ी हो जाती हैं और मनुष्य नेत्रों से देखने लगती हैं साधक अकेला जूझता है और लाल लंगता है तमाम अस्त्र शस्त्र टूट-फूट जाते हैं और ऐसा प्रतीत होता है मानो वह पराजित होकर शत्रुओं के बन्धन में पड़ जायगा किन्तु गुरु का उपदेश उसके निस्सार हृदय में आस्था

का संचार करता है उसकी इच्छाशक्ति दृढ़तर हो जाती है और वह ज्ञान तथा विवेक की गदा उठाकर अपने शत्रुओं के चक्रव्यूह को छिन्न भिन्न कर देता है।[९८]

ईश्वर प्रेम को दृढ़ तथा स्थिर करने के लिए नाम भजन की अनिवार्य आवश्यकता है राम-नाम की महिमा अगम है। किनाराम कहते हैं कि हाथी घोड़ा आदि तथा लाखों और करोड़ों की दौलत क्यों न हो दौलतमन्द व्यक्ति वैभव तथा सम्पदा में क्यों न नाचता हो उसके अनेक दास-दासियाँ और सेनाएँ क्यों न हों; किन्तु यदि उसका हृदय कच्चा है और उसे राम-नाम-रूपी धन नहीं है, तो उपर्युक्त समस्त सम्पत्ति व्यर्थ तथा नकली है।[९९] इसलिए भक्त 'महादेव' कहते हैं—

कमा लो जहाँ तक बने नाम धन यूँ
जमा होती है यह रकम धीरे-धीरे ॥[१००]

निरन्तर राम-नाम रटने से चित्तवृत्ति निरोध में सहायता मिलती है और मन में 'मगन' होने का अभ्यास बढ़ता है।[१०१] राम-नाम और सत्संग—इनको भक्ति-मार्ग के सभी साधना में श्रेष्ठ बताया गया है।[१०२] किनाराम भक्तों से कहते हैं कि तुम हरिनाम की खेती करो यह एक ऐसी खेती है जिसमें न कौड़ी लगे न हराम मगर नफा बहुत हो अपने शरीर का बैल बनाओ 'सुरति' को हलवाहा और गुरु ज्ञान को 'भरई' बनाओ; इस प्रकार सुसज्जित होकर 'ऊँच-खाल' सब जमीन जोतो सच्चे किसान की खेती की यही रीति है।[१०३] भीखमराम कहते हैं कि यह दुनिया काल का 'चबेना' है यह बूढ़े जवान सबको खा जाता है। नाम ही एक ऐसा आधार है जो पानी के बुलबुले के सदृश इस क्षणिक संसार में हमारी रक्षा कर सकता है।[१०४] हम इस दुनिया में मानो अथाह सागर में डूब रहे हैं; न नाव दीख पड़ती है न बेड़ा; न केवट न 'करुआर'। ऐसी विषम स्थिति में यदि कोई पार लगा सकता है तो हरिगुण-गान।[१०५] जो राम-नाम का भजन नहीं करता है उसे एक-न-एक दिन यमराज अचानक 'फतहत' देकर पछाड़-पछाड़कर मारेगा। अतः मानव के लिए आवश्यक है कि वह 'चारो पहर चौंसठो घड़ी सावधान बना रहे और नाम का चश्मा पहनकर देखता रहे कि भूल से ऐसा काम न हो जाय जिससे पछताना पड़े।[१०६] निर्गुणवादी सन्तों ने नाम के माहात्म्य-वर्णन के सिलसिले में उन भक्तों के उदाहरणों को उद्धृत किया है जिनकी चर्चा सूर-तुलसी-जैसे सगुणभक्त सन्तों की रचनाओं में मिलती है। टेकमनराम ने याद दिलाई है कि अनेकानेक भक्त नाम के प्रभाव से उबर गये गज ग्राह के संकटों से मुक्त हुआ प्रह्लाद, विभीषण जटायु, अजामिल द्रौपदी सब के सब नाम के सहारे महान् संकट से निस्तार पा सके। कोई भी भक्त यदि भगवान् की पुकार करता है तो वे उसको अपनी शरण में ले लेते हैं।[१०७] भक्त हनीफ ने नारद कागभुशुण्डि पीपा ऊधो वाल्मीकि गणिका अजामिल, गिद्ध सबरी (शबरी) नानक कबीर सूर तुलसी रामानुज रामानन्द सदन दादू मीरा रैदास मीरा वामन देवी कालूराम (किनाराम के गुरु) किनाराम जयनारायण 'आनन्द' आदि का नाम लेते हुए बताया है कि वे नाम की महान् महिमा से तर गये।[१०८] बाबा टेढ़ा राम हलधी रंगराम और 'भग

बनाने से कुछ नहीं होगा जबतक राम की याद न की जाय।[४१] भक्तिन भगवती कहती हैं कि मसजिद में जाकर 'सिजदा' करने से और उठ-बैठकर नमाज पढ़ने से कोई लाभ नहीं है, ऐसे सिजदे और नमाज को सलाम करना चाहिए।

'भगवती चाहते हो गर 'आनन्द'
बैठकर चुपके राम-राम कहो।[४२]

नाम भजन से आनन्द मिलता है—यह अकथनीय है। हम उसका आस्वादन उसी प्रकार तल्लीनता के साथ करते हैं जिसके साथ गूँगा गुड़ का।[४३] इस क्षणभंगुर परिवर्तनशील जगत् में सुख-सम्पत्ति केवल चार दिनों की है और हित मित्र कुटुम्ब कोई भी काम आने का नहीं। अतः हरि का नाम लेना चाहिए, इससे चित्त की स्थिरता प्राप्त होगी।[४२] एक सन्त ने बताया है कि सामान्य जन भी थोड़ी-सी चेष्टा से राम-नाम के अधिकारी हो सकते हैं यदि वे 'समहद' और 'अनहद' के बीच के मार्ग का आश्रय लें। यहाँ 'समहद' का विषय-वासना से और 'अनहद' का ध्यानयोग या लययोग से अभिप्राय है।[४३] भक्तिन भगवती ने राम-रंग की होली का वर्णन किया है। वे कहती हैं कि राम के रंग में अपने कपड़े रँग लो, सत्संग के जल में उसे 'पखार निखार' कर सुन्दर बना लो नाम का 'बुक्का' या अबीर उड़ाओ प्रेम का गुलाल और सुरति का कुंकुम भर के गुरु-चरणों के बीच 'ताक-ताक कर' मारो। यदि 'कबीरा' गाना चाहते हो तो राम-राम सियाराम पुकारो। लोगों से मिलना-जुलना चाहते हो तो सन्तों से मिलो। अगर इस प्रकार होली खेलोगे तो बहार आ जायगी।[४४]

प्रेम और राम-नाम भजन में एकान्त निष्ठा तथा तल्लीनता की अपेक्षा है। तात्पर्य यह है कि सच्चे भगवत्-प्रेमी के हृदय में त्याग की चरम भावना होनी चाहिए। भजन का आनन्द उसी को मिलेगा जो जान-बूझकर 'हीरे की कनी' खाय और मरने की परवाह न करे।[४५] 'आनन्द' ने एक सुन्दर कथानक के द्वारा यह बतलाया है कि भगवान् से सच्चा प्रेम वही करता है जो उनसे धन जन सम्पत्ति सुख कुछ नहीं माँगता माँगता है केवल उन्हीं को। एक राजा ने किसी देश पर चढ़ाई की। जब राज्य जीत लिया तब उसने अपनी रानियों को लिख भेजा कि जिसको जिन चीजों की जरूरत हो लिखे। उत्तर में रानियों ने लम्बी-लम्बी सूची मंत्री पर सबसे छोटी रानी ने कोरे कागज पर 'एक' का अंक लिखकर भेज दिया। राजा ने सबका लिफाफा देखा और प्रत्येक सूची मंत्री को दी कि वह चीजें इकट्ठा करे। पर छोटी रानी का पत्र देखकर कहा कि यह समझ मुझे दिखाई पड़ती है। मंत्री था बुद्धिमान उसने कहा—'हुजूर! यह सबसे बुद्धिमान् है 'एक' के अंक से उसका यह मतलब है कि वह कोई चीज नहीं चाहती, केवल एक आपको चाहती है।" राजा की आँखें खुल गईं। उसने लौटने पर और रानियों के पास उनकी माँगी हुई चीजों को भेज दिया पर छोटी रानी के पास स्वयं गया। तात्पर्य यह कि भगवान से भगवान् को ही माँगो।[४६]

नामभजन के दो प्रकार हैं—एक सस्वर नामोच्चारण और दूसरा 'अजपा जाप'। रामटहल राम लिखते हैं कि—

> अजपा शब्द निराला सन्तो अजपा शब्द निराला।
> जो जो अजपा में सुरत लगाई अजपा अमर अमान।
> गुरु के कृपा से पाई, अजपा शब्द निराला सन्तो।[१०७]

किनाराम ने 'अजपा जाप' पर कुछ विस्तार से विचार किया है और इस प्रकार के जप के लिए 'सोहं' मंत्र का विधान किया है। यह मंत्र सहज-स्वरूप-प्रकाश है और इसके मौन जपन से काम क्रोध का परिहार होता है तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है।[१०८] भवानीदास ने 'सोहं' जप की विधि का विश्लेषण करते हुए बतलाया है कि जब साधक इसका अभ्यास करता है तब प्रत्येक अन्दर जानेवाला श्वास 'सो' 'सो' की अन्तर्ध्वनि करता हुआ त्रिकुटी की ओर दौड़ता है और 'हं' 'हं' की ध्वनि करता हुआ बाहर निकलता है। 'सो' शक्ति का प्रतीक है और 'हं' महादेव का तथा 'सोहं' घट में शक्ति-शिव-संयोग का। सोहं का यह जप रात और दिन मिलाकर इक्कीस हजार छह सौ बार होता है। जिस दिन घट से 'सोहं' निकल गया उस दिन मरण हो गया।[१०९] 'अजपा जाप' के लिए स्थिरता पूर्वक ध्यान लगाना और आत्म-तत्त्व तथा परमात्म-तत्त्व में अभेद स्थापित करना आवश्यक है।[११०] कोई-कोई सोहं के बदले 'ॐ' अथवा 'राम' का भी श्वास निःश्वास के साथ जप करते हैं राम-राम का जप करते-करते ऐसी अवस्था आती है कि आप भी बेसुध हो जाते हैं और राम भी भूल जाता है।[१११] यह अवस्था 'सहज-समाधि' की अवस्था है जो ज्ञान और ध्यान दोनों के परे है और जहाँ मुक्ति का दरबार है।[११२]

भक्ति और भजन के प्रसंग में सन्तों ने वैष्णव भक्ति की 'पुष्टि' के सिद्धान्त की ओर बार-बार संकेत किया है। भक्त जब भक्ति के पथ पर अग्रसर होता है तब उसे यह विश्वास होता है कि भगवान् ने उसको अपनी शरण में रख लिया है और जब कभी उसका संकट पड़ेगा तब वे उससे उसका उद्धार करेंगे। इस विश्वास के बल से भक्त हो वह किनारे पर खड़ा होकर क्षण भर के लिए भी नहीं हिचकता और हठात् 'मँझधार' में कूद पड़ता है, क्योंकि वह यह सोचता है कि 'मँझधार' से बचाने का उत्तरदायित्व भगवान् का है न कि भक्त का। भगवान् अपनी लाज आप रखेंगे।[११३] सूर तुलसी आदि सगुण भक्तों के समान निर्गुण भक्त भी अपनेको कामी क्रूर कुटिल कलंकी कहकर भगवान् की शरण में अर्पित कर देते हैं और यह आशा करते हैं कि वे उनकी त्रुटियों पर ध्यान न देकर उसे अपना लेंगे।[११४]

वैष्णव भक्तों ने भक्त और भगवान् के बीच जो सम्बन्ध है उसे मुख्यतः दास्य भाव और सख्य भाव—दो प्रकार का माना है। जहाँ भक्त अपनेको दुर्गुणों से पूरित मानकर भगवान् की आराधना करता है वहाँ दास्य भाव की भक्ति हुई। दास्य भाव के सम्बन्ध को पुनः दो दृष्टियों से सम्बद्ध माना गया है एकतः एक को मर्कट-न्याय की और दूसरे को मार्जार न्याय की भक्ति कहते हैं। जिस प्रकार मार्जारी अर्थात् बिल्ली अपने नवजात बच्चे की

गर्दन दाँत से पकड़कर उसे जहाँ जाती है, लेते जाती है बच्चे का इसमें कोई प्रयास नहीं होता है उसी प्रकार कोई-कोई भक्त अनुमान करता है कि उन्हें किसी प्रकार की सक्रियता की आवश्यकता नहीं है स्वयं भगवान् अपनी सक्रियता के द्वारा उन्हें उद्धृत करेंगे। कुछ अन्य भक्तों की यह धारणा है कि जिस प्रकार मर्कट अर्थात् वानरी का बच्चा केवल अपनी माता के ही सहारे नहीं रहता; किन्तु स्वयं भी ओर से उसके पेट में चिपका रहता है उसी तरह जहाँ भगवान् से यह आशा की जाती है कि वे सक्रियतापूर्वक भक्त की सुधि लेंगे, वहाँ भक्त को भी अपने प्राणपण से चेष्टा करनी चाहिए कि वह मर्त्यलोक की निम्नभूमि को छोड़कर भगवान् की ओर बढ़। एक पाश्चात्य कवि ने कहा है कि—

भक्ति उड़ाती है मानस को
जब ऊँचे की ओर।
तब भगवान स्वयं आ मिलते,
खिंचे प्रेम की डोर।[१२२]

जिस जीव म भक्ति अथवा प्रेम नहीं है वह परमात्मा से दूर है। भक्ति और साधना का लक्ष्य यही है कि यह दूरी धीरे-धीरे कम होती जाय और अन्ततोगत्वा इतनी कम हो जाय कि आत्मा और परमात्मा—जो तत्त्वतः अभिन्न हैं तथा जो माया और अविद्या के प्रभाव से भिन्न हो गये थे—पुनः अपनी तात्त्विक अभिन्नता को प्राप्त हो जायँ। इसलिए सन्तों ने जब कभी जीवात्मा का चित्र खींचा है यह बताया है कि वह अपनी असली श्रेष्ठ नगरी से भूल-भटककर जरा-मरण और दुःख-व्याधिमय निन्दनीय नगरी में आ पड़ा है। यह संसार असार है और सार की खोज मनुष्य के जीवन का मुख्य लक्ष्य है। जीवात्मा को बहुधा 'हंस' कहा गया है। हंसों को या तो मानसरोवर में रहना चाहिए या विस्तृत गगनांगन में विचरना चाहिए, किन्तु इसके विपरीत वे एक गन्दले जालवाले पींजरे में पड़े संकट काट रहे हैं।[१२४] एक दूसरे अर्थ में भी जीवात्मा बन्धन में फँसा है। उसका बन्धन है शरीर। काम क्रोध मद लोभ ममता वात्सल्य शोक आदि दुर्गुण काया-जन्य हैं। काया के सम्पर्क में आकर आत्मा इन सभी दुर्गुणों में रत हो जाता है और इसलिए अनात्मा बन जाता है। अनात्मा फिर आत्मा का रूप तब धारण करता है जब सत्संग के द्वारा सत्य विचार, दया आनन्द पवित्रता समता धैर्य और निष्ठा को अपनाता है।[१२५] सारांश यह कि सांसारिक माया-जाल में बँधा हुआ शरीरस्थ जीव विभ्रान्त एवं वियोगी है।[१२६] जिस असली नगरी से भटककर जीव दुनियावाली की माया-नगरी में आ मिला है वह उसी में है। अतः उसे अपने में ही अपने विराट् रूप का दर्शन करना चाहिए।

विरही जीवात्मा को दृष्टि म रखकर सन्तों ने अनेकानेक ऐसे पदों की रचना की है जिनमें माधुर्यमय भक्ति की अभिव्यंजना हुई है। माधुर्यमय भक्ति का उस भक्ति से तात्पर्य है जिसमें भक्त भगवान् को प्रियतम मानकर तथा अपनेको नारी अथवा प्रियतमा मानकर एक रहस्यमय अद्भुत प्रेमलोक की सृष्टि करता है। भक्त और भगवान के अनन्य प्रेम को

इंगित करने के लिए उपनिषदों ने भी दाम्पत्य-प्रेम की अनन्यता के साथ उसकी तुलना की है। बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है कि जिस प्रकार एक पुरुष जब वह अपनी प्रिय स्त्री के साथ आलिंगन-बद्ध अवस्था में मिलता है तब बाह्य और आन्तर सभी वस्तुओं का ज्ञान खो देता है उसी तरह सत्पुरुष आत्मा के साथ आलिंगन-बद्ध होकर तन्मयता तथा अभिन्नता को प्राप्त होता है।[१९९] कबीर आदि निर्गुणवादी सन्तों ने भावुकतामय भक्ति का चित्र जिस भावुकता के साथ खींचा है और जिस मनोरम कल्पना की उद्भावना की है वह किसी भी साहित्य के लिए गौरव का विषय बन सकती है। भक्ति के क्षेत्र के इस रहस्यमय प्रेम-तत्त्व के दो पक्ष हैं—मिलन और विरह। सन्तों की वाणियों में विरह-पक्ष की ही प्रबलता है। उन्होंने ऐसे पद गाये हैं जिनमें सामान्यतः, भक्त अपनेको एक ऐसी युवती के रूप में कल्पित करता है जो ब्याह नहीं होने के कारण अथवा ब्याह होने पर भी प्रियतम का बुलावा नहीं आने के कारण अपनी ससुराल में न होकर पीहर अथवा 'नैहर' में ही दिन काट रही है। ससुराल परमात्म-लोक का प्रतीक है और पीहर मायामय मर्त्य लोक का। युवती व्याकुल हो रही है कि उसका 'पिया' के संग ब्याह कब होगा और वह कब ससुराल जायगी।[२००] वह कहती है कि उसे अब पीहर के कुटुम्ब और नातेदार अच्छे नहीं लगते और पिता माता का घर उजाड़ प्रतीत होता है; सुन्दर आभूषण और सुन्दर वस्त्र मन को नहीं भाते और 'सोलहो सिंगार' फीका मालूम होता है। अस्तु, वह शुभ तिथि आती है जिस दिन प्रियतम के यहाँ से डोली लेकर कहार पहुँच गये। वह सोचती है—अब मैं आनन्द की नगरी में जा बसूँगी इसकी मुझे प्रसन्नता है;[२०१] जबसे मुझे रामरूपी प्रियतम का अमृत-रस पीने को मिला तबसे मेरा 'मरा' मन हरा हो गया हाल बेहाल हो गया मुझे पागल कहकर कुटुम्ब-परिजनों ने मुझसे नाता तोड़ लिया मेरी अटपट 'रहनी' देखकर सब घबरा गये किन्तु आश्चर्य यह है कि कोई भी मेरे मन के हाल का पता नहीं पा सके और यह नहीं समझ सके कि मेरी लगन राम से लग गई है।[२०२] प्रेम-सुधा-रसपान तथा मन में अनुराग के आविर्भाव से मुझमें आत्म-त्याग की चरम भावना उद्भूत हुई और मैंने अपना तन मन धन सब अर्पण कर दिये काम, क्रोध, लोभ ममता और मोह सब त्याग दिये।[२०३] भक्तिन युवती अपने प्रियतम का सब अर्पित करने के लिए पहले से ही तैयारियाँ कर रही हैं। वे भक्ति-भाव के सुन्दर गहने नख से 'शिख तक पहने हुई हैं।[२०४] जिस समय वह पीहर में है उस समय उसको इस बात की बहुत चिन्ता है कि उससे कोई ऐसी गलती न हो जाय कि उसकी 'चुनरी' में दाग लग जाय। सखी युवती से कहती है कि अपनी मैली चुनरी नैहर में अच्छी तरह धो ले नहीं तो 'पिया' के सामने लजाना पड़ेगा। यदि चुनरी धुली-धुलाई और स्वच्छ रहेगी तो उसे पिया के रंग में रँगने में आसानी होगी। जब पिया उस चुनरी को अपने रंग में रँगा हुआ देखेंगे तब सन्ध्या के समय उस युवती को गले से लगा लेंगे और उस सायंकालीन मिलन में जो आनन्द होगा वह अवर्णनीय है।[२०५]

ससुराल में पहुँचने पर भी उसे कम सावधान नहीं रहना चाहिए। जिस दिन से गुरु ने उसे नींद से जगा दिया उस दिन से फिर नींद नहीं आती और न मन में आलस्य

का अनुभव होता है। रात में वह प्रेम के तेल से भरे हुए दीप को नाम की चिनगारी से बाला कर उसके प्रकाश से उद्भासित रहती है। सुमति के आभूषण पहनकर माँग में सत्य का सिन्दूर सँवारती है। इस प्रकार सज-धजकर जब वह अटारी पर बैठती है तब वहाँ चोर डाकू नहीं आते और काल भी उससे डरता है।[२९९] कभी-कभी जब उसकी ननद साथ में रहती है तब उसको वह चेतावनी देती है कि प्रेम की नगरी में वह अपने पाँव को सँभालकर रखे क्योंकि वहाँ की 'डगर' बड़ी 'बीहड़' है। वह उसे तनिक 'घाटी' उठाकर चलने को कहती है जिससे काँटे और कुश में वह उलझ न जाय।[३००] पीहर में जो चुनरी मिली थी उसको वहाँ बेदाग रखने की चेष्टा तो थी ही उससे कहीं अधिक चेष्टा वैसी रखने की उसे ससुराल में करनी है क्योंकि उस चुनरी को पिया ने अपने हाथ से बनाया है और पातिव्रत्य के रंग में रँगा है उसमें प्रेम की किनारी लगी हुई है जिसने उसे बल से ओढ़ा उसके भाग्य जग गये।[३०८] आध्यात्म-प्रेम की प्रेमिका कहती है—कभी कभी जब मैं प्रियतम के अभिसार को चलती हूँ तब मेरे बचपन के 'पाँच' और 'पचीस' मित्र मेरा मार्ग रोककर खड़े हो जाते हैं और विघ्न डालते हैं ऐसी स्थिति में मैं सोच में पड़ जाती हूँ कि पिया के दरबार में कैसे पहुँचूँगी बस सपने में मेरे सद्गुरु आते हैं और 'सुरति' की डोर हाथ में पकड़ा देते हैं उस डोर के सहारे मैं पिया की अटारी पर उसी तरह चढ़ जाती हूँ जिस तरह किसी लकुट या वृक्ष की डाल पर 'बँवर-लता'।[३०९] सचमुच उस सुन्दरी के भाग्य का सूर्योदय हो गया जिसने प्रियतम से साक्षात्कार किया।[३१०] 'माशूक-महल की छवि देखकर मनमोहन के प्रेम में फँसकर, उसका मन उसी में अटक गया है। अब वह साँवलिया के चरण-कमल की सेवा में दिन रात बिताती है और 'नैहर का खटका' बिलकुल मिट गया।[३११] उसे विश्वास है कि जब वह शून्य भवन में अपने 'खसम' से मिलेगी तब माता पिता भाई-बन्धु सब भूल जायेंगे और यम का त्रास मिट जायगा।[३१२] जब उसने माँ-बाप भाई-बन्धु त्याग दिये हैं और 'सोलहो सिंगार' करके पिया की 'गगन अटरिया' चढ़ आई है तब फिर लाज करने से क्या लाभ। वह पिया के 'दुवार' में घूँघट खोलकर नाचेगी।[३१३] वह 'ससुराल' में इतनी अधिक प्रसन्न है और प्रियतम का प्यार उसे इतना अधिक मिला है[३१४] कि वह प्रतिज्ञा करती है कि अब फिर 'नैहर' नहीं जायगी।[३१५] कुछ पदों में ऐसी भी कल्पना है कि युवती असमय में विधवा हो गई थी और अब प्रिय मिलन से पुनः 'सधवा' (एहवाती) हो गई। अब उसकी माँग जो खाली थी फिर सिन्दूर से भरकर ललित प्रतीत होने लगी और वह दुलहिन बन गई।[३१६]

रहस्यमय मिलन-पक्ष में रहस्यमय विरह-पक्ष का चित्रण अपेक्षाकृत अधिक मनोरम होता है। शृंगार में विप्रलंभ में प्रभविष्णुता अधिक होती है और उसमें करुण-रस का पुट भी रहता है जिससे सहृदय पाठकों अथवा श्रोताओं में अनुभूति की तीव्रता जाग्रत् होती है। विप्रलम्भ-काव्य में साधारणीकरण की मात्रा अधिक रहती है। जब विप्रलंभ के साथ आध्यात्मिकता तथा भक्ति के रहस्यमय माधुर्य का सम्मिश्रण हो जाता है तब उसमें शान्त रस की अन्तर्धारा भी प्रवाहित होने लगती है। तात्पर्य यह कि आध्यात्मिक विरह के

काव्यगत चित्रण में मानो श्रृंगार, शान्त और करुण की त्रिवेणी प्रवाहित रहती है और उसमें अद्भुत रस की प्रतिच्छाया उसी प्रकार मनोरम ढंग से पड़ती है जिस प्रकार किसी स्वच्छ जलाशय अथवा मंद-मन्थर-वाहिनी सरिता के अन्तस्तल में प्रतिफलित प्रभातकालीन प्रभाकर की स्वर्णाभा रश्मियाँ।

भिनकराम कहते हैं कि विरहिन का अंग अंग विरह-बाण से बिद्ध हो गया है। वह विरह की भीषण एवं प्रचण्ड अग्नि में जल रही है। ऐसी विषम परिस्थिति में केवल हरि ही वैद्य हैं जो चिकित्सा कर सकें। अतः वह उनसे प्रार्थना करती है कि शीघ्राति शीघ्र उसकी सुधि लें।[११७] वह विरह में इतनी व्याकुल है कि दिन रात कभी भी नींद नहीं आती। गगन में टकटकी लगी रहती है और इसी तरह भोर हो जाता है।[११८] वह दारुण दुःसह दुःख के कारण मानो बिना आग के जल रही है और उसकी आँखों से निरन्तर आँसू गिर रहे हैं, वह कहती है—हे राम तुमने क्या किया![११९] जब वह अपने पीहर से चली थी तब उसके हृदय में पीहर के प्रति उसी प्रकार मिथ्या-मोह था जिस प्रकार सेमल के फूल के लिए सुग्गे को। जब प्रियतम श्याम 'गौना (द्विरागमन) कराकर अपने घर ले आये तब आप मधुबन चले गये।[१२०] जब वह पीहर से चली थी तब राह में यमराज विघ्न डालता था किन्तु प्रियतम के प्रति उसकी दृढ़ लालसा देख उसने राह छोड़ दी। प्रियतम ने देखा कि वह विरह से व्याकुल हो रही है तो वे 'रूपे की नाव' पर चढ़कर आये और 'सोने की करुआरी' से खेकर उसे पार ले गये।[१२१] एक सुन्दर पद में भिनकराम ने विप्रलंभ का ऐसा वर्णन किया है जिसकी व्यापकता मानव-जगत् को अतिक्रमण कर मानवेतर जगत् तक फैल गई है। वे कहते हैं कि प्रेम विरहिणी नयनों में काजल और 'लिलार' में 'सेनुर' लगाकर साज-श्रृंगार किये निर्मोही की आशा में बैठी है। उसके विरह की आग से समस्त वन-प्रांत और पर्वत जल रहे हैं।[१२२]

एक संत ने ऐसी विरहिणी का वर्णन किया है जो प्रिय के प्रेम-बाण से बिद्ध तो हो गई है लेकिन वह क्वाँरी ही बनी रही। बारह वर्ष की उम्र तक तो वह सखियों के साथ खेलती रही। उसके बाद भी उसको प्रियतम की चिन्ता नहीं हुई और इस प्रकार छत्तीस वर्ष बीत गये। वह अन्त समय में पछताती है और कहती है कि धिक्कार है ऐसे जीवन को जिसमें बिना पति के साथ के ही सदा-सर्वदा सोना पड़ा।[१२३] किन्तु उसे अन्त-तक प्रीतम के साथ विवाह होने और ससुराल जाने की अतृप्त आकांक्षा सताती रहती है।[१२४] ऐसा भी संभव है कि इस प्रकार की अतृप्त आकांक्षाओं की पूर्ति बहुत देर से हो। ऐसी स्थिति में भी यही प्रयत्न होना चाहिए कि कुल में दाग न लगे। यदि उसमें विरह की सच्ची आग जल रही है तो वह दिन-प्रतिदिन पवित्रतर होती जायगी वह दूध से दही दही से मक्खन और मक्खन से घी बन जायगी।[१२५] यदि वह निराश न होगी तो एक न एक दिन 'लाली-लाली डोलिया' में 'सबुजी ओहार' डाले उसके 'बलमुआ' कागज लेकर द्वार पर आयेंगे, उसकी बाँह पकड़कर उसे डोली में बिठा लेंगे वह कितनी ही रोती कलपती रहेगी सभी सखियाँ 'घरबहरियों' को 'टूमर' बनाकर चलते बनेंगे।[१२६] भिनक

की इस शुभ घड़ी के पहले वह बहुत विकल थी नींद बुलाने पर भी नहीं आती थी, मानो नींद को कहीं पर स्वयं नींद आ गई हो।

> दिन को रस्ता का भी आँखों उसके आती नहीं।
> नींद को भी नींद आई है यह कैसा राज है।[२२०]

अब तो उसके सद्गुरु ने बता दिया कि उसके प्रियतम उसी के भीतर विराज रहे हैं।[२१] उसके ऐश्र्वर्य सिद्ध रिमझिम बयार रस लिए डोल रही है। नारंगी के बाग के पीछे भी पवन के व्यंजन से आन्दोलित हो रहे हैं। उसने चंदन के सुगंधित लकड़ों से उस पलंग को सजाया है जिसपर उसके प्रियतम सोये हुए हैं। वह धीरे-धीरे 'बेनिया' डोला रही है। सास महल में सो गई है और 'ननदी भी छत पर है। अवसर तो अनुकूल है क्योंकि अड़ोस-पड़ोस टोले-मुहल्ले में कोई भी जगा नहीं दीखता है, वह बैठी-बैठी यही सोच रही है कि प्रियतम को कैसे जगावे।[२२१]

ज्ञान भक्ति और प्रेम के विवरण तथा विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हृदय की भावना ही मुख्य वस्तु है। बल्कि यों कहा जा सकता है कि प्रत्येक बाह्य परिस्थिति उस चित्तवृत्ति की एकाग्रता तथा तल्लीनता में बाधक होती है जो भगवान की अनन्य भक्ति तथा प्रेम के लिए अनिवार्य है। देवी-देवताओं की मूर्ति भी जिसके लिए हमें कायागढ़ के भीतर के मन्दिर को छोड़कर किसी बाहरी मन्दिर अथवा तीर्थस्थान में जाना पड़ता है एक बाह्य परिस्थिति है और अतः वह भी साधक की सिद्धि में बाधक है साधक नहीं। निर्गुण और सगुण मत में विभाजक-रेखा खींचनेवाली विशेषताओं में मूर्ति प्रमुख है। कबीर ने कहा है कि—

> पाहन केरा पूतला करि पूजै करतार।
> इही भरोसे जे रहे ते बूड़े काली धार॥

कबीर के परवर्ती प्रायः सभी निर्गुणवादी सन्तों ने और वर्तमान युग के दयानन्द आदि सुधारकों ने मूर्ति-पूजा का खण्डन किया है। 'आनन्द' कहते हैं—

> चिकनी माटी का लोंदा,
> शिव की प्रतिमा बनावे।
> विश्वनाथ को चीन्हत नाहीं
> टन टन घण्टा बजावे॥[२३]

एक दूसरे सन्त लिखते हैं कि लोग अपने ही हाथ मूर्ति बनाते हैं या किसी ठठेरे से बनवाते हैं, और फिर उसी के आगे पृथ्वी पर माथा टेकते हैं तथा उसकी स्तुति करते हैं; पान फूल नैवेद्य लेकर उसे समर्पित करते हैं मूर्ति तो न कुछ बोलती है और न खाती है किन्तु लोग उसे उठाकर पूजा में धरे हुए खाद्य पदार्थ को 'भक्षक' जाते हैं।[२३०] प्रतिमा-पूजन और माला फेरने से मोक्ष संभव नहीं है। मोक्ष तो तबतक न होगा जबतक हर अक्षर के पार अमरपुर की विमल दृष्टि नहीं प्राप्त होती और सत्पुरुष की आराधना नहीं की जाती।[२३१]

जब संत कर्त्ताराम से लोगों ने तीर्थाटन का आग्रह किया तब वे एक मधुर मुस्कान के साथ बोले—यदि मानव के हृदय में सत्य है तो उसके घर में ही तीर्थराज विद्यमान है इसके विपरीत सत्य को हृदय में धारण न कर चाहे वह चतुर्दिक् पृथ्वी की परिक्रमा कर आवे, सब कुछ व्यर्थ होगा यदि गुरुतत्त्व ग्रहण किया और मन शुद्ध हुआ तो यह तन ही तीर्थ राज बन गया।[233] 'कर्त्ताराम धवलराम चरित्र'-नामक ग्रन्थ में अनेक तीर्थों का वर्णन है। उनके समकालीन एक संत तुलसी जब रामराह कपिलासन ठाकुरद्वार, कामरूप सेतुबन्ध रामेश्वर पंचवटी पम्पासर उज्जैन हरद्वार बदरिकाश्रम केदार पुष्कर नैमिषारण्य कुरुक्षेत्र गिरिनार मथुरा चित्रकूट प्रयाग काशी अवध नेपाल दामोदर-कुण्ड मिथिला आदि तीर्थों का पारायण करके वेतवा पहुँचे जहाँ कर्त्ताराम का मठ था तब उन्होंने तुलसी से कहा—'इस तीर्थाटन से कोई विशेष प्रयोजन नहीं तुम अब सन्तों के चरणों में बैठकर उनकी सेवा करो।'[234] किनाराम ने भी तीर्थ-यात्रा आचारण मूर्त्तिपूजा 'जाप जप तप व्रत दान मख आदि को प्रेम भक्ति की अपेक्षा कम महत्त्व दिया है।[235] योगेश्वराचार्य कहते हैं कि कुछ लोग नेम व्रत पूजा पाठ आचार विचार तीर्थ-यात्रा मौन-वनवासन आदि हठयोग में अपना समय व्यतीत करते हैं। मुसलमान लोग कुरान मसजिद और मक्का के पीछे भटकते फिरते हैं। सद्गुरु से प्राप्त सच्चे ज्ञान के सामने ये सभी व्यर्थ हैं।[236] इसी प्रकार गुलाबचन्द्र 'आनन्द' कहते हैं कि सभी तीर्थ गुरुचरणों में निवास करते हैं।[237] यदि हम अपनी दृष्टि अन्तर्मुखी करें तो हम यह पायेंगे कि जितने भी तीर्थ पुण्यार्जन के लिए बताये गये हैं वे सब-के-सब हमारे अन्दर में ही हैं उनकी प्राप्ति के लिए न वनवास की आवश्यकता है न अग्नि-सेवन की।[238] मोक्ष का साधन आत्मज्ञान है काशी और गया जाने तथा गंगा और फल्गु में स्नान करने से अथवा जटा बढ़ाने या माथ मुड़ाने से मोक्ष-प्राप्ति की लालसा रखना मृग-तृष्णा है।[239] तीर्थों में भटक कर देवी-देवताओं का पूजन यह सूचित करता है कि हम परमात्मा के असली स्वरूप को भूल गये हैं। सिंह कुएँ में अपनी छाया देखकर कूद पड़ता है और मर जाता है। ऐसा क्यों हुआ? चूँकि उसने निज प्रतिमा को निज रूप समझ लिया। प्रतिमा में परमात्मा की बुद्धि भी मूर्खता है।[240] सच्ची अनुभूति के सामने वेद कुरान 'शरा' शास्त्र सब नाचीज हैं स्वर्ग और नरक भी तुच्छ हैं।[241]

उपवासादि व्रत भी यदि आत्म-ज्ञान और आन्तरिक शुद्धि में साधक न हों तो व्यर्थ हैं। उसी प्रकार भिन्न भिन्न भाँति के वेश भी निरर्थक हैं। कोई 'अतीथ' बने फिरते हैं तो कोई 'संन्यासी' का रूप धारण किये फिरते हैं तथा सभी छुआछूत और व्रत एकादशी के फेर में पड़े रहते हैं। हमें याद रखना चाहिए कि भगवान् न सिर पर बड़ी जटा रखने से खुश होंगे और न उसे मुड़ित करने से; न फकीर के वेश से न दरवेश के और न तीर्थव्रत से ही।[242] व्रत करने से यदि कोई लाभ है तो यह कि उससे कुछ शरीर शुद्धि हो जाती है। और दिन लोग पशु के समान खूब पेट भर भर कर खाते हैं तथा यह नहीं अनुभव करते हैं कि 'भूख का दुःख' कैसा होता है। कम-से-कम उपवास के दिन हम दुःख का अनुभव हो जाता है। हाँ किन्तु उपवास-व्रत की अति नहीं होनी

दूसरा अध्याय

साधना

१ योग

संतों के साधना-पथ में योग का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। योग की क्रियाएँ प्रारंभ से भारतीय संस्कृति और उसके अध्यात्म का एक विशिष्ट अंग रही हैं। उपनिषदों के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस काल में योग के द्वारा चित्तवृत्ति के निरोध का व्यापक रूप से अभ्यास किया जाता था और केवल हठ-योग से ध्यान-योग को उच्चतर तथा श्रेष्ठ माना जाता था। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में लिखा है कि ऋषियों ने ध्यान-योग के द्वारा आत्मशक्ति को प्रत्यक्ष किया।[1] एक दूसरे मन्त्र में 'ध्याननिर्मथनाभ्यास' जैसे संश्लिष्ट पद का प्रयोग किया गया है जिससे यह प्रतीत होता है कि ध्यान-योग की क्रियाओं का विधिपूर्वक अभ्यास किया जाता था। 'युक्त मन' अथवा 'मनोयोग' आदि पद पद-पद पर उपनिषदों में मिलेंगे। कठोपनिषद् में बहुत ही वैज्ञानिक ढंग से और स्पष्ट शब्दों में 'योग' की परिभाषा दी गई है—जब पाँचों इन्द्रियाँ और उनके विषय ज्ञान विज्ञान मन-बुद्धि सभी निश्चेष्ट हो जाते हैं तब उसीको 'परमगति' कहते हैं उसीको 'योग' भी कहते हैं।

पतंजलि के 'योग-दर्शन' में वैदिक काल से आती हुई योग-साधना की परम्परा को एक स्वतन्त्र दर्शन का गौरवान्वित स्थान प्राप्त हुआ। पातंजल दर्शन चार पादों में विभक्त है। प्रथम पाद 'समाधि' पाद कहलाता है इसमें योग के स्वरूप उद्देश्य और लक्षण चित्त-वृत्ति निरोध के उपाय तथा भिन्न भिन्न प्रकार के योगों की विवेचना की गई है। दूसरा पाद 'साधना' पाद कहलाता है जिसमें क्रिया-योग क्लेश कर्मफल दुःख आदि विषयों का वर्णन है। तीसरा 'विभूति' पाद है जिसमें योग की अन्तरंग अवस्थाओं तथा योगाभ्यास जन्य सिद्धियों का वर्णन है। चौथा 'कैवल्य' पाद है जिसमें मुख्यतः कैवल्य या मुक्ति के स्वरूप की विवेचना की गई है। पतंजलि ने योग की सामान्य परिभाषा दी है 'चित्त-वृत्ति निरोध'। यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा ध्यान समाधि—ये योग के आठ अंग हैं। यम पाँच हैं—अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह; नियम भी पाँच हैं—शौच सन्तोष तप स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान। योग की अंतिम परिणति समाधि भी दो प्रकार की कही गई है—संप्रज्ञात तथा असंप्रज्ञात। तात्पर्य यह कि सिद्ध-पंथ तथा निर्गुण संतमत में जिस योग की प्रक्रियाओं का विस्तृत वर्णन है और जिसको सातिशय महत्त्व दिया गया है वह मुख्यतः से उपनिषदों तथा योग-दर्शन से निःसृत है।

सामान्यतः निर्गुण संतमत और विशेषतः सरभंग मत में प्रचलित योग की प्रक्रियाओं का विवरण प्रस्तुत करने के पहले हम यह स्पष्ट कर देना चाहेंगे कि आसन प्राणायाम और मुद्रा की प्रधान भित्ति पर आधारित हठ-योग, जिसका अधिक सम्बन्ध शरीर से है और कम

सम्बन्ध मन तथा आत्मा से उनकी दृष्टि में अधिक महत्व नहीं रखता। कबीर दरिया आदि ने हठ-योग को कहीं-कहीं 'पिपीलक-योग' कहा है।[3] पिपीलक चींटी को कहते हैं, वह वृक्ष पर धीरे-धीरे चढ़ती है पककर मधुर फल खाती है किन्तु कुछ देर बाद वह नीचे ज़मीन पर उतर जाती है और मधुर रस के आस्वादन का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। निरा हठयोगी भी क्षणिक एकाग्रता प्राप्त कर योग विरहित पूर्वावस्था में बार-बार लौट आता है और निरन्तर परमानन्द के आस्वादन से वंचित रहता है। इसके विपरीत जो ध्यान-योग है उसे सन्तों ने 'विहंगम-योग' कहा है। जिस प्रकार विहंगम अथवा पक्षी वृक्ष की डाल पर लगे हुए मीठे फलों का रसास्वादन बार-बार करता है उड़ता भी है तो इसके पहले कि रसानुभूति का तार टूटने पावे पुनः डाल पर बैठकर उस रस का आस्वादन आरम्भ कर देता है रसास्वादानुभूति की शृंखला पलमात्र के लिए भी छिन्न नहीं होती उसी प्रकार ध्यानयोगी अपने आनन्द-लोक में निरन्तर विचरता रहता है। चींटी के समान उसे वृक्ष के नीचे अर्थात् दुःख-सुखमय मर्त्य-लोक में उतरना नहीं पड़ता है। वह शून्य गगन में विचरण करते हुए अमृत पान करता है और अमृत पान करते हुए शून्य गगन में विचरता रहता है। उसे चित्त-वृत्ति निरोध के लिए हठ-योग की अपेक्षा नहीं होती।

किनाराम ने ध्यान-योग को अध्यात्म-योग भी कहा है।[4] किन्हीं किन्हीं पदों में इसे 'सहज योग' भी कहा है।[5] ध्यान का ही नाम 'सुरति' है अतः इसे सुरति-योग या सुरति-शब्द-योग भी कहते हैं। सन्त मेंहीदास ने सुरति-योग या 'सुरत-शब्द-योग' को 'नादानुसंधान'-योग की संज्ञा दी है। गोपालचन्द्र आनन्द ने इसे 'आनन्द-योग' का भी नाम दिया है। चंपारण-परंपरा के कर्त्ताराम ने यह लिखा है कि योग दो प्रकार के होते हैं— 'हठ-योग' और 'राजयोग'। हठ-योग से राजयोग श्रेयस्कर है। हठ-योग के 'नेती' (नेति) 'धोती' (धौति) 'बस्ती' (बस्ति) 'त्राटक' 'नौली' और 'कपालभाँति' ये छह प्रकार हैं। इसके अतिरिक्त अनेक आसन और पूरक कुंभक तथा रेचक प्राणायाम आदि विहित हैं। किन्तु जबतक राजयोग द्वारा चित्तवृत्ति अन्तर्मुख नहीं होती और हृदय में अमर-ज्योति नहीं चमकती तबतक मोक्ष नहीं होता।

योग विज्ञान के विशेषज्ञ पाश्चात्य विद्वान् पॉल ब्रन्टन (Paul Brunton) ने योग के तीन क्रमिक तथा उत्तरोत्तर स्तरों का निर्देश किया है। प्रथम स्तर वह है जिसमें साधक एकमात्र शारीरिक साधना अर्थात् आसन मुद्रा प्राणायाम आदि के द्वारा हठात् चित्त-वृत्ति का नियन्त्रण करता है। इससे उच्चतर वह द्वितीय स्तर है, जिसमें उसकी साधना शरीर की सतह से ऊपर उठकर भावनाओं के क्षेत्र में पहुँचती है और वह बिना आसन प्राणायाम आदि माध्यम के भी अपने अन्तर के आनन्द और मानसिक शांति की अनुभूति करता है। ब्रन्टन के विचार से इस अनुभूति-योग से भी ऊँचा जो तीसरा स्तर है वह 'ज्ञान-योग' का है। इस स्तर पर आसीन होकर साधक जो हठ-योग और ध्यान-योग अथवा अनुभूति-योग के सोपान से होकर उस पार कर चुका है अपनी विवेक बुद्धि के साथ अनुभूति का समन्वय करता है और आभ्यन्तर तथा बाह्य जगत् के रहस्य में बुद्धिपूर्वक अवगाहन करता है। यह 'ज्ञान-योग' 'कर्म-योग' का विरोधी नहीं होता,

क्योंकि ज्ञानयोगी विश्व की समस्या को अपनी समस्या समझने लगता है; उसके लिए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' हो जाता है। जहाँ तक किनाराम आदि सन्तों की योग-साधना का प्रश्न है उसे हम मुख्यतः ध्यान-योग ही कहेंगे, यद्यपि अनेकानेक संतों में लोक कल्याण की उग्र भावना की कमी नहीं थी। ऐसा कहने का यह तात्पर्य नहीं कि इन संतों का हठ-योग से कोई भी संबंध नहीं था। उन्होंने पद-पद पर 'इड़ा, 'पिंगला' 'सुषुम्णा' 'त्रिकुटि, 'षट्-चक्र 'अष्ट-दल-कमल', 'बंकनाल 'शून्य गगन, 'सुरति निरति 'पिंड ब्रह्मांड 'अनहद (अनाहत) नाद' आदि योग के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग ही नहीं किया है उनका विस्तृत विवरण भी दिया है। उन्होंने आसन, मुद्रा और प्राणायाम का भी वर्णन किया है जिससे यह अनिवार्य रूप से अनुमित होता है कि संत साधकों के अनुभूति-योग अथवा ज्ञान-योग की पृष्ठभूमि हठ-योग के अभ्यासों से ही सजाई जाती है।

इसके पहले कि किनाराम टेकमनराम भिखमराम आदि संतों की 'बानियों के आधार पर योग के विभिन्न अंगों और प्रक्रियाओं की संक्षिप्त चर्चा की जाय संभवतः यह उचित होगा कि संक्षेप में हठ-योग की प्रक्रियाओं की एक सरल रूप-रेखा प्रस्तुत की जाय। यह रूप-रेखा वस्तुतः तंत्र-प्रथा के आधार पर है और वहीं से संतों को विस्तृत प्रेरणाएँ भी मिली हैं। कुण्डलिनी एक शक्ति है। जीव-रूपी शिव कुण्डलिनी के प्रभाव से ही अपने को जगत् और' ब्रह्म से भिन्न समझता है। कुण्डलिनी सबसे निचले चक्र मूलाधार में सर्पिणी-सी सोई रहती है। उसका इस प्रकार सोना बंधन और अज्ञान का द्योतक है अतः उसे जागरित करना आवश्यक है। जब वह जग उठती है तो अन्य चक्रों का भेदन करती हुई ब्रह्माण्ड-लोक में पहुँचती है और वहाँ शिव से मिलकर अभिन्न हो जाती है। कुण्डलिनी का शिव के साथ यह मिलन दृश्य जगत् के मायामय विकारों से ऊपर उठने और जीवात्म-तत्त्व के परमात्म-तत्त्व में लीन होने का प्रतीक है। मूलाधार चक्र में एक केन्द्र है उससे ७२ हजार नाड़ियाँ निकलती हैं—शाखा उपशाखाओं को मिलाकर ये १५ हैं। इनमें से सर्वप्रथम तीन हैं—'इड़ा (इंगला) 'पिंगला और 'सुषुम्णा' (सुखमना)। ये तीनों मूलाधार से निकलती हैं 'इड़ा' मेरुदण्ड के वाम भाग से पिंगला उसके दक्षिण भाग से और सुषुम्णा उसके बीच होकर। मूलाधार चक्र से निकल कर स्वाधिष्ठान मणिपूर, अनाहत विशुद्ध और आज्ञा—इन चक्रों का भेदन करती हुई ये ऊपर चलती हैं और 'इड़ा वामनासा-रन्ध्र में पिंगला दक्षिणनासा-रन्ध्र में और सुषुम्णा नासिका के ऊपर ब्रह्म-रन्ध्र में पहुँचती है। ब्रह्म रन्ध्र में इड़ा पिंगला और सुषुम्णा—त्रिवेणी दूसरे शब्दों में गंगा यमुना और सरस्वती भी कहते हैं—का संगम होता है इसीलिए उस संगम बिन्दु को 'त्रिवेणी या 'त्रिकुटि' (त्रिकुटी) कहा जाता है। ब्रह्म-रन्ध्र में ही 'शून्य गगन' है जहाँ सहस्रदलोंवाला कमल विकसित है। हठ-योग का प्रधान लक्ष्य है कुण्डलिनी शक्ति को मूलाधार से जागरित करके शून्य गगन स्थित सहस्रदल कमल में मिला देना। कुण्डलिनी प्रकृति का प्रतीक है और सहस्र-पद्म सत्पुरुष अथवा ब्रह्म का; और इस प्रकार कुण्डलिनी के क्रमशः सहस्रकमल में विलीन हो जाने का अर्थ यह है कि आत्मा,

को प्रकृति अथवा माया के कारण द्वैत और बंधन में आ गया है अपनी मूलभूत बिम्ब परिनिष्ठा तथा अद्वैत को प्राप्त हो। प्रस्तुत अनुशीलन के पार्श्वभूत संतों ने उपरिनिर्दिष्ट हठ-योगभूमिक ध्यान-योग को जिस ढंग से अपने शब्दों में व्यक्त किया है उसका सारांश यहाँ दिया जाता है।

यद्यपि आसन मुद्रा और प्राणायाम का अधिक महत्त्व नहीं है फिर भी इनका सामान्य अभ्यास साधना के लिए आवश्यक हो जाता है। आसनों में सिद्धासन अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित है। टेकमनराम कहते हैं कि सिद्धासन लगाकर मन को थिर करो, तब जाकर अमरपुरी के द्वार में हीरा झलकेगा।[1] सिद्धासन में दोनों एँड़ियों को अंडकोष और गुदामार्ग के बीच के स्थान में इस प्रकार रखा जाता है कि बाएँ एँड़ी दाहिनी ओर और दाईं एँड़ी बाएँ ओर पड़े। हाथों को घुटना पर रखकर अँगुलियों को फैला दिया जाता है और मेरुदंड को सीधा तानकर चित्त स्थिर करके बैठा जाता है। सिद्धासन के अतिरिक्त स्वस्तिकासन सिंहासन शवासन पद्मासन मुक्तासन[2] उग्रासन भी संतमतों में अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित हैं।[3] आसन और प्राणायाम की मिली जुली यौगिक क्रिया को मुद्रा कहते हैं। निम्नलिखित सात मुद्राएँ अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित हैं—मूलबन्ध जालन्धर-बन्ध उड्डियान-बन्ध, शाम्भवी-मुद्रा खेचरी मुद्रा अश्विनी-मुद्रा और योनि-मुद्रा। दरिया आदि संतों के पदों में प्रायः पाँच मुद्राओं का ही निर्देश मिलता है—'खेचरी 'भोचरी 'अगोचरी 'चाचरी और उन्मुनी (महामुद्रा)। संभवतः प्रथम चार घेरण्ड संहिता-वर्णित आकाशी पार्थिवी आग्नेयी और आम्भसी के ही विकृत रूप हैं। 'उन्मुनी मुद्रा का सम्बन्ध आँखों की दृष्टि को स्थिर करने और उसे अन्तर्मुख करने से है। अलखानन्द ने एक पद में आसन और खेचरी-मुद्रा की चर्चा की है।[4] यह मुद्रा एक कठिन मुद्रा है अतः बिना गुरु के निर्देश के इसका अभ्यास करना विपज्जनक है। इस क्रिया के आरम्भ में जिह्वा को सतत अभ्यास द्वारा खींचकर इतना बड़ा बनाना पड़ता है कि वह भ्रू मध्य तक पहुँच जाय। प्रत्येक सप्ताह थोड़ा थोड़ा करके गुरु जीभ की निचली स्नायु को साफ छुरी से काटते हैं और उस पर थोड़ी हल्दी की बुकनी और नमक डाल देते हैं जिससे कटी हुई स्नायु जुट न जाय—अभ्यासी जीभ में ताजा मक्खन लगाकर उसे बाहर खींचता है और उसी प्रकार दुहता है जिस प्रकार ग्वाला गाय के स्तन को। जीभ के नीचे की स्नायु काटने की क्रिया प्रत्येक सप्ताह छह मास तक करनी पड़ती है। जब जीभ यथेष्ट लम्बी हो जाती है तब उसको मुँह के भीतर ही उलटा करके तालु में सटाते हुए ले जाकर नासा छिद्रों को जिह्वाग्र से बन्द कर दिया जाता है। स्पष्ट है कि यह मुद्रा कष्टसाध्य है और इसकी साधना सभी संतों के लिए संभव नहीं है। 'आनन्द' ने भी इस क्रिया की चर्चा की है यद्यपि मुद्राविशेष का नाम नहीं लिया है।[5] नारायणदास कहते हैं कि जब साधक बारह बरस तक अभ्यास करता है तब योगी कहलाने का अधिकारी होता है।[6] वे यह भी कहते हैं कि योगी तो तब कहायेगा कि जब उसमें उड़ जाने की और विराट् रूप धारण करने की आश्चर्यजनक शक्ति आ जायगी। सरभंग-मत के संतों के ग्रन्थों में आसनों मुद्राओं का विशद बयान नहीं है और न प्राणायाम का ही किन्तु यह स्पष्ट है कि

कम-से-कम आसन और प्राणायाम का अभ्यास प्रारंभ में प्रत्येक साधक को करना पड़ता है। प्राणायाम के मुख्य तीन प्रकार हैं—पूरक अर्थात् साँस अन्दर लेना कुम्भक अर्थात् साँस को अन्दर रोककर रखना रेचक अर्थात् साँस को बाहर फेंकना। प्राणायाम से योग अर्थात् चित्त-वृत्ति-निरोध में सहायता मिलती है।

जिस ध्यान-योग अथवा किन्हीं किन्हीं संतों के मत में विहंगम-योग का वर्णन निर्गुण सन्त-साहित्य में सामान्यतः पाया जाता है उसका मुख्य संबंध कंठ के ऊपर के हिस्से से है। योग की इस क्रिया में साधक की 'सुरति' या ध्यान-दृष्टि नेत्र के 'अष्ट-दल कमल' में अवस्थित 'सूची द्वार' होकर 'ब्रह्माण्ड' में प्रवेश करती है और इड़ा पिंगला तथा सुषुम्ना की 'त्रिवेणी' में मज्जन करती हुई 'सहस्रदल' में विचरण करती है; फिर 'बंकनाल' होकर ऊपर चढ़ती है और 'भवर गुफा' में प्रवेश करती है। इस गुफा में प्रवेश करते ही आत्मा ऐसी दिव्यदृष्टि प्राप्त करता है कि एक-से-एक अनोखी सुगन्धि और अद्भुत छवि का अनुभव तथा साक्षात्कार करता है। यहाँ अनाहत नाद गुंजायमान रहता है जो 'शब्द ब्रह्म' है यहीं पर 'अमरपुरी' अथवा 'अक्षर लोक' है जहाँ आत्मा परमात्मा में मिलकर अद्वैत हो जाता है आत्मा का यही मोक्ष है।

किनाराम कहते हैं कि इड़ा पिंगला और सुषुम्ना की शुद्धि करनी चाहिए तथा उन्मुनी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। सुरति और 'निरति' में मग्न होकर जीव परमानन्द को प्राप्त होता है।[1] योगेश्वराचार्य कहते हैं कि इड़ा और पिंगला का शोधन करके सुषुम्ना की 'डगर' पकड़नी चाहिए तथा 'पाँच' को मारकर, 'पचीस' को वश कर, 'ना' की नगरी को जीत लेना चाहिए। भिनकराम कहते हैं कि इड़ा पिंगला नाम की दो नदियाँ बहती हैं[1] जिनमें सुन्दर जल की धारा प्रवाहित है। टेकमनराम भी "गंगा' और 'पिंगला' के शोधन तथा 'त्रिवेणी-संगम' के स्नान का निर्देश देते हैं।[1] रामस्वरूप दास भी इन तीनों नाड़ियों की चर्चा करते हैं और कहते हैं कि इनके अभ्यास से मन के 'बैठने' में देरी नहीं लगती। इड़ादि तीनों नाड़ियों के संगम-स्थल को 'त्रिकुटी' या त्रिवेणी कहते हैं जिसकी चर्चा संतों ने बार-बार की है। दरसन राम कहते हैं कि बंकनाल की उल्टी धार बहती है रसना 'अजपा' की माला जपती है त्रिकुटी महल में सुग्गा बोलता है और साधक का मन हर्षित होता है।[2] रामटहल राम उपदेश देते हैं कि 'ऐसा ध्यान लगाना साधो ऐसा ध्यान लगाना कि मूल द्वार को साध करके गगन महल में जा 'चमको' और 'त्रिकुटी महल' में बैठकर 'अगार ज्योति' देखो।

अघोरमत के गुरुप्रवर्तक किनाराम लिखते हैं कि इड़ा चन्द्रमा में और पिंगला सूर्य के घर में निवास करते हैं और सुषुम्ना दोनों के मध्य में। जब चन्द्र और सूर्य का सहज और समान रूप से उदय हो जाता है तो शून्य में शब्द का प्रकाश होता है मन में 'अमर' भरने लगता है और सुख-रूपी अमृत का आस्वादन होता है।[3]

यहाँ एक तालिका दी जाती है जो संतों द्वारा रचित 'स्वरोदय' के आधार पर है—

१	२	३	४	५	६	७	८	९
स्वर	उपनाम	स्वरों से संबद्ध नाड़ियाँ (स्वरों के दूसरे नाम)	नासिका	सम्बद्ध ग्रह	संबद्ध नक्षत्र-पुञ्ज	संबद्ध पक्ष	संबद्ध दिवस	स्वरों की अनुगामिनी क्रियाओं की विशेषता
चन्द्र	गंगा	इंगला (इड़ा)	वाम	चन्द्रमा	वृश्चिक, सिंह, कुम्भ, वृष	शुक्ल	सोम बुध गुरु शुक्र	स्थिर
भानु	यमुना	पिंगला	दक्षिण	सूर्य	कर्क मेष मकर, तुला	कृष्ण	रवि मंगल शनि	चंचल
सुषुम्ना	सरस्वती	सुषम्ना (सुषुम्ना)	दोनों नासा-पुट	अग्नि	कन्या मीन, मिथुन धन	—	—	—

ध्यान-योग के क्षेत्र में 'सुरति' और निरति ये दो महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। सुरति योगी की उस असाधारण दृष्टि-क्षमता को कहते हैं जिसके द्वारा वह अन्तर्मुख होकर अपार्थिव जगत् के आश्चर्यमय दृश्यों और शब्दों की साक्षात् अनुभूति प्राप्त करता है और निरति उस निर्विकल्प ध्यान की अवस्था है जिसमें दृश्यावली प्रकट नहीं होती। दोनों ही ध्यान की स्थिरता की सूचक हैं। सुरति के द्वारा ही अनाहत नाद का श्रवण संभव है।[१९] 'आनन्द' ने लिखा है कि जब सुरति ठीक से स्थिर हो जाती है तब अमृत चूने लगता है और जीवात्मा उसको पीकर परितृप्त हो जाता है गगन में बिजली चमकने लगती है और उजियाला हो जाता है वह उजियाला ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है त्यों-त्यों सुरति सत् पुरुष के द्वार की ओर बढ़ती जाती है जहाँ अनाहत ध्वनि भी सुनाई पड़ती है।[२०] 'पिंड खण्ड' में मूलाधार आदि चक्र हैं किन्तु 'ब्रह्माण्ड खण्ड' में आँख ही अष्टदल-कमल है और जब सुरति आँख की पुतली—जिसे पारिभाषिक शब्दों में 'अक्षनल' 'तिल', 'खिड़की' आदि कहते हैं—से होकर भीतर जाती है तब तेज और ज्योति का संसार दीख पड़ता है। जिस प्रकार मंदिर की किवाड़ की दरारों से झलकता हुआ दीप मंदिर के अन्दर उजाला करता है उसी प्रकार सुरति के द्वारा भी अन्तरंग उद्भासित होता है।[१] ध्यान रहे कि योग की सभी प्रक्रियाओं में अनुभवी निर्देशक अथवा सद्गुरु की आवश्यकता होती है।

मिनक राम कहते हैं कि मुझे त्रिकुटी घाट का बाट नहीं सूझता है और वहाँ पहुँचना मेरे बूते की बात नहीं है जबतक कि सद्गुरु की दया न हो।[२१] वे 'सुन्दरी सोहागिन' को आमंत्रित करके उस ठग त्रिकुटी के घाट पर आने को कहते हैं जहाँ संत सौदागर बहुमूल्य सौदा लेकर उतरा है जहाँ 'हंसों' की कचहरी लगी है जहाँ मोहावन पोखरी है जिसमें से वह अमृतरस की 'गगरी' भर सकती है जहाँ अमरपुरी है जहाँ वह ब्रह्म को नयन भर देख सकती है।[३] वे एक पद में रूपक बाँधते हुए कहते हैं कि तुम पवन की उल्टी गति करके भवन में घुस जाओ वहाँ एक ऐसा तराजू बनाओ जिसमें प्रेम के 'पलरे' हों 'धीरज की डंडी हो और सुरति की 'नाथ' पहनाई हुई हो। ऐसे तराजू से दिन-रात 'सुख सहर' में निर्गुण नाम का सौदा तौलो। इससे अमरपद की प्राप्ति होगी।[३१] सुरति और पवन की स्वाभाविक गति बहिर्मुखी है किन्तु योग में उनको उलटकर अन्तर्मुख किया जाता है, इसलिए कई स्थानों पर इस उलटी गति का वर्णन है। आनन्द ने लिखा है—

आँख मूँदि के उलटा ताकू,
गाड़ी रहे अमाया रे।
शून्य देश में जहाँ कोय नहीं
पंछी तहाँ लुकाया रे।[३२]

गोविन्दराम ने कहा है कि साधक मूल द्वार से पवन को खींचकर 'उल्टा पंथ' चलाता है और मेरुदंड की सीढ़ी से चढ़कर शून्य शिखर पर चढ़ जाता है।[३३] मिनकराम कहते हैं—मूलचक्र की शुद्धि करो त्रिकुटी में श्वास नियमित करो और हमेशा 'गुड्डियाँ' उड़ाओ।[३४] सुहागिन वही है जिसके लिए गगन की किवाड़ उलटी खुल जाय जिसमें कि इड़ा पिंगला के संतुलन द्वारा वह 'सुरधाम' चढ़ सके, जहाँ पर उसके सद्गुरु हैं और जहाँ त्रिकुटी-मंदिर के भीतर अलख ज्योति प्रज्वलित है।[३५]

अनेक संतों के पदों में षट्चक्र, अष्ट-दल-कमल, द्वादश दल-कमल, षोडश दल-कमल, सहस्र दल कमल आदि के उल्लेख मिलेंगे। इन पदों में षट्चक्र शोधन का तात्पर्य पिंडगत मूलाधार आदि चक्रों का भेदन कर सुप्त कुण्डलिनी के जगाने से है और कमल-दल प्रकाश से तात्पर्य सुरति का आत्मा से होकर ब्रह्माण्डगत अन्तर्लोक में पहुँचकर दिव्यदृष्टि की प्राप्ति से है। कहीं-कहीं सभी चक्र के भागों में ही निवास की कल्पना की गई है। रामस्वरूप राम लिखते हैं कि जीवात्मा का निवास मूलचक्र पर है जहाँ चार दलोंवाला कमल प्रकाशित हो रहा है। जहाँ षड्दल कमल है वहाँ ब्रह्मा का जहाँ अष्टदल-कमल है वहाँ शिव शक्ति का निवास है।[६] गोविन्दराम बताते हैं कि साधक स्नान करके पद्मासन मारे और उन्मुनी मुद्रा में ध्यान करे गढ़ के भीतर प्रवेश कर छह चक्रों को पार करे और षोडश रस का आस्वादन करे। गढ़ में दस दरवाजे हैं और हरएक पर एक-एक थानेदार है। उन्मुनी मुद्रा के बल से इन दसों द्वार की किवाड़ियाँ खुल जायगी और एक विमल [illegible] दीख पड़ेगा। योगेश्वरदास बाह्य संसार को 'नैहर' और आभ्यन्तर जगत् को ससुराल कल्पित करते हुए सुहागिन से कहते हैं कि त्रिकुटी मध्य में दोनों नयन लगाकर पवन की उल्टी गति

फलाकर मकड़ी के तार के समान अविच्छिन्न सुरति की डोर के सहारे चढ़कर वहाँ बसो जहाँ पिया मिलेगा।[३८] एक अन्य संत कहते हैं कि अष्टदल-कमल अधोमुख रहता है। सुरति जब-जब जिस जिस दल पर जाती है तब-तब उस पर एक विशेष प्रभाव पड़ता है। जब पूर्व दल पर जाती है तब जीवदया, जब अग्निकोण के दल पर जाती है तब निद्रा और आलस्य, जब दक्षिण दल पर जाती है तब मात्सर्य और क्रोध, जब नैर्ऋत दल पर जाती है तब मोह, जब पश्चिम दल पर जाती है तब जड़ता, जब वायव्य कोण के दल पर जाती है तब विरोध, जब उत्तर दल पर जाती है तब भोग और जब ईशान कोणवाले दल पर जाती है तो अभिमान की वृद्धि होती है। साधना से इन दोषों पर विजय पाई जा सकती है।[३९]

योग की प्रक्रिया की अवस्था में 'सोऽहं' का जप आवश्यक होता है। वस्तुतः सोऽहं की अन्तर्ध्वनि का एक निरन्तर धार बँध जाता है।[४०] ब्रह्मानन्द कहते हैं कि इस प्रकार की सोऽहं ध्वनि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में नहीं, किन्तु उससे भी परे तुरीयावस्था में ही सुन पड़ती है। जबतक सोऽहं जप का अभ्यास न होगा तबतक दैहिक, दैविक और भौतिक ताप नहीं मिटेंगे, सागर के तीर पर रहते हुए भी साधक को नीर नहीं मिलेगा, कल्पतरु के तले निवास करते हुए भी दारिद्र्य नहीं नष्ट होगा।[४१] ध्वनि अथवा शब्द कालान्तर में स्वतः और सहज हो जाता है, साधक स्वयं शब्दमय हो जाता है और शब्द ही ब्रह्म है, अतः वह ब्रह्ममय हो जाता है। इसलिए शब्द का संतमत में बहुत बड़ा स्थान है।[४२] इसी शब्द अथवा अनाहत नाद की प्रधानता को ध्यान में रखते हुए योग की क्रिया को 'अनाहत योग' (अनहद योग) भी कहा गया है।[४३] ब्रह्माण्ड के जिस अनुभूति-लोक में योगी अपनी दिव्यदृष्टि द्वारा चित्त-वृत्ति की स्थिरता प्राप्त करता है और आनन्द का रसास्वादन करता है उसे अनेक संज्ञाएँ दी गई हैं—'सुन्न महल', 'सुन्न शहर', 'गगनगुफा', 'गगन मंडल', 'गम्म अटारी', 'सुन्न शिखर', 'अमरपुरी', 'गगन महल', 'सुन्न-मंदिर' आदि। टेकमनराम की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

सुन्ने आया सुन्ने जायगा सुन्ने का विस्तार।
सुन्ने सुन्न सहज धुन उपजे कर सब्दे निरधार॥[४४]

समाधि का यह शून्यलोक घट में ही है। भक्तिन मीराबाई कहती हैं कि—री सखी! मैंने घर में ही अपने 'पिया' को पा लिया है। मैंने बहुत दीप और व्रत किया, जोगिन बनकर बन-बन ढूँढ़ा, लेकिन मेरा समय व्यर्थ गया।[४५] स्पष्ट है कि यहाँ घट से तात्पर्य ब्रह्माण्डगत शून्यलोक से है। रामटहल राम कहते हैं कि—

सुन्न शिखर में अमित दमके
देखा पिय अपार।[४६]

किनाराम ने शून्यलोक की समाधि की व्यापकता तथा स्थिरता का विश्लेषण करते हुए कहा है कि 'जिस तरह घट के भीतर का सीमित आकाश उसके फूटने से असीम आकाश में मिल जाता है उसी प्रकार समाधि की अवस्था में श्वास प्राण में, शब्द शब्द में

माया माया में ब्रह्म ब्रह्म में हंस हंस में अविनाशी अविनाशी में काल शून्य में पवन पवन में जीव शिव में शिव निरंजन में निरंजन निराकार में निराकार अविगति में अनहद अविनाशी में और अविनाशी अपने आप में विलीन हो जाता है।[३०]

शून्य गगन में जिस दरबानशी का अनुभव और जिस आनन्द का आस्वादन होता है उसका संतो की 'बानियो' के आधार पर एक संक्षिप्त विवरण आगे प्रस्तुत किया जायगा। यहाँ इस योग-संबंधी चर्चा को समाप्त करने के पहले उक्त 'सुरत शब्द-योग' का विवरण दिया जाता है जिसे गोपालचन्द्र 'आनन्द' ने अपने 'आनन्द-योग' में भक्तो के कल्याण और सुगमता के लिए सरल शब्दों में लिखा है। यहाँ उनके विवरण में से कुछ चुने हुए अंश उन्हीं के शब्दों में उद्धृत किये जा रहे हैं :—

'लीजिये बात ही बात में मुक्ति भी सथ ही गई अर्थात् मन को वश में करने के लिये केवल सुरत-शब्द-योग का अभ्यास कीजिये।

'आँख कान जुबान को बाहर की ओर से बन्द करके उन्हें अन्दर की ओर खोलिये। यहाँ आन्तरिक जगत् में अपूर्व सुख और आनन्द मिलेगा। इसी प्रकार आँख अन्तर में प्रकाश देखती है। जिह्वा अन्तर का नाम जपती है। तीनो इन्द्रियों के लिये तीन काम मिल गये। अब तो मानेगा कि अब भी नहीं। इधर से हटे उधर को लगे। आन्तरिक जगत् के सुहावने दृश्य को देखकर, मनोरंजन बाजे को सुनकर अजपा जाप की मधुर बाणी में लीन होकर हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। यहाँ के मधुर गान मनोहर दृश्य तथा अजपा जप 'सोऽहं' 'सोऽहं' शब्द श्रवण करते ही सुरत सनसनाती हुई ऊपर की ओर उठी और आकाश में लीन हो गयी। यहाँ का अनुपम दृश्य अकथनीय है केवल अभ्यासी लोग ही उस सत् + चित् + आनन्द का दर्शन प्राप्त कर सकते हैं।

सहजे ही धुन होत है हरदम घट के माँह।
सुरत शब्द मेला भया मुख की हाजित नाँह ॥

जाग्रत में स्वप्न का और स्वप्न में जाग्रत का दृश्य देखकर इस श्रेष्ठ मार्ग में जो आया वह फिर वापस नहीं आता और न तो उसे जन्म-मरण का खटका रहता है। अब प्रश्न केवल यह है कि जब अन्तर में तीन इन्द्रियाँ काम करने लग गयीं तो फिर उन पर बन्द कहाँ लगा? हालत तो पहले जैसी थी वैसे ही अब भी रही केवल स्थान बदल गया। संसार में तीन प्रकार के ज्ञान अर्थात् प्रमाण अनुमान और शब्द होते हैं। प्रमाण तो इन्द्रियों का ज्ञान है। (देखना सुनना चखना यह प्रमाण ज्ञान है)। अन्दाजा लगाना नतीजा को देखकर कारण सोचना या विचारना अनुमान कहलाता है। इसका संबंध चित्त से है। शब्द गुरु का वचन और आप्त पुरुष का कथन है बाहिरी जगत् में ज्ञान इसी तरह प्राप्त होता है। आन्तरिक जगत् में इनके संस्कार चित्त में रहते हुए अपना काम करते हैं परन्तु भेद केवल इतना ही है कि कान यहाँ बाहिरी जगत् के शब्दों को सुनता था अब आन्तरिक जगत् में प्रवेश कर अनहद-शब्द को सुनता है आँख यहाँ और दृश्यों को देखती थी अब आन्तरिक जगत् में उस प्रकाशमय ज्योति को देखती है।

जुबान क्रमश अपना आप के सिवा किसी से संबंध नहीं रखती है। ये तीनों इन्द्रियाँ धीरे-धीरे क्रम स चुप हो जाती हैं वहाँ पहुँचने पर आँखों को सूर्य स चिराग की रोशनी दिखाई देती है। कानों में घण्टे की आवाज दूर स सुनाई देती है और जुबान दा दिल क साथ मिली हुई मन में लय हो जाती ह। आपने देखा होगा संध्या समय जब मंदिरों में आरती होती है तो मंदिर में चिराग ही दिखाई देता है और घण्टे का शब्द सुनाई देता है। यह इशारा रोशनी की धारा का केन्द्र (मरकज) ह क्योंकि हर स्थान पर धारा ही की रचना है। जिस प्रकार किसी कालेज में प्रवेश पाने के लिये इन्ट्रेन्स पास करना जरूरी है इसी प्रकार यहाँ भी है। इन्ट्रेन्स का अर्थ ही प्रवेश होने का फाटक है। अब आन्तरिक मंदिर में प्रवेश करें। मंदिर क्या है? यह आपका सर ही तो मंदिर है। क्या आप नहीं देखते कि शिवजी के मंदिर में अथवा मसजिद में गुम्बद है (ऊपरी गोल हिस्सा) यह बाहिरी मंदिर असली मंदिर की नकल है। सच्चा और असली मंदिर तो तुम्हारा सर है। हर मंदिर के बीच में आप एक त्रिकोनी (तिपहल) वस्तु देखते हैं इसे संत मत में 'त्रिकुटी' कहते हैं। आन्तरिक जगत् में प्रवेश कर गुरु की प्रकाशमय लाल रंग की प्रतिमा का दर्शन कर यहाँ दूर से घंटे और शंख की आवाज सुन रहे थे अब मृदंग या पखावज तथा मेघनाद के शब्द को दिल दो। यह अक्षरी शब्द है। कोई इसको 'ऊँ ऊँ' कहते हैं कोई-कोई 'बम' 'बम' बोलते हैं। मुसलमान फकीर इसे 'हू' 'हू' कहते हैं। गुरु नानक साहब के भक्त लोग 'वाह गुरु' कहते हैं। यह गुरु ही का स्थान है। यही शब्द है यही अनाहक है जो यहाँ आया वही सच्चा गुरुमुख या पीरमुरशिद हुआ और जो बाहरी जगत् के आडम्बरों में फँसा रहा वह मनमुखी होता है। इस आन्तरिक जगत् म प्रवेश करने पर ध्यान एवं ज्ञान की समाधि की अवस्था प्राप्त होती है, इस समाधि में अत्यन्त अँधेरा है। इस अवस्था का नाम 'सुन्न' और 'महासुन्न' है यह परमपद है। इस आन्तरिक जगत् में प्रवेश करने पर रंग-रूप का भेद दूर होकर आत्मा (रूह) और परमात्मा (खुदा) में लीन होकर 'ऊँ' या 'हू' 'हू' की आवाज को सुनकर त्रिकुटी भँवर गुफा आनन्द लोक तथा सत्तलोक की सैर करता हुआ सत्+चित्+ आनन्द हो जाता है।

जो इसमें पग ऊँचे धरे॥
रंग रूप रेखा से टरै॥
ऊँ शान्ति। शान्ति॥ शान्ति॥।"

२ दिव्यलोक और दिव्यदृष्टि

पूर्व प्रसंग के अन्त में जो पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं उनमें अनाहत शब्द तथा उस सुहावने दृश्य की संक्षेप में चर्चा की गई है जिनका अनुभव तथा साक्षात्कार साधक संत को होता है। शब्द और दृश्य के इस अद्भुत लोक को अनेक नामों से लक्षित किया

गया है—'सत-लोक' 'अमरपुर' 'गैब नगर' 'सुख सहर' 'आनन्द नगरी' 'नूर महल' आदि। यह लोक सबसे परे 'निरंकार' से भी परे है।[४५] यहाँ 'अलख' 'अलेख' का दर्शन मिलता है। आत्मा का असल घर अमरपुर ही है वह सिर्फ सौदा करने के[४६] लिए सौदागर बनकर इस माया के बाजार में आया हुआ है और सराय में डेरा डाले हुए है। उस दिव्यलोक को 'नूर महल' या 'गैब नगर' इसलिए कहा गया है कि यहाँ अद्भुत ध्वनि सुन पड़ती है और आश्चर्यजनक दृश्य दीख पड़ते हैं। 'सुख सहर' 'गगन गुफा' आदि नाम इस कारण हैं कि यह ध्वनि और ये समस्त दृश्य अपने ही 'कायागढ़' या 'कायानगर' के अन्दर विद्यमान हैं। इस दृष्टि से स्वर्ग और नरक सभी इस पिंड में ही हैं क्योंकि पिंड में ही ब्रह्माण्ड है।

हम कह चुके हैं कि संत-साहित्य में 'शब्द' एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। एक तो यह ब्रह्म का प्रतीक है क्योंकि राम अथवा सोहं ध्वनि सत् साधना तथा अभ्यास के अनन्तर स्वयं ब्रह्म का रूप ग्रहण कर लेती है और समाधि की अवस्था में साधक यह भूल जाता है कि उसकी सत्ता सोहं के अतिरिक्त है अर्थात् आत्मा शब्द-ब्रह्म में मिलकर अभिन्न हो जाता है दूसरे, शब्द सद्गुरु के मंत्र का भी प्रतीक है। सद्गुरु के महत्त्व की चर्चा हम अन्यत्र करेंगे किन्तु यहाँ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि संत और सद्गुरु में अन्योन्याश्रय है। ऐसा संभव नहीं कि बिना सद्गुरु के कोई संत हो जाय। जब साधक सद्गुरु की सेवा और सान्निध्य से अपने को पात्र साबित कर देता है तब सद्गुरु उसे अपनी शरण में ले लेते हैं उसे विधिवत् दीक्षित करते हैं और एक गुप्त मन्त्र भी देते हैं जिसे गुरु-मन्त्र कहा जाता है। शब्द का तात्पर्य इस गुरु मन्त्र से भी है। संतों की वाणियाँ भी 'शब्द' कही जाती हैं। हमने कबीर के शब्द' रैदास के शब्द दरिया साहब के शब्द नामक पदों के संग्रह देखे हैं। कबीर के शब्द-संग्रह को 'बीजक' भी कहते हैं। यहाँ 'शब्द' संतों की वाणी अथवा पद के ही अर्थ में है। बीजक का प्रयोग भी साभिप्राय है। वाणिज्य-क्षेत्र में बीजक (Invoice) उस पुर्जी या सूची को कहते हैं जिसमें क्रय विक्रय के पदार्थों का असली मूल्य अंकित है और जिसके साथ गोपनीयता का वातावरण रहता है। संत-साहित्य के जिज्ञासुओं को यह पता होगा कि अभी तक शत-सहस्र संतों की वाणियाँ ऐसी हैं जो मुद्रित नहीं हैं। वे या तो हस्तलिखित हैं या संतों के कंठ में हैं। सामान्य धारणा यह है कि ये वाणियाँ बाजार में खुलेआम बिकनेवाले मीरे के समान नहीं हैं। उनको साधारणतः गुप्त तथा सँजोकर रखना चाहिए, और उन्हें तभी प्रदान करना चाहिए जब योग्य शिष्य अथवा पात्र मिल जाय। इस तरह हम देखते हैं कि शब्द के सभी अर्थों में रहस्यमयता की अन्तर्धारा प्रवाहित हो रही है।

प्रस्तुत प्रसंग में सरभंग-संतों द्वारा किए हुए शब्द के कुछ ऐसे विवरण दिये जाते हैं जिनका संबंध शब्द-ब्रह्मवाले पहले अर्थ से है। किनाराम कहते हैं कि शब्द में और सत्पुरुष में कोई भेद नहीं है यह अज अमर अद्वितीय व्यापक तथा पुरुष से अभिन्न है सद्गुरु ही उसके रहस्य को बता सकता है।[४७]

एक दूसरे पद में वे कहते हैं—

> शब्द में शब्द है शब्द में आपु है
> आपु में शब्द है समुझ ज्ञानी।[५२]

शब्द अखंड ज्योति है जो शून्यलोक में प्रकाशित है और जिसके अवबोध से कठिन-से-कठिन भव-बंधन मिट जाते हैं तथा इस प्रकार की शांति मिलती है जिसमें केवल भाव ही भाव हैं अभाव का नाम नहीं।[५३] यह शब्द सामान्य अर्थ में प्रयुक्त शब्द से न्यारा है। यह उस विराट् शब्द का अंग है जो समग्र ब्रह्मांड में व्याप्त है। इसका ज्ञान 'अनुभव' से ही संभव है किन्तु यदि ज्ञान हो गया तो उसके सहारे हम भवसागर पार सकते हैं।[५४] इस शब्द को 'सहज' अथवा 'अनाहत' कहा गया है। सामान्य जगत् में प्रत्येक ध्वनि के लिए संघर्ष तथा आघात की आवश्यकता होती है किन्तु समाधि की अवस्था में जो शब्द गूँजता है वह सहज अथवा स्वतः उत्पन्न होता है और अनाहत अर्थात् बिना किसी आघात अथवा संघर्ष के पैदा होता है।[५५] शब्द विज्ञान अत्यन्त रहस्यमय है। वस्तुतः यह तर्क और बुद्धि के क्षेत्र की वस्तु नहीं है अनुभूति की वस्तु है—

> शब्द सो शब्द है शब्द सो भिन्न है शब्द बीजे कौन शब्द जाने।
> शब्द के ही हेतु उठे शब्द के ही सो बसे शब्द की आश गहि शब्द माने॥
> शब्द को उलटि के शब्द पहिचानले शब्द का रूप गहि क्यों बखाने।
> किनाराम कहै शब्द की समुझि बिनु, शब्द कहै कौन शब्द टाने॥[५६]

यहाँ 'शब्द का रूप गहि क्यों बखाने' इस अंश द्वारा शब्द की अनिर्वचनीयता का द्योतन है। टेकमनराम कहते हैं कि आत्मा में गुंजित 'अनहद शब्द' की उपमा एक ऐसे सुरम्य मंदिर से दी जा सकती है जो बिना जमीन के आधार के अवस्थित है।[५७] शब्द रूपी लक्ष्य को सिद्ध करना बहुत कठिन है किन्तु नाम के प्रताप से ऐसा संभव है।[५८] साधक जब चित्त की स्थिर वृत्ति को प्राप्त करता है तब उसके भीतर शब्द का ऐसा तार बँध जाता है कि वह कभी टूटता नहीं। शब्द एक अद्भुत अस्त्र है। और अस्त्रों के आघात से जीवित मृत हो जाता है किन्तु शब्द के आघात से मृत जीवित हो उठता है। वह अपनी कुमति खोकर और निर्भय होकर विचरने लगता है।[५९] पलटू दास कहते हैं कि इस अनहद के पार एक मैदान है उसी मैदान में पैर दबाइए और सिर उत्तर करके सोना चाहिए तथा 'शब्द की चंद्र' का सम्हाल कर रहना चाहिए।[६०] यहाँ शब्द की अकथनीयता की ओर इंगित है। भावनम ने दैनन्दिन जीवन में भी शब्द का लाभ बतलाया है। वे कहते हैं कि यदि मनुष्य क्रोध के आवेश में हो तब भी सुरम्य शब्द के साथ सुरति मिलाकर अजपा जप आरंभ करे; क्रोध स्वयं निवृत्त हो जायगा।[६१]

ध्यानावस्था में किस प्रकार का शब्द सुनाई देता है और किस तरह के अन्य रूप दीख पड़ते हैं इसकी संक्षिप्त चर्चा आवश्यक होगी। स्पष्ट है कि शब्द और रूपों

की अनुभूति भिन्न भिन्न संतों के साथ भिन्न भिन्न होती होगी। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि बाह्य जगत् में जिस प्रकार के सुख-वैभव की कल्पना व्यक्ति को होती है जिस प्रकार के ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष उसके जाग्रत् जीवन में होते हैं, वे ही वैभव और वे ही प्रत्यक्ष उसके आन्तरिक जीवन में होते हैं यह अन्य बात है कि वे बाह्य जगत् की देश काल और परिस्थिति से विच्छिन्न होकर पुनर्निर्मित होते हैं। ध्यानावस्था की आन्तर अनुभूति की तुलना बहुत-कुछ स्वप्न की अनुभूति से की जा सकती है। स्वप्न में हम एक तो अपने बाह्य जगत् के प्रत्यक्षों को दुहराते हैं और दूसरे, सम्भवतः समाज और मानापमान की भावना के कारण निरुद्ध किन्तु अतृप्त वासनाओं, कामनाओं अथवा महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति करते हैं। अन्तर्जगत् के स्वप्नलोक में भी हम बाह्य प्रत्यक्ष के आधार पर अपनी अतृप्त आध्यात्मिक लालसा को तृप्त करने की चेष्टा करते हैं। परिणाम यह होता है कि सामूहिक रूप से अन्तर्जगत् की विभूतियों का चित्र लगभग वैसा ही उतरता है जैसा बाह्य जगत् की विभूतियों का। वे ही जलाशय वे ही सरिताएँ, वे ही खिलते हुए कमल और तैरते हुए हंस वही नक्षत्रखचित (?) विविध वही सभाच्छन्न आकाश और अन्धकार को चीरती हुई तड़ित् की रेखा वही बहार, वही सुगन्धि, वे ही कलरव वैसी ही मधुर ध्वनियाँ; जैसी और जिन्हें हमने अपने दैनंदिन साधना विहीन जीवन में पसन्द करते हैं, वैसी ही और उन्हें ही अपनी ध्यानावस्था में मनःकल्पलोक में कल्पित करते हैं तथा अपनी कल्पनाओं को अनुभूति की तीव्रता और चित्त की एकाग्रता के सहारे साकार रूप देते हैं। योगी अपने अन्तर्जगत् में ही सुख और शांति क्यों चाहता है यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। सुख और शांति उसीको मिल सकते हैं जो स्वतन्त्र है क्योंकि परतन्त्रता ही दुःख और अशांति का कारण है। स्वतन्त्रता का अर्थ हुआ आत्मावलम्बन अर्थात् किसी भी वस्तु की प्राप्ति अथवा इच्छा की पूर्ति के लिए परनिर्भरता का परित्याग। इस परनिर्भरता के परिहार के लिए ही वह कछुए के समान बाह्य जगत् से अपनी 'सुरति' हटाकर अपने आप में विलीन कर देता है। सभी इन्द्रियाँ जो पहले बहिर्मुख होकर काम करती थीं अब अन्तर्मुख होकर जागरूक हो जाती हैं। परिणाम होता है अलौकिक ध्वनि तथा अद्भुत दृश्य का मानस प्रत्यक्षीकरण।

मिनकराम (?) कहते हैं कि अमरपुरी के देश में उन्हें मुरली की ध्वनि और छत्तीसों राग-रागिनियाँ सुन पड़ती हैं।[११] भीखीराम कहते हैं कि वहाँ बिना करताल मृदंग वेणु और बाँसुरी के मधुर बाजा बजता रहता है बिना दीपक के प्रकाश होता है वहाँ न चन्द्रमा है न सूर्य न गर्मी है न सर्दी।[१२] एक अन्य संत कहते हैं कि वहाँ 'कान' में अनवरत रूप से झन-झन टन-टन शब्द सुनाई पड़ता है।[१३] वहाँ न धरती है न आकाश; किन्तु फिर भी चन्द्र और सूर्य की ज्योति प्रकाशित रहती है तथा हा-हा-हा-हाकार का शब्द गूँजता रहता है।[१४] वहाँ नित्यप्रति दरबार अथवा कचहरी लगी रहती है।[१५] भगवती शारदा लक्ष्मी आदि देवियाँ सद्गुरु का यशोगान करती रहती हैं।[१६] अन्तरिक्ष के भवन में प्रचंड ज्योति जलती रहती है। कोई बजानेवाला नहीं है परन्तु फिर भी मृदंग पर ताल पड़ता रहता है और रंग बिरंग के पुष्प भरते रहते हैं—इतनी सुन्दरता वहाँ रहती है

कि मानो कोटि कामदेव विराज रहे हों।[8] रुनझुन-रुनझुन की मधुर ध्वनि झंकृत होती रहती है और अनेक प्रकार के वाद्य शंख, शहनाई, झाँझ, उपंग आदि के संगीत गुंजित होते रहते हैं।[9] उस 'शहर' में धरती नहीं है, किन्तु सर्वत्र बाग-बगीचे लगे हुए हैं और उनमें वसन्त ऋतु की छटा छाई हुई है; तालाब नहीं हैं किन्तु उन पर 'पुरइन' के पत्र सुशोभित हो रहे हैं और ऐसे फूल खिले हुए हैं, जिनका मूल नहीं है। कोठे के ऊपर चौमुख बंगला सजा हुआ है और उस बंगले में से अद्भुत ज्योति छिटक कर फैल रही है।[10] अनेक फूल—बेला, केवड़ा, गुलाब, चंपा, जूही, कुसुम, गुलदाऊदी—गगन में फूले हुए हैं और वासन्ती सुषमा विराज रही है।[11] वहाँ अति विस्तृत गंभीर समुद्र और उत्तुंग पर्वत हैं। पंछी का स्वर इतना तीव्र है कि उससे तीनों लोक ध्वनित-प्रतिध्वनित हो रहे हैं।[12] उस बैकुंठ-लोक में केसर और कस्तूरी की खेती होती है। वहाँ केवल सुगंध ही सुगंध, रंग ही रंग, छवि ही छवि है। शीशमहल, 'रतन महल', 'रंग महल'—सब कुछ वहाँ विद्यमान है।[13] खेती तो होती है लेकिन न हल चलता है, न कुदाल। 'भ्रमर भौंर' तो बहुत मौंजि के फूल जाते हैं किन्तु न चर्खा चलता है, न ताँती बीनती है, न बादल गरजता है, न वर्षा होती है, किन्तु फिर भी अमृतजल की कमी नहीं होती। वहाँ इतनी तृप्ति है कि भूख-प्यास सब मिट जाती है।[14] 'सुन सिखर' पर सुन्दर मंदिर सुशोभित हो रहा है। मानसरोवर का जल बिना बयार के मन्द-मन्द आंदोलित हो रहा है, बिना आकाश के बादल बरसता है और फिर सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश छा जाता है। जब तब 'ठनका' ठनकता है और बिजली चमकती है।[15] मोती, हीरे और लाल झर-झर-झर-झर झरते हैं। गुरु के चरण रज के सहारे इन अद्भुत दृश्यों के बीच परमात्म-तत्त्व के दर्शन होते हैं।[16] मानसरोवर की कल्पना को कुछ विस्तृत करते हुए बताया गया है कि वह एक अनुपम तालाब अथवा झील है, जिसके बीच में एक ऊँचा खंभ (धूप) है जिस पर ब्रह्म प्रकट विराज रहे हैं और जिसके चारों ओर कमल फूले हुए हैं।[17] एक सुन्दर मंडप छाया हुआ है, जो 'सुरति' की डोरियों से बना हुआ है।[18] वहाँ रात और दिन का क्रम नहीं है, आठों पहर चाँदनी छिटकी रहती है।[19] योगेश्वराचार्य के निम्नलिखित पदों में अमरपुरी की विभूति की एक संक्षिप्त रूपरेखा दी गई है—

> पिया के देश मेरे अजब सोहावन अचरज ख्याल पसारि।
> बिनु धिति जल दह पुरइन सोभे बिनु मूल फूल पसारि॥
> बिनु आकाश के घरत झलमला दामिनी दमक अपारि।
> हीरा रतन जवाहिर बरसे मोतिअन परत फुहारि॥
> बिनु बाजा के अनहद बाजे दसो दिसा झनकारि।
> दर्शन करो न देखा सो जाने बिनु रवि ससि उजियारि॥

योगियों का यह देवलोक सामान्य देवलोक से कहीं अधिक श्रेष्ठ है; वहाँ करोड़ों इन्द्र 'चाकर' के समान पानी भरते हैं और करोड़ों लक्ष्मियाँ 'पनिहारिन' (भृत्यिका) का काम करती हैं। इस लोक में पहुँच जाने पर पुनः मर्त्यलोक में आना

तीसरा अध्याय

आचार-व्यवहार

१ संत और अवधूत

अघोर-मत के प्रसिद्ध आचार्य किनाराम ने 'विवेकसार' अथवा 'संत' की 'रहनी' अर्थात् आचार-व्यवहार का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसे सत्यनिष्ठ होना चाहिए, उसे सद्गुरु में विश्वास होना चाहिए, उसे आध्यात्मिक प्रेम की मस्ती में विभोर हो धैर्य और भावना के मार्ग में आगे बढ़ना चाहिए, माया और अविद्या के भ्रम को परित्याग कर कामादि शत्रुओं को दण्डित करना चाहिए। सन्तोष उसका व्रत हो, क्षमा कुटुम्ब हो, धैर्य साथी हो और कर्तव्य सखा।[1] वह दयालु धर्म और सत्पुरुष में मग्न रहता, वैर-रहित सद्गुण-समन्वित वासनाओं और तृष्णाओं से पृथक् हो। वह ज्ञान रूपी रवि के प्रकाश से आशा-तृष्णा-रूपी अंधकार को विनष्ट करे, वह निष्पक्ष तथा निर्मल स्थिरचित्त हो, सहज सन्तोषी हो, मन-वचन और कर्म से सबके कल्याण का आकांक्षी हो। ऐसा ही संत 'राम का स्नेही' होता है, उसे काल तथा कर्म के बन्धन नहीं सताते और जो कोई उसकी संगति करता है उसके सुख और सुकृत जाग जाते हैं।[2] वैष्णव-शाखा के संतों में भगवानराम और कृष्णाराम दो प्रसिद्ध संत हुए हैं। 'कृष्णाराम-भगवानराम-चरित्र' नामक ग्रन्थ में प्रश्नोत्तरी शैली में संतों के लक्षण विस्तार से दिये गये हैं। भगवानराम प्रश्न करते हैं कि इस संसार में अनेकानेक पंथ, अनेकानेक वेश, अनेकानेक मत और अनेकानेक उपदेश प्रचलित हैं, कोई तपस्वी है तो कोई पूजक और मनी, कोई वैरागी और संन्यासी है तो कोई मलंग और उदासी, कोई जटा, भभूत, तिलक, मृगछाला धारण किये है तो कोई कंठी और माला—क्या ये ही संत के लक्षण हैं?[3] कृष्णाराम उत्तर देते हैं कि किसी वेशभूषा विशेष के धारण करने से संत नहीं होता और न जटा, भभूत तथा मृगछाला पहनकर 'जोगी' बन अलख जगाने से। संत के लिए पूजा-पाठ, मत-पंथ या धर्मकाण्ड आवश्यक नहीं है, आवश्यक यह है कि वह 'रामनाम का रसिया' हो। वे पुनः कहते हैं कि जो तथाकथित साधु दुनिया से पीठ फेरकर जंगल पर मात्र उड़ान हैं और बिना परिश्रम मोटे होते जाते हैं वे 'कूर संत' हैं। सच्चा संत अपनी 'अनाथता' तथा दीनता का व्रत धारण करता है, अमर्ष नहीं, कामना छल-बल से परोपकार करता है और जो कुछ मिल गया उसीसे सन्तोष ग्रहण करता है। उसके लिए धन पूर्ण-कण के समान और नारी नागिन के समान है। यदि वह समाज का खाता है तो समाज के कल्याण के लिए मेहनत भी करता है। वह 'निन्दा और स्तुति' आशा और तृष्णा से परे रहकर रामनाम भजन में लगा रहता है। वह मान-मद रूपी मतंग को विराग रूपी अंकुश से वश में करता है और ज्ञान-रूपी 'पैकर' (पर बन्धन के लिए रस्सा)

बाँधकर उसकी गति को नियंत्रित करता है। अविद्या उसके लिए विष है और गरब गौरव है। वह समर्थ होते हुए भी अपनी सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करता। सबकानी होकर भी अपने को अनजान समझता है। कुछ साधु 'झाड़-फूँक' और 'जंतर-मंतर' के फेर में पड़े रहते हैं। वे हाथ में 'सुमिरनी' और बगल में भागवत तथा गीता की पोथी दबाये घूमते फिरते हैं। ऐसे पाखण्डी साधु मानो जान-बूझ कर जगत् में विष बोते हैं। सच्चे संत को कामिनी को बाघिन समान और कांचन को सर्प-दंश के समान त्याज्य समझना चाहिए। उसे निरभिमान होकर राम भजन में उन्मत्त बना रहना चाहिए।[६] कर्त्ताराम ने लिखा है 'साधेउ ना तन साधु कहाँ ?' अर्थात् तनुम् साध्यतीति साधुः। साधु वही है जो अपने शरीर, उसकी इन्द्रियों और वासनाओं को नियंत्रित करे। बहुत-से साधु क्रोधी होते हैं। उन्हें समझना चाहिए कि क्रोध और बोध परस्पर विरोधी गुण हैं। कितने साधु मन नहीं मारकर जीव-जन्तु मारते और खाते हैं। यह दुःख की बात है।[७] किनाराम ने कहा है कि फकीरी बादशाही है जो ऐसे ही संत के लिए संभव है जो वीर सिपाही है जिसने मन की तृष्णा जीत ली है।[८] बोधीराम ने संत और नृप का प्रतिबिम्ब रूपक बाँधा है। वे कहते हैं कि उसके शीश पर क्षमा का छत्र विराजता है उसके पार्श्व में दया और सम्मान का चँवर डोलता है, उसके आगे राम की ध्वजा फहराती है; जब वह शील, संतोष और सद्गुरु-कृपा की सेना लेकर अभय का डंका बजाता हुआ धावा बोलता है तब काम क्रोध आदि शत्रु डरकर भाग जाते हैं। दीनता और गरीबी संत के लिए गर्व की वस्तु हैं मड़ई उसके लिए महल है 'तर्ई' (चटाई) उसके लिए शोभक है।[९] संत के लिए समभाव अथवा गीता के शब्दों में स्थितप्रज्ञ और स्थिरधी होना आवश्यक है। कभी कोठा और अटारी कभी जंगल और झाड़ी; कभी पंचपदार्थ भोजन कभी भूखे शयन; कभी ओढ़ने के लिए शाल और दुशाला तो कभी मात्र कौपीन और मृगछाला—टेकमनराम कहते हैं कि इसीका नाम फकीरी है।[१०] संत के लिए लाभ हानि शत्रु मित्र सभी बराबर हैं। समता और शान्ति के आलोक और सद्गुरु वचन की ज्योति के बिना मानव-हृदय तमसाच्छन्न रहता है। जब प्रकाश की किरणें संत के हृदयाकाश को उद्भासित करती हैं, तब वह भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है।[११] संत के हृदय में जब ज्ञान-रूपी कृशानु प्रज्वलित होता है, तब उसमें काम क्रोध आदि उसी प्रकार भस्म हो जाते हैं जैसे अग्नि में दिये हुए पेड़-पौधों के बीज।[१२]

त्याग तपस्या और विराग ये ही संतों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। भ्रमनाशक प्रश्नोत्तरी में लिखा है—'जो विरक्त है चाहे गृहस्थ हो चाहे जटिल हो यदि वह आत्मा का ही चिन्तन करता है और धर्मेश्वारी है तो वह शुद्ध संन्यासी है क्योंकि संन्यास नाम त्याग का है कुछ वेश-मात्र धारण करने का नहीं। ज्ञान-तत्पर का नाम संन्यासी है जिसने सत्कार, मान पूजा के अर्थ दण्ड-काषाय धारण किये हैं, वह संन्यासी नहीं है।'[१३] जिसे विरक्ति हुई उसे ही सच्चा ज्ञान मिलता है। पलटूदास ने आदेश दिया है कि ज्ञान-रूपी खड्ग को हाथ में लेकर काम तथा क्रोध के दल का विनाश करना

विकास होता है। रामायण-महाभारत और पुराणों में शत-सहस्र ऐसे कथानक आये हैं, जिनमें प्राप्तसिद्धि ऋषि-मुनियों और संतों ने वरदान भी दिये हैं और शाप भी। 'भ्रमनाशक प्रश्नोत्तरी' में तप दो प्रकार का बताया है—एक निष्काम और दूसरा सकाम। जो सकाम तप करते हैं उनका लक्ष्य होता है ऐसी सिद्धि प्राप्त करना जिसके द्वारा वर और अभिशाप की क्षमता हो। किन्तु निष्काम तप का एकमात्र उद्देश्य होता है अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ज्ञान की प्राप्ति। सच्चा संत वही है, जो निष्काम तपस्वी है।[१९] निष्काम तपस्वी होने का यह अभिप्राय नहीं है कि वह लूला-लँगड़ा बना रहे अथवा अजगर के समान चुपचाप बैठा रहे। उसका जीवन लोक-कल्याण में रत होना चाहिए, यद्यपि उससे उसे किसी फल की आकांक्षा नहीं होगी।[२०] किन्तु ऐसे संत गाँव-गाँव और नगर-नगर में नहीं मिलते, ठीक उसी तरह जिस तरह जंगल में गीदड़ और लोमड़ियाँ तो लाखों की संख्या में होती हैं किन्तु मृगराज समस्त वन-खण्ड में एक ही होता है। सभी शिलाओं में माणिक्य नहीं होता और न सभी गजों में गज-मुक्ता ही मिलती है सभी सर्पों में मणि नहीं होती और न सभी सीप में मोती सभी जंगल चंदन के नहीं होते और न सभी बाँस में वंशलोचन ही मिलता है। सच्चे संत भी जग में विरले उपलब्ध होते हैं।[२१]

संत की विशेषताओं का प्रसंग समाप्त करने के पहले हम 'आनन्द' की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करेंगे, जिनमें उन्होंने यह बतलाया है कि भगवान् अपने भक्तों में आठ गुण देखना चाहते हैं। वे ये हैं—

दो गुण उनके हृदय में—

(१) नियुक्ति नियमों के अनुसार चलना।

(२) भगवान् के बनाये हुए जीव-जन्तुओं पर दया रखना।

दो गुण उनकी जिह्वा में—

(१) उनके नाम का सुमिरन।

(२) सत्य भाषण।

दो गुण उनके नेत्रों में—

(१) आँखों को सदा अपने और गुरु के कमल-चरणों में समाये रखना।

(२) भगवान् को प्राणिमात्र में उपस्थित देखना।

दो गुण उनके कानों में—

(१) भगवान का चरित्र या कथा सुनना।

(२) अन्तरीय शब्द सुनना।

'आनन्द' ने कुछों से नौ गुण सीखने के लिए साधक को प्रेरित किया है—

(१) अक्सर भूखा रह जाना।

(२) किसी खास जगह पर निवास न करना।

(३) रात में कम सोना।

(४) मरने पर कुछ छोड़ नहीं जाना।

का पता उससे मिलता नहीं है। सच्चा संत योगी मुनिवर ज्ञानी सबसे ऊँचा है। संत कबीर का एक पद देखिए—

> जोगी गोरख जोगी भी गोरख मुनिवर ज्ञानी।
> कहे कबीर एक संत न गैरत, जाके स्थिर ठहरानी॥[१४]

२ सद्‌गुरु

भक्ति और साधना के क्षेत्र में गुरु का अत्यन्त अधिक महत्त्व है। सगुण तथा निर्गुण दोनों धाराओं के कवियों तथा संतों ने इस महत्त्व को प्रतिपादित किया है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' के प्रारम्भ में—'गुरु पद पदुम परागा' की वन्दना की है और यह कहा है कि गुरु की कृपा से गुप्त और प्रकट सभी भेद दीख पड़ने लगते हैं। निर्गुण संत-मत में गुरु की महत्ता और अधिक बढ़ जाती है क्योंकि इसमें ध्यान-योग को साधना का अनिवार्य अंग माना गया है और प्रसंगतः हठयोग की भी प्रक्रियाओं को प्रश्रय मिलता है। निरे ग्रन्थों के अध्ययन से यौगिक क्रियाओं का अभ्यास संभव नहीं है क्योंकि कई उदाहरण ऐसे देखे गये हैं जिनमें बिना गुरु के निर्देश से उन क्रियाओं का अभ्यास करनेवालों को शारीरिक तथा मानसिक क्षति पहुँची है। कुछ तो विधिवत् प्राणायाम आदि नहीं करने के कारण उन्मत्त होते देखे गये हैं। इसके अतिरिक्त तांत्रिकों और उनसे प्रभावित मतों में बहुत-से मंत्र और साधना की विधियाँ गुप्त तथा रहस्य के आवरण में ढककर, रखी जाती हैं और महीनों तथा वर्षों गुरु की निरन्तर सेवा के पश्चात् ही साधक को उनकी प्राप्ति होती है। उदाहरणतः शैव मत तथा शाक्त मत में भैरवी-पूजा और कन्या-पूजा का विधान है। ये पूजाएँ अत्यन्त गोपनीयता के वातावरण में संपन्न होती हैं। इनमें और अघोर-मत में 'श्मशान क्रिया' का भी विस्तृत विधान है। इसके द्वारा साधक शवों के माध्यम से अभिचार तथा साधना करते हैं और भूत पिशाच प्रेत डाकिनी शाकिनी आदि इतर लोकों की शक्तियों का आवाहन करते हैं। स्पष्ट है कि इस प्रकार की क्रियाएँ और साधनाएँ गोपनीय ढंग से ही की जा सकती हैं और इसके लिए किसी कुशल अभ्यस्त साधक अथवा गुरु की अनिवार्य अपेक्षा है। प्रत्येक साधक को गुरु से दीक्षा लेनी पड़ती है और गुप्त गुरु-मंत्र ग्रहण करना पड़ता है। आधारभूत भावना संभवतः यह है कि प्रत्येक विद्या के लिए पात्र होना चाहिए, क्योंकि अपात्र में संक्रमित विद्या न केवल वंध्य होती है बल्कि अनिष्टकर भी हो सकती है। पात्र की पहचान के लिए आवश्यक है कि उसकी परीक्षा की जाय और परीक्षा के लिए एक परीक्षक अथवा गुरु का होना आवश्यक है। इन विचार बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए हम यह सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि संत-मत में गुरु की सर्वातिशायी महिमा क्यों गाई गई है।

किनाराम ने लिखा है कि गुरु ही चारों वेद अग्नि चन्द्रमा सूर्य पृथ्वी आकाश पवन जल त्रिभुवन चारों युग और तीनों लोक हैं। उनकी कृपा-छाया में हम

श्रमय विचरण कर सकते हैं। गुरु जीवों के बीच परमजीव शिव हैं वे ज्ञान के भी ज्ञान और भवसागर से मुक्त हैं वे निर्मल नित्य-स्वरूप और संकटहरण हैं वे मोक्ष-रूपी पवित्र परम पद को देनेवाले हैं।[१९] एक दूसरे संत गुरु को परम ब्रह्म मानकर उनका नमन भजन तथा स्मरण करते हैं।[२०] गुरु नित्य शुद्ध निराकार, निर्मल चिदानन्द का प्रबोध कराते हैं। वे आदि और अनादि दोनों हैं गुरुदेव आदि हैं और परम गुरुदेव अनादि हैं। *गुरु-मंत्र के समान दूसरा कोई मंत्र नहीं है* अतः 'नमो नमो गुरु श्री भगवाना'। सभी तीर्थों में स्नान करने से जो फल होता है वह गुरु-चरणोदक लेने के फल का सहस्रांश भी नहीं है; ब्रह्मा विष्णु और महेश भी गुरु की तुलना नहीं कर सकते।[१] गुरु-चरणामृत के पान करने से पृथ्वी में पाप रूपी पंक सूख जाता है और ज्ञान-रूपी दीप प्रज्वलित हो जाता है मानव भव-वारिधि को पार कर जाता है और उसके जन्म-कर्म जनक अज्ञान का नाश हो जाता है। जो भक्त गुरु का चरणामृत पीता है गुरु का उच्छिष्ट भोजन करता है गुरु-मंत्र का ध्यान करता है और गुरुनिष्ठ होकर गुरु की स्तुति करता है वह ज्ञान और विराग की सिद्धि प्राप्त करता है।[११] गुरुदेव को साक्षात् देव समझना चाहिए। वे विपत्ति को हरते हैं और दुःख-द्वन्द्व का नाश करते हैं। गुरु ही एकमात्र सत्य तत्त्व हैं। वेद पुराण शास्त्र इतिहास मंत्र, तंत्र वैष्णव शैव, शाक्त, सौर आदि गुरु के बिना विडंबना मात्र हैं। 'गुरु' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए बताया गया है कि 'गु' अज्ञान का वाचक है और 'रु' प्रकाश का। अतः गुरु वह है जो अज्ञान रूपी अंधकार को दूर कर ज्ञान-रूपी प्रकाश प्रदान करता है।[२] जो भक्त बिना तीर्थों का भ्रमण किये घर में ही रहकर गुरु की सेवा करता है उसे राम मिलते हैं।[२१] गुरु शब्द की वैसी व्युत्पत्ति ऊपर दी गई है उसी से मिलती-जुलती व्याख्या 'गुरु-भक्त अवमाल' में संस्कृत श्लोकों में दी गई है। एक दूसरी भी व्याख्या दी गई है जिसमें 'गकार' से सिद्धि की प्राप्ति, 'उकार' से शम्भु का ध्यान और 'रकार' से पाप का विनाश माना गया है।[२२] ब्रह्मानन्द ने गुरु और ईश्वर को अभिन्न माना है और उसके प्रतिपादन में उन उपमाओं को प्रस्तुत किया है जिन्हें हम अद्वैत ब्रह्म और द्वैत जगत् अथवा निर्गुण और सगुण की विवेचना में प्रस्तुत करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि गुरु उसी प्रकार ईश्वर की अभिव्यक्ति है जिस प्रकार तरंग फेन और बुद्बुद जल के अथवा विविध भाजन मिट्टी के और अंग प्रत्यंग के भूषण सोने के।[२३] मायामय शरीर से लिपटा हुआ जीवात्मा दूषित तथा मैला रहता है। गुरु ही उसे उस प्रकार परिष्कृत करते हैं। जिस प्रकार कुम्हार बर्तन गढ़ने के पहले मिट्टी को स्वर्णकार आभूषण बनाने के पहले सोने को, लोहकार यंत्र बनाने के पहले लोहे को, बढ़ई सामान बनाने के पहले लकड़ी को तथा दर्जी पोशाक सीने के पहले कपड़े को।[२४] जिस प्रकार वैद्य रोगयुक्त नेत्र को अंजन की शलाका डालकर रोगमुक्त करता है जिस प्रकार हकीम पीर से मरे कलोंजी को सीकर स्वगुणयुक्त शरीर को स्वस्थ करता है जिस प्रकार चिकित्सक रोगोपयुक्त औषधि देकर मरने पर को भी बचा लेता है और जिस प्रकार शिल्पी शिल्पी उत्तर-स्थापन पत्थर से मूर्ति शिला पर गढ़ लेता है उसी प्रकार गुरु भ्रम को दूर कर सत्य का प्रदर्शन करते हैं।[२]

किनाराम ने गुरु को कल्पतरु के सदृश माना है; क्योंकि उन्हींकी कृपा से उन्हें आत्मानुभव हुआ।[३९] उन्होंने समग्र संसार का व्यवहार तथा अद्वैत तत्त्व सद्गुरु की कृपा से ही जाना। जहाँ ज्ञान की पहुँच नहीं है और जहाँ कर्म की गति नहीं है उस परम तत्त्व को गुरु ने प्रकट दिखला दिया। उससे शिष्य को सच्चा अनुभव हुआ और 'सोऽहम्' हो गया।[४०] यह संभव नहीं कि कोई अनंत अगाध, अतिशय अगम और व्यापक ब्रह्म को बिना गुरु कृपा के जानकर निर्वाण प्राप्त कर सके।[४] गुरु से 'ज्ञान' समाये बिना मुक्ति संभव नहीं है।[४२] गुरु सर्वस्व-सामर्थ्ययुक्त है भक्त जो गुरु की शरण में आया उसे यम-त्रास को कौन कहे मुक्ति भी सहज ही मिल जाती है। जिसने राम-नाम की डोरी पकड़ ली उसे कोई चिन्ता नहीं क्योंकि उसकी रखवाली सद्गुरु स्वयं करते हैं। साधना ही नहीं भजन के लिए भी गुरु की आवश्यकता है।[४४] सद्गुरु का शब्द उस जहाज के समान है जिस पर चढ़कर भक्त रामनाम रूपी पतवार के सहारे भवसागर पार उतर सकता है।[४५] एक दूसरे पद में सद्गुरु को 'भँवर में पड़ी हुई नैया का 'खेवैया' कहा गया है।[४६] भलखानन्द कहते हैं कि 'साधो गुरु बिन तरै न कोई।[४७] बिना गुरु से ज्ञान पाये भ्रम नहीं मिटता और नित्य ब्रह्म तथा अनित्य जगत् का तात्त्विक भाव समझ में नहीं आता। 'गुरु' ये दो अक्षर सभी मंत्रों के राजा हैं और इनमें ही आगम पुराण सब निहित हैं।[४८] तृण से ब्रह्म-पर्यन्त सब गुरु में अन्तर्हित है। सच पूछिए तो 'परमात्मा भी गुरु भगवन्ता'। जितने भी तीर्थ हैं वे सभी गुरुचरण के अंगूठ में निवास करते हैं।[४९] एक दृष्टि से गुरु भगवान् से भी बढ़कर है। व्यापक भगवान् सूक्ष्म और अदृश्य है किन्तु गुरु प्रकट और दृश्यमान हैं।[५०] निर्गुण अकल अलक्षित देश का निवासी है जहाँ तक पहुँचना केवल गुरुमुख के आदेश से ही संभव है।[५१] आत्मा में गुरु-ज्ञान का प्रकाश वैसा ही है जैसा सघन अंधकार में सूर्य की किरणों का आलोक।[५]

'आनन्द-सुमिरनी में 'संत सुन्दर' लिखते हैं कि इश्क की मंजिल बहुत दुश्वार होती है लेकिन सद्गुरु अथवा पीर की कृपा (करम) हो तो आसान हो जाती है। वेद और कुरान हमें 'राहे वफा' पर नहीं ले जा सकते। यह तो 'फज्ले मुरीद' है कि जिससे हमें आनन्द की प्राप्ति होती है।[५३] यदि गुरु की दृष्टि हम पर तिरछी पड़ती है तो हमारा कल्याण नहीं; जिस पर सीधी और पूर्ण दृष्टि पड़ती है वह प्रेम-सुधारस में निमग्न हो जाता है।[५४] संत रामसखी लिखती हैं—गुरु ने प्रेम का प्याला पिला दिया है और नयन से नयन मिलाकर हृदय में 'प्रेम का मासा' गाड़ दिया है; मेरी सुध-बुध नष्ट हो गई प्यार में मतवाली बन गई मुझे दिन-रात कभी नींद नहीं आती मैं बेचैन हूँ मेरे हृदय में रह-रह कर ज्वाला उठती रहती है।[५] क्षण भर भी गुरु की मुखाकृति नहीं भूलती मेरे नयन उनके चरण-कमल के लोभी बन रहते हैं मैंने अपना तन-मन-धन और 'सुरति' गुरु को ही निछावर कर दी है।[५६] गुरु के प्रति भक्ति की पूर्ण शिष्टाचार के साथ बरतना चाहिए क्योंकि गुरु और राम में कोई अन्तर नहीं।[५७] जो गुरु की निन्दा करता है वह रौरव नरक का भागी होता है। अन्यत्र लिखा है कि कुछ शिष्य अपनी बुद्धि विद्या

के अहंकार में गुरु से 'हुज्जत' (वाद विवाद) करते हैं और सामने में गुरु को हरा देते हैं ऐसे लोग दूसरे जन्म में निशाचर और ब्रह्म पिशाच होते हैं।[१४] कुछ मूर्ख गुरु के समीप ही निर्लज्जता से मल-मूत्र का परित्याग करते हैं वे महानरक के अधिकारी होते हैं।[१५] गुरु-मुख की विद्या बिना भक्ति के प्राप्त नहीं की जा सकती। चौदहो भुवन नागलोक देवलोक सब घूम आइए, किन्तु गुरु के बिना रहस्य का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः गुरु के लिए आसन भोजन वसन सबकी सुन्दर व्यवस्था करनी चाहिए और जहाँ से भी उत्तम वस्तु की प्राप्ति हो सके, उसे गुरु-चरणों में समर्पित कर देना चाहिए।[१] गुरु से बढ़कर कोई तप नहीं गुरु से बढ़कर कोई तत्त्व नहीं और गुरु से बढ़कर कोई ज्ञान नहीं।[१६] जो पूरी निष्ठा से गुरु की भक्ति नहीं करते हैं और सन्त-मत में आ मिलते हैं वे धोबी के कुत्ते के समान न घर के होते हैं और न घाट के क्योंकि उधर जातिकुल से नाता टूट ही गया और इधर भजन का भेद भी गुरु से नहीं पाया।[१७] भक्त का सुपात्र होना आवश्यक है। हरेक सीप में स्वाति बिन्दु मोती नहीं हो जाता वही गजकुम्भ में गजमुक्ता होता है तो सर्प के शीश पर विष बन जाता है।[१] तात्पर्य यह है कि गुरु की कृपा रहते हुए भी यदि भक्त सुपात्र नहीं है तो उसको कोई लाभ नहीं हो सकता। भीखमराम कहते हैं कि ऐसी परिस्थिति में—

होय न गुरु के सरनिया साथी। समझहु अपन करनिया।

अतः जो आत्महित चाहता है उसे सदैव गुरु का यश-कीर्तन करना चाहिए। जो ऐसा नहीं करता वह शठ, पापी और अभागा है।[१] 'आनन्द' कहते हैं—

'आनन्द' गुरु परताप से को नहीं भये समर्थ।
जिन गुरु चरनन ना गह्यो तिनको जीवन व्यर्थ॥[११]

हमने ऊपर इस बात की चर्चा की है कि मोक्ष के साधना-पथ पर अग्रसर होने के लिए गुरु का पद-पद पर निर्देशन आवश्यक है। अतः संतों ने जब गुरु की महिमा गाई है तो यह भी कहा है कि उन्होंने सत्तत्त्व के भेद अथवा रहस्य को प्रकट किया और ऐसी दिव्यदृष्टि दी जिसके सहारे वे अमरपुर में अपना स्थान पा सके और मोक्षानन्द प्राप्त कर सके।[१२] दरियाराम लिखते हैं कि 'सुन भवन' में 'पिया की 'नगरिया (निवास) है। वहाँ पहुँचकर सद्गुरु ने जगमग ज्योति दिखाई और 'त्रिवेणी संगम' में स्नान कराकर अभ्यन्तर मार्ग के सहारे शब्द-ब्रह्म का साक्षात्कार कराया।[१३] रामटहलराम मानते हैं—

सतगुरु शब्द लखाई साधो सतगुरु शब्द लखाई।

मिनकराम इसको गुरु की 'नगरिया' जाने की आशीष करते हैं जहाँ हीरे और लाल उपजते हैं।[१] 'आनन्द प्रकाश' में एक भक्त 'श्यामसुन्दर' माधुर्य-भक्ति के प्रसंग में लिखते हैं—जब मैं 'पिया की नगरिया' बहुत चली तो मुझे बहुत तंग गली मिली और उसके द्वार पर वज्र की किवाड़ लगी थी उसमें बड़ी साँकल लगी थी और 'कठार ताला' बन्द था इसे देखकर मैं निराश हो गई, लेकिन ज्योंही मैं लौटने लगी त्योंही सद्गुरु मिल

गये उन्होंने मेरी बाँह पकड़ ली किवाड़ खोल दी और अपने साथ भीतर 'आनन्द की कचहरी' में ले गये।[१४] भक्तिन सुरसती की यह गजल देखिए—

कठिन रास्ता जोग और ज्ञान का है।
कदम इस पै रखना जरा डरते डरते॥
सहज ही है आनन्द भक्ति से मिलना।
मगर देर कुछ लगती है लखते-लखते॥
सुरसती गुरु का चरण छोड़ना मत।
सफर कामगा सब सँवरते-सँवरते॥[१५]

अगमनगरी के बन्द दरवाजे की कुञ्जी केवल गुरु ही दे सकते हैं। वे अवसर आते ही दरवाजा खोल देते हैं जिससे कि हंस के साथ हंस मिल जाता है।[१६] टेकमनराम ने कहा है कि सद्गुरु की कुञ्जी से छहो ताले (षट्चक्र) खुल जाते हैं और दबी हुई अनमोल वस्तु सूझने लगती है। बिना गुरु के मनुष्य शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर सकता है किन्तु उसे उस 'अनुभव' की उस दैवी शक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती जिसके सहारे वह गगन महल में डेरा डाल सके।[१] रामदहलराम ने इसे 'समुझ-विचार' कहा है।[१९] 'आनन्द सुमिरनी' में हनीफ नामक भक्त ने बताया है कि जिस तरह कुरान के साथ-साथ नबी का होना आवश्यक है उसी तरह सत्पुरुष के साथ-साथ सद्गुरु का होना आवश्यक है। यही कारण है कि मुसलमान 'ला इलाहे इल्लिल्ला' कहकर ही सन्तुष्ट नहीं होते जबतक साथ-ही साथ 'मोहम्मदे रसूलिल्ला' नहीं कह लेते।[२०] आनन्द ने सद्गुरु के चरणों में रहकर उनकी कृपा से प्राप्त दिव्यदृष्टि में जो अद्भुत दृश्य देखे, उन्हें वे ज्यों-का-त्यों सदा-सर्वदा प्रत्यक्ष करते हैं[२१] और आनन्द की मस्ती में गा उठते हैं—

पीर के कदमों पर हम जिस दिन से कुर्बां हो गये।
जिस कदर थे दिल में मेरे पूरे अरमाँ हो गये॥[२२]

२ सत्संग

गुरु की सेवा और संतों की संगति का महत्त्व सभी अध्यात्मवादियों और धार्मिक पंथ-प्रवर्तकों ने प्रतिपादित किया है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी लिखा है—

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला इक अंग।
तुलै न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

अर्थात् एक तरफ स्वर्ग और अपवर्ग का सुख तथा दूसरी तरफ सत्संग का सुख! दोनों की तुलना संभव नहीं है क्योंकि स्वर्ग और अपवर्ग का सुख सत्संग सुख के बराबर को भी नहीं पा सकता। प्रत्येक मानव में 'अहम्' की भावना निसर्ग से निहित होती है। यद्यपि अहम् भावना का सर्वथा निरोध उचित नहीं है किन्तु यदि वह औचित्य की सीमा

पार कर जाती है तो दर्प, अभिमान और अहंकार की संज्ञा ग्रहण करती है। अभिमानी व्यक्ति कभी उन्नति नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि वह दूसरे में अपने से अतिशायी गुण का आधान नहीं कर पाता। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने में अहम् भावना के साथ-साथ आत्मनियोजित दैन्य भावना का समावेश करना चाहिए। प्रकृति और समाज भी हमको यही शिक्षा देते हैं। एक शिशु अपने छोटे भाई के प्रति तो बड़प्पन का अनुभव करता है किन्तु अपने बड़े भाई अथवा माता पिता के प्रति विनय का अनुभव करता है। विनय और बड़प्पन का संतुलन ही मानव-जीवन के समुचित विकास का प्रेरक है। विनय की साधना के लिए सबसे उपयुक्त क्षेत्र है भक्ति का क्षेत्र। अन्य क्षेत्रों में बड़े और छोटे का तारतम्य सदा विद्यमान रहता है। उदाहरणार्थ एक-से-एक धनी इस दुनियाँ में हैं और यह कहना कठिन है कि कोई भी ऐसा धनी है जिससे बढ़कर दूसरा धनी नहीं है। यदि वर्तमान में इस प्रकार का सबसे बड़ा धनी मिल भी जाय तो उसे भय लगा रहेगा कि दूसरे ही क्षण उसका प्रतिस्पर्द्धी उससे अधिक धनी न हो जाय। किन्तु भक्ति के क्षेत्र में यह बात नहीं। भगवान् से बढ़कर और उनसे बड़ा कोई नहीं है। अतः यह छोटे-से-छोटा भक्त भी जो भगवान् की शरण में आता है यह अनुभव करता है कि वह ऐसी सत्ता के समीप है जो बड़ी-से-बड़ी है और जिससे बड़ी न अतीत में थी और न भविष्य में होगी। परिणाम यह होता है कि उसकी आत्मारोपित दैन्य-भावना परिष्कृत अहम् भावना का रूप ग्रहण कर लेती है और उसे किसी प्रकार का वह मनःक्षोभ नहीं होता जो दैन्य की परिस्थिति में हुआ करता है।

सत्संग अर्थात् भगवत् भक्तों की संगति में आने से हम विश्व की बड़ी-से-बड़ी सत्ता से अधिक-से-अधिक सान्निध्य प्राप्त करते हैं और हमारे मन के सारे मैल धुल जाते हैं।[3] सत्संग से दूसरा लाभ यह होता है कि हम थोड़ी देर के लिए विषय-वासना की दुनिया से हटकर एक ऐसी दुनिया में पहुँचते हैं जहाँ हमें अध्यात्म-पथ के पथिक मिलते हैं। इससे हमारे हृदय में आत्मा और अनात्मा, नित्य और अनित्य, स्थायी और क्षणिक के बीच जो भेद है वह स्पष्ट दिखाई देने लगता है और हम अनित्य से नित्य की ओर और अनात्म-तत्त्व से आत्म-तत्त्व की ओर अग्रसर होने को लालायित हो जाते हैं। इसीका नाम है विवेक और यह बिना सत्संग के संभव नहीं है।[4] इसके अतिरिक्त राम-नाम बिन्दु में सिन्धु है। यह विराट् ब्रह्म का बीजमंत्र है। प्रत्येक बीजमंत्र का एक रहस्य होता है और उस रहस्य के उद्घाटन के लिए विशेष पद्धति अथवा 'गुर' (formula) की आवश्यकता है। यह पद्धति सत्संग से ही सीखी जा सकती है।[5] साधुओं की संगति कल्पवृक्ष के समान है जिसके सेवन से संसार के सभी दुःख और क्लेश मिट जाते हैं। यह मनुष्य जन्म वृथा नहीं खोना चाहिए, क्योंकि जिस तरह एक पत्ता जब डाल से सूखकर गिर जाता है तो फिर उसमें नहीं लगता उसी तरह मानव जीवन खोया तो हम फिर से उसे नहीं पा सकते। पोथी-पुस्तक हम न पढ़ें तो न पढ़ें किन्तु सत्संग अवश्य करें। 'मानव न स्वर्गलोक में मिलेगा न पाताल लोक में और न तो साधु-संग ही मिलेगा।'[6]

चाहे मनुष्य के हृदय में कितनी ही चिन्ता कितना ही क्षोभ क्यों न हो, सत्संग में आते ही चित्त स्वस्थ हो जाता है।[६४] जिन लोगों ने जब जब संतों से बैर किया उन लोगों ने तब-तब अपने कुकर्म का फल भोगा। हिरण्यकशिपु और रावण इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।[६५]

इसलिए जब कभी अवसर मिले सत्संग और साधुओं की सेवा करनी चाहिए।

वह घड़ी अच्छी है सबसे वह पहर अच्छा है।[६६]

जिस दिन और जिस घड़ी संत 'पाहुन' हमारे घर आ जाय उस दिन और उस घड़ी को शुभ लग्न समझना चाहिए। संत के आते ही जिज्ञासुओं की भीड़ लग जायगी। उनके दर्शन कर हमारे नयन तृप्त हो जायँगे और हमारा रोम-रोम पुलकित हो उठेगा। उनसे हमें दिव्यदृष्टि भी मिलेगी। अनेक दीक्षाएँ, अनेक उपदेश तथा वेद-वेदान्तों की शिक्षाएँ हमें भव सिन्धु के पार नहीं उतार सकतीं किन्तु 'संत-पद' ग्रहण करने से हम अनायास भवसागर पार कर सकते हैं।[६७] मानव-जीवन की अचिरस्थायिता को ध्यान में रखते हुए हमें समझना चाहिए कि सत्संग एक दुर्लभ वस्तु है और कोई भी अवसर सत्संग का नहीं खोना चाहिए।[१] भक्त महादेव के शब्दों में—

सुजन जन का सत्संग करते रहो तुम।
सुधर जायगा फिर करम धीरे-धीरे॥[२]

४ रहनी अथवा आचार विचार

(क) जात-पाँत

जात-पाँत भारत देश की एक चिरंतन समस्या है। वर्ण के रूप में मानवों का विभाजन तो जब से भारतीय सभ्यता अथवा आर्य सभ्यता है तभी से प्रचलित है। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत'—इस मंत्र में ब्राह्मण आदि वर्णों का ऐसा उल्लेख है कि जिससे अनुमान किया जा सकता है कि हजारों वर्ष पहले के उस धुँधले अतीत में भी जात-पाँत की वर्तमान प्रथा का बीज सूक्ष्म रूप में विद्यमान था। वर्तमान वैज्ञानिक युग में जब हमारा सम्पर्क पाश्चात्य देशों के साथ अत्यन्त घनिष्ठ हो गया है हमें इस जात-पाँत की प्रथा में दोष अधिक और गुण कम नजर आते हैं। आजकल ही नहीं बल्कि [illegible] भारतवर्ष में ऐसे विचारकों की कमी नहीं रही है जिन्होंने इस प्रथा का तीव्र विरोध किया है। सर्वप्रथम बौद्ध 'श्रमण सम्प्रदाय' महात्मा बुद्ध और महावीर ने आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले किया। तब से धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में उन सुधारकों की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती आ रही है जिन्होंने आर्य जाति अथवा हिन्दू जाति की जात-पाँत की परम्परा का विरोध किया है। यह विरोध दो प्रकार का हुआ है—आध्यात्मिक तथा सामाजिक। कबीर आदि संत आध्यात्मिक विचारधारा के थे। उन्होंने जात-पाँत को व्यर्थ तथा सब दृष्टि से अनावश्यक प्रतिपादित किया। इनके पश्चात् रामकृष्ण परमहंस विवेकानन्द दयानन्द

राममोहन राय आदि ने शत-सहस्र शाखाओं तथा उपशाखाओं में बँटी हुई जात-पाँत का तो निराकरण किया किन्तु वर्ण-धर्म को वैदिक मानकर उसका समर्थन किया। उन्होंने यह भी बताया कि वर्ण जन्म से नहीं, बल्कि गुण-कर्म से निर्धारित होता है। सूर, तुलसी आदि का स्थान मध्यस्थानीय माना जा सकता है। उन्होंने प्रचलित परम्परा का यदि समर्थन नहीं किया तो कम-से-कम अंगीकरण अवश्य किया। उन्हें हम वस्तुस्थितिवादी कह सकते हैं।

कबीर आदि सन्तों ने मानवता के उच्चतम तथा व्यापक धरातल पर अवस्थित होकर धर्म सम्प्रदाय, वर्ण जाति आदि के आधार पर निर्मित सभी वर्गभेदों की निर्ममतापूर्वक निन्दा की। निदर्शन के रूप में कबीर के एक-दो पद पर्याप्त होंगे—

एक बून्द एकै मलमूतर, एक चाम एक गूदा।
एक ज्योति थैं सब उत्पना कौन बाम्हन कौन सूदा॥
जो तुम बाम्हन-बाम्हनी जाया और द्वार ह्वै काहे न आया।
तो तुम तुरक-तुरकिनी जाया पेटहि काहे न सुनत कराया॥

सरभंग-सम्प्रदाय के सन्त जात-पाँत-सम्बन्धी विचारों में कबीर से पूर्णतया सहमत हैं। उन्होंने पद-पद पर गिद्ध अजामिल गणिका, व्याध आदि की सर्वप्रचलित कथाओं की दुहाई देते हुए बताया है कि तथाकथित नीच जाति से उत्पन्न भी ऊँचे-से ऊँचे महात्मा तथा विद्वान् हो गये हैं और तथाकथित ऊँची जातियों से उत्पन्न व्यक्तियों ने भी घोर-से-घोर निन्दनीय काम किये हैं। इस प्रकार के उदाहरण तो वर्त्तमान काल में भी यत्र-तत्र-सर्वत्र विद्यमान हैं। 'भ्रमनाशक प्रश्नावली' में इस प्रश्न पर विवेचन करते हुए लिखा है—

"स्वायंभुव मनु वंश में रिखदेव नामक बड़ा धर्मात्मा राजा होता गया। तिस के सत (सौ=१) पुत्र हुए। तिनमें से ८१ पुत्र कर्मों कराके ब्राह्मण हो गए और सब क्षत्रिय रहे। देखिये यहाँ पर भी गुण की प्रधानता सिद्ध हुई क्योंकि कर्मरूपी गुन करके क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये। यदि जाति प्रधान होती तब कर्मों करके ब्राह्मण न होते। और विश्वा मित्र तप करके क्षत्रिय से ब्राह्मण हुए, और श्रृंगी रिखि मृगी के उदर से उत्पन्न हुए, वह भी तप करके महत पदवी को प्राप्त हुए, और वसिष्ठ वेश्या के गर्भ से उत्पन्न हो करके तप के प्रभाव से महान पदवी को प्राप्त हुए। ईसी से साबित होता है कि गुण ही मुख्य है जाति आदिक केवल व्यवहार की सिद्धि के लिए है।"[८४]

पुनश्च

"जाति किसका धर्म है। अस्थूल शरीर का धर्म है व आत्मा का धर्म है व लिंग शरीर का धर्म है व अन्तःकरन इंद्रियों का धर्म है। इनमें से अस्थूल शरीर का धर्म तो बनता नहीं। यदि अस्थूल शरीर का धर्म है तब शरीर की उत्पत्ति-काल में ही जिस तिस बालक में विद्यमान है संस्कार करके सिद्ध होना है यह श्रुति व्यर्थ हो जावेगी और संस्कार करना भी निष्फल हो जावेगा, क्योंकि धर्म बिना धर्मी रह नहीं सका।"[८५]

पुनश्च

'मुक्ति में और स्वर्ग की प्राप्ति में जाति आदिक कुछ उपकार नहीं कर सका। और अज्ञानी जीव है वही मिथ्या जाति आदिका में अभिमान करके जन्म-मरन रूपी संसार चक्र में भ्रमते हैं। [८८]

टेकमनराम लिखते हैं कि—

राम निवाज दाया कैली सतगुरु सहजे छूटल कुल जतिया।[८९]

अथवा

एक इटिया में पाँच गो इनरवा हो सजनवाँ।
श्री टेकमन महराज तेजे कुल जतिया हो सजनवाँ॥

अथवा

भभूती रमा के अजब रूप भइली।
जतिया गेंवा के साधुन संग गइली॥

अथवा

खेला सकल से न्यारे साधो खेला सकल से न्यारे।
ना वोहि कुल-कुटम्ब कहावे ना वोहि कुल परिवारा॥
ना वो हिन्दू तुर्क कहावे ना वोहि जात चमारा।
ना वो उपजे ना वो बिनसे कर ज्ञान निरवारा॥

ऐसे और उद्धरण न देते हुए हम यह कहना चाहेंगे कि सरभंग अथवा अघोर-मत में जात-पाँत के प्रति घोर अनास्था है। हिन्दू-मुसलमान ऊँच-नीच सभी उसमें दीक्षित होने के अधिकारी हैं।

(ख) छुआ-छूत

जात-पाँत से ही मिलती-जुलती समस्या छुआ-छूत के नाम पर शुद्धि तथा अशुद्धि की है। आज कच्ची-पक्की रसोई और चौके के नाम पर शुद्धि और पवित्रता-सम्बन्धी अनेकात्मक भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। 'भ्रमनाशक प्रश्नोत्तरी' में इनका कुछ गंभीर तत्वों के आधार पर निराकरण किया गया है—

'दो जगत की उत्पत्ति में दो कारण हैं—एक चेतन आत्मा और दूसरी जड़ माया। दोनों में से आत्मा तो नित्य ही शुद्ध है और माया सर्वदा अशुद्ध और बने रहेंगे जो जिसका स्वभाव है वह अन्यथा कदापि नहीं होता। तब अशुद्ध स्वभाववाले जो माया तिसका कार्य यह जगत कैसे शुद्ध होगा किन्तु कदापि नहीं हो सकता। जितने जीव हैं उन्होंने अपनी अपनी कल्पना कर रखी है। जो मांस का भक्षन करनेहारा है उन्होंने तिसका नाम शुची रख दिए हैं जो नहीं भक्षन करते हैं उन्होंने तिसका नाम अमूल रखा है

और दोनों अपने-अपने मत में प्रमाण भी शास्त्रों के देते हैं। इसी तरह और भी बहुत से पदार्थ हैं जिनमें शुचि अशुचि की कल्पना होती है परन्तु इसका निश्चय होना अति कठिन है। इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा से अतिरिक्त जितना प्रपंच है सब अनिर्वचनीय है। आत्मा के अज्ञान करके ही भासता है और जगत में शुचि-अशुचि भी सब कल्पना मात्र है। विचार द्रिष्टि से देखिये तो आत्मा से भिन्न कोई वस्तु सत्य नहीं, केवल आत्मा ही सत्य है और जो लोग अति आचार करके पदार्थों में शुचि की कल्पना करते हैं उनसे हम पूछते हैं कि कारन की शुचि-अशुचि कार्य में आती है अथवा काज में अपने आपस ही शुचि अशुचि उत्पन्न होती है। यदि कहो कारन की शुचि अशुचि काज में आती है अर्थात जो शुच कारन होता है उसका काज भी शुच होता है जो अशुच कारन होता है उसका काज भी अशुच होता है। यह यदि कहो तो नहीं बनता क्योंकि मदिरा के कारन जो गुड़ आदिक उनको सब कोई शुभ नहीं मानते और अति आचार करने वाले भी गुड़ को भक्षन करते हैं परन्तु मदिरा को नहीं भक्षन करते और उसको अशुभ मानते हैं। इस युक्ति से यह सिद्ध होता है कि जो कारन की शुचि काज में नहीं आती और यह भी नियम नहीं जो अशुच कारन से अशुच ही काज उत्पन्न हो क्योंकि अजा आदिकों के रोमों को शुचि पहनने से अस्नान करना कहा है और कृमियों की विष्ठा के स्पर्श होने से अस्नान करना कहा है उन्हीं आदिकों के अपवित्र रोमों का कार्य जो कंबल आदिक और कृमियों के विष्ठा का कार्य जो पीताम्बर आदिक उनको सब कोई शुभ मानते हैं और शास्त्रों में भी उनको शुच लिखा है। इस युक्ति से सिद्ध होता है जो कारन की अशुचि भी कार्य में नहीं आती। यदि प्रथम पक्ष को ग्रहन करोगे अर्थात जो अशुच कारन होता है उसका काज भी अशुच होता है तब तो सब आचार व्यर्थ हुआ क्योंकि जिस बिंद की बिन्दु के स्पर्श हो जाने से सचैल अस्नान करना पड़ता है जिस बिंद का काज जो यह स्थूल शरीर यह कैसे शुभ होगा किन्तु कदापि नहीं होगा। जब शरीर आचार से शुच न हुआ तब तो अर्थ से आचार व्यर्थ हुआ और मत पाखंड सिद्ध हुआ। जो पाखंड पाप का बीज है जिसका त्याग ही करना उचित है और भारत में कहा है—यह शरीर कैसा है? अपवित्र।

प्र —कारन की शुचि काज में नहीं आती किन्तु अन्य पदार्थों के साथ संबंध होने से काज में शुचि अशुचि प्राप्त होती है।

उ —संबंध करके भी शुचि अशुचि नहीं हो सकती क्योंकि जिस काल में शुभ पदार्थ का अशुभ पदार्थ के साथ संबंध होगा तिस काल में वह अशुभ पदार्थ शुभ को भी अशुभ कर देगा जैसे अपवित्र पात्र में गंगाजल को भी अपवित्र कर देता है, फिर वह शुभ कैसे होगा? यदि कहो आपने करके आपही होगा तब प्रथम ही अपने करके आपही शुभ हो जावेगा। संबंध मानना बेअर्थ हुआ। यदि कहो दूसरे करके होगा तब वह दूसरा किस करके होगा? यदि कहो दूसरा प्रथम करके होगा अन्योन्याश्रय दोष आवेगा। दूसरा शुभ होवे तब वह प्रथम को शुभ करे, जब प्रथम पहले शुभ होवे तब वह दूसरे को शुभ करे, यह अन्योन्याश्रय दोष है। यदि तीसरे करके मानोगे तब अनवस्था

स्पर्श करके मानोगे तो अनवस्था दोष आवैगा और यह दोष जब कि शुच का अशुच के साथ संबंध होगा उसी काल में अशुच को भी शुच कर लेगा क्योंकि जैसे अशुच का स्वभाव है जो शुच को अशुच कर देना वैसे शुच का भी स्वभाव है जो अशुच को शुच कर देना। जब अपवित्र पात्र में जो गंगाजल है वह उस पात्र को भी शुच कर लेगा जैसे बरसा रितु में सम्पूरन देसों का मल गंगाजी में बहकर जाता है और वह गंगाजल शुच कर लेता है और तिसी को आप शुच मान लेते हैं। संबंध करके अब इस पात्र के जल को भी शुच मानना पड़ेगा और इस जग में जितने पदार्थ हैं सब का परस्पर संबंध है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसका दुसरे किसी पदार्थ के साथ साक्षात या परम्परा सम्बन्ध न हो। अब तुमको संसार भर के पदार्थों को शुच ही मानना पड़ेगा या सबको अशुच ही मानना पड़ेगा। यदि सबको शुच ही मानोगे तब आचार बेकर्य हुआ क्योंकि आचार तो अशुच को शुच करने वास्ते था सो तो है ही नहीं। यदि सब पदार्थों को अशुच मानोगे तब भी आचार बेकर्य है क्योंकि शुच करनेवाला कोई रहा नहीं। यदि जल अग्नि पवन इनके संबंध करके सुचि मानोगे तो भी नहीं बनता क्योंकि यह सब माया का कार्य है इनका कारन शुच नहीं तब यह कैसे शुच होवेगा और इनमें सुचि कहाँ से आई। यदि कहो स्वरूप से ही शुच है तब अपवित्र अस्थान में जो प्राप्त है जलादि तिनको भी शुच मानो। जो उनको सम्बन्ध करके अपवित्र मानोगे तब पुर्व कहे जो दोष है वही फिर प्राप्त होवैगा। इस वास्ते यह सब तुम्हारा कथन असंगत है।"[७१]

(ग) सत्य अहिंसा संयम और दैन्य

हमने देखा है कि संतों के संसार में किताबी ज्ञान का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि आन्तरिक अनुभूति और संयत आचार विचार का। आचार विचार को प्रायः 'रहनी' शब्द से द्योतित किया गया है। रहनी के अनेकानेक नियमों में सत्य और अहिंसा का स्थान बहुत ऊँचा है। महात्मा गांधी ने भी इन दो गुणों को धर्म-कर्म का मूल माना है। वस्तुतः सत्य क्या है? अपनी आत्मा में हम जो समझें, वचन से ठीक वैसा ही प्रकट करें और कर्म में उसे ही परिणत कर—यही सत्य है। तात्पर्य यह कि सत्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संगति समन्वय तथा एकरसता लाता है। पाप क्या है? जिसे हम सत्य समझते हैं उसका जानबूझ कर तिरस्कार। इसीलिए चाहे किसी प्रकार का पाप हो उसका निवारण एकमात्र सत्य के सतत पालन से संभव है। किनाराम ने कहा है—

> साँचि कहिय साँचो सुनिय साँचो करिय विचार।
> साँच सम्पत न और कछु साँचो संग सम्हार॥[७२]

अहिंसा भी सच पूछिए तो सत्य का ही रूप है। सत्य का अर्थ ही है अविनाशी अथवा अविनश्वर। जो स्थायी है वह सत्य है जो अस्थायी है वह असत्य है। हिंसा के द्वारा हम भगवान् निर्धारित किसी स्थिति का विनाश करते हैं। विनाश करने का अधिकार उसी का होता है जिसे निर्माण करने का। यदि हम ईश्वर निर्मित स्थापित

को—चाहे वह अल्पकालीन भी क्यों न हो—अस्थापित्व में परिणत करते हैं तो हम सत्य की अवहेलना करते हैं। दुनिया में देखा जाता है कि पाखण्डी जन बड़ी-बड़ी ज्ञान की बात करते हैं जप, व्रत और स्नान में निरत रहते हैं, किन्तु उनके हृदय में 'कपट' रहता है। वे 'हाड़' 'चाम' रक्त मज्जा से दूषित शरीर का मांस खाते हैं और आश्चर्य यह कि फिर भी पंडित कहलाते हैं। दूसरों को वेद पुराण और कुरान पढ़कर समझाते हैं किन्तु स्वयं उनका मर्म नहीं समझते। यदि समझते तो फिर जीवहत्या क्यों करते ! यद्यपि जीव और ब्रह्म वस्तुतः अभिन्न हैं किन्तु वे भूत भवानी की पूजा के नाम पर उन्हें भिन्न मानकर पशुओं की बलि चढ़ाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्धे ही अन्ध को राह बता रहे हैं और बहरे ही बहरों को वाणी प्रदान कर रहे हैं।[13] मनुष्य यह नहीं समझते हैं कि संसार में जितने भी प्राणी हैं उन्हें प्रभु जीवन मिला है और अतः वे दया के पात्र हैं न कि हिंसा के। जो जीव हत्या करते हैं और मांस भक्षण करते हैं वे मानव नहीं दानव हैं। अगर मैथिल पंडितों से पूछिए तो पर-पीड़ा के दुष्परिणाम का श्रुतिसम्मत विवेचन करेंगे किन्तु आप बकरा काटकर खायेंगे।[14] एक संत ने पाँच उत्तम गुणों का बखान करते हुए दया दीनता सत्यता नाम भजन और प्रेम अथवा भक्ति के नाम गिनाये हैं और उसे इस कलियुग में धन्य माना है जिसमें ये गुण हैं।[15] इस चल संसार में अचल क्या है?—सत्य वचन; पवित्र क्या है?—अपना मन; पुण्य क्या है?—उपकार; पाप क्या है?—पर हिंसा।[16] किनाराम ने आत्म-रक्षा के चार साधन बतलाते हुए दया विवेक विचार और सत्संग का उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है कि इन गुणों से युक्त होकर राम-नाम का भजन करना चाहिए।[17] एक अन्य पद में उन्होंने जितेन्द्रियता कामना शून्यता तथा प्रेम प्रीति को आवश्यक बतलाया है।[18] एक तीसरे पद में उन्होंने संतों की 'रहनी' का विवरण देते हुए संतोष व्रत क्षमा, धीरता निज कर्तव्य में अनुराग और रामनाम के रंग में मग्नता इन सद्गुणों की चर्चा की है। आत्मारोपित दैन्य अथवा विपन्नता बिना संत भावना के उदय के संभव नहीं है। इस प्रकार के त्याग से दीनता ऐश्वर्य में परिणत हो जाती है; क्योंकि दीनता वस्तुतः एक मनोवैज्ञानिक तत्त्व है। दीनता का परिहार अधिकाधिक धन-सम्पत्ति की प्राप्ति से नहीं हो सकता क्योंकि जितनी ही अधिक धन-सम्पत्ति प्राप्त होती जायगी उतनी उसमें और अधिक धन की तृष्णा प्रज्वलित होती जायगी। अतः सच्ची धन प्राप्ति तृष्णा की निवृत्ति में है तथा ऐहिक कामनाओं के त्याग में है। संत के लिए दीनता इसलिए भी अभिप्रेत है कि वह अपनी दीनता के आधार पर अपने आराध्य के परम ऐश्वर्य की सही कल्पना कर सके और अपने को सर्वांश में उसे समर्पित कर सके। दरियादास कहते हैं कि उन्हें चाँदी सुपारी अच्छी नहीं लगती अतः उन्होंने फकीरी में अपना निवास स्थिर किया है उन्हें शाह सुल्तानी नहीं भाता अतः उन्होंने दैन्य को अपनाया है।[19] उन्होंने अधीनता रूपी चादर ओढ़ने, नाम रूपी परमा पहनने अथवा मूला मारने करने तथा जहाँ-तहाँ अनि स्वार रूप में पड़ रहने का उपदेश दिया है क्योंकि इसी प्रकार के जीवन से कर्मों के भ्रम जलकर भस्म हो जाते हैं।

(घ) मादक द्रव्य-परिहार

कुछ साधु मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं यथा सुर्ती तमाखू, गाँजा मद्य आदि। संत-मत में ये सभी वर्जित हैं। यदि खानी ही है तो 'सुरती'-रूपी सुर्ती खानी चाहिए। इस सुर्ती को उपजाने की एक विशिष्ट विधि है। बुद्धि-रूपी जमीन को विचार-रूपी हल से जोतकर परिष्कृत कीजिए, इसमें गुरु के शब्द-रूपी बीज बोइए, श्रद्धा और सद्भाव रूपी अंकुर लगाइए। जब पत्ते तैयार हो जायें तब प्रेम की छाया में सुखाइए। उसका टुकड़ा लेकर हाथ में मलकर कुमति-रूपी धूल को उड़ाइए अनुराग-रूपी चक्के से तर कीजिए, और काम क्रोध आदि किनारे के डंठल को काटकर अलग कर दीजिए। इस प्रकार परिष्कृत करके जो सुर्ती बनाई जायगी उसका सेवन करने से ज्ञान-रूपी मस्ती आयगी और विवेक की प्राप्ति होगी। इस प्रकार का परिष्कृत तमाखू आत्मचैतन्य के अन्वेषण तथा सत्संग से प्राप्त होगा।[१०१] यदि हुक्के पर तमाखू पीना हो तो पाँच तत्त्वों को तमाखू बनाइए, चित्त को चिलम बनाइए, काया को हुक्का बनाइए, दृढ़ विश्वास को उसका आधार-दंड बनाइए, श्रद्धा और विवेक का जल उस हुक्के में भर दीजिए तथा आत्मज्ञान की अग्नि से उसे प्रज्वलित कीजिए। इतनी तैयारी के बाद आप सन्तोष-रूपी दम खींचिए। उसमें से सुमति-रूपी सुगन्ध का विकास होगा और अमृतरस का आस्वादन मिलेगा।[१०२] यदि गाँजा पीना है तो सुख-दुःख रूपी द्वन्द्व को ही गाँजा बनाइए और उसमें से सुमति-रूपी धुआँ खींचकर उसका पान कीजिए। इससे ज्ञान में दृढ़ता आयगी और प्रेम में वृद्धि होगी।[१०३]

भिनकराम कहते हैं कि मन को महुआ बनाइए और तन को भट्ठी। उसमें ब्रह्म-रूपी अग्नि जलाइए। इस प्रक्रिया से जो मद्य तैयार हो उसे दुकान में 'छान' दीजिए। संत जन अपने माता पिता कुल-कुटुम्ब को त्याग कर वहाँ आयेंगे और प्रेम के प्याले में भरकर उस मद्य को पीयेंगे। पीते ही समस्त भ्रम विनष्ट हो जायगा।[१०४] आनन्द ने इस रूपक को कुछ और बढ़ा करके लिखा है कि प्रेम का महुआ हो भक्ति का 'सीरा' तन की भट्ठी और ज्ञान की अग्नि हो मन का 'देग' (बरतन) हो और विवेक की ज्ञानन ध्यान का भभका देकर मधु चुआइए और 'इंगला' तथा 'पिंगला' नाम के दोनों प्यालों में भर भर के पीजिए एवं मस्त हो जाइए। यही मद्य सच्चे आनन्द को देनेवाला है।[१०५] उनकी निम्नलिखित गजलें देखिए—

१ भर देखा दिया साकी ने पैमाना हमारा।
  अलमस्त है पीकर दिले मस्ताना हमारा॥
२ दिन रात पिया करते हैं पर कम नहीं होता।
  हरवक्त रवाँ रहता है खुमखाना हमारा॥
३ चुपचाप से रोज आके, लगा जाते हैं चुस्की।
  ईमान बिगड़ता है, न उनका न हमारा॥
४ बुत बन गये पी-पी के, हजारों की अंजुमन।
  बुतखाने से कमती नहीं है, मैखाना हमारा॥[१०६]

(क) अन्य गुण

संतों की रहनी के प्रसंग को समाप्त करने के पूर्व हम पलटूदास के 'आत्मनिगुण पत्ता' में दिये हुए उन आचार विचार के नियमों[१] का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे जिन्हें उन्होंने कुछ व्याख्या के साथ गिनाया है। वे ये हैं—

सन्त अथवा गुरु के आचार-विचार

१ अद्वैत में आस्था और इन्द्रियों के दमन द्वारा अनात्मा से आत्मा को भिन्न करना।
२ द्वैत भावना को नष्ट कर (क) सद्गुरु के चरणों में जाना (ख) योग द्वारा पचीस विकारों को दबाना।
३ त्रिगुण को भुलाकर भजन में मन लगाना।
४ हिन्दू-मुसलमान ऊँच-नीच में भेद नहीं करना।
५. मन पर विजय प्राप्त करना।
६ अपनी वासनाओं का विनाश करना जिनके फलस्वरूप जन्म-जन्मान्तर भ्रमण करना पड़ता है।
७ सत् शब्द का सुनना या अनुभव करना।
८. नींद आहार आदि पर नियंत्रण कर ध्यानयोग द्वारा आत्मा को परमात्मा से मिलाना।
९ नौ इन्द्रियों और बहत्तर नाड़ियों पर नियंत्रण कर सुरति लगाना।
१ गगनमण्डल में प्रवेश और मोक्ष-प्राप्ति।
११ दिव्यदृष्टि तथा अमरपुर में निवास।
१२ नवधा भक्ति छोड़कर गुरु भक्ति अर्थात् योग-मार्ग को अपनाना।
१३ पंचतत्त्वों पर विजय प्राप्त करना।
१४ इड़ा-पिंगला के नियंत्रण द्वारा माया को वश में करना।
१५ परम गति प्राप्त करना।
१६ समाधि में दिव्यज्योति प्राप्त करना।
१७ सत् स्वरूप का दर्शन और ब्रह्म का मिलन।
१८. सन्नाम-धर्म ग्रहण करना।
१९ उन्मनी द्वार के खुलने से दिव्यदृष्टि का लाभ।
२ योग-समाधि द्वारा आप में आप का साक्षात्कार करना।
२१ इड़ा पिंगला तथा सुषुम्णा के नियमन द्वारा योग की स्थिति में आना।
२२ चक्रभेदन कर समाधिस्थ होना।
२३ आध्यात्मिक मद्य का पान और सामान्य मद्य का परित्याग।
२४ योग की क्रमिक क्रियाओं में प्रवृत्त होना।
२५ परमज्योति को प्राप्त करना 'सोऽहम्' का जप।

२६ आध्यात्मिक मद का अपरित्याग।
२७ चक्र का भेदन और शब्द-तत्त्व की प्राप्ति।
२८ अमरपुर का साक्षात्कार।
२९ अमरपुर के आनन्द का रसास्वादन।
१० निरंजन के प्रभाव का निवारण।
११ यम की यातना से रक्षा।
१२ सद्गुरु की प्रशंसा।
१३ पार्वती पति आदि से बचना।
१४ योग द्वारा ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करना।
१५ 'तीन' के भेद में न पड़ना।
१६ विषय-वासना में लिप्त न होना।
१७ श्याम और श्वेत त्याग कर श्वेत ग्रहण करना, अर्थात् सात्त्विक वृत्ति को अपनाना।
१८ आप में 'आप' का मिलाना।
१९ जैसी चाह वैसा फल प्राप्त करना।

५ विधि-व्यवहार

सरभंग अथवा औघड़-मत के संबंध के अन्वेषण के विवरणों तथा सामग्रियों के विवेचन से पता चलता है कि सरभंग-मत का अधिक प्रचार उत्तरी भारत के बिहार, बंगाल आसाम तथा उत्तरप्रदेश में है। काशी से इस मत के प्रमुख आचार्य किनाराम की शाखा का विस्तार हुआ। वहाँ इस मत के सन्त अपने को 'अघोर' औघड़' अथवा 'अवधूत' कहते हैं। बिहार में चम्पारन जिला इस मत का केन्द्र प्रतीत होता है। इस जिले में इस मत का प्रचलित नाम सरभंग है यद्यपि 'औघड़' तथा समवर्ती नाम का भी पर्याप्त प्रचलन है। चम्पारन के अतिरिक्त सारन और मुजफ्फरपुर में अन्य जिलों की अपेक्षा सरभंग मत का प्रचार अधिक है। अन्वेषण तथा अनुसंधान जो अब भी बहुत अंशों में 'अपूर्ण' कहा जायगा और जिसका क्रम अभी वर्षों चलना चाहिए, के फलस्वरूप जिन लगभग ३५ मठों की जानकारी प्राप्त हुई है उनमें ११ चम्पारन में अवस्थित हैं, २२ सारन में और २ मुजफ्फरपुर तथा नेपाल की तराई में। चम्पारन में एक छोर से दूसरे छोर तक प्रवाहित होनेवाली गंडक नदी के किनारे किनारे सरभंग संतों के अनेक मठ बसे हुए हैं। इस मत के मठ प्रायः गाँव से अलग नदी तट पर अथवा गाँव के श्मशान के पास होते हैं। श्मशान के निकट की अवस्थिति एकान्त साधना के लिए तो उपयुक्त है ही 'श्मशान क्रिया' के लिए भी उपयुक्त है जो शाक्त साधिकों और औघड़ों में व्यापक रूप से प्रचलित है तथा यत्र-तत्र सरभंग-संतों में भी विद्यमान है।

'औघड़' शब्द 'अघोर' शब्द का अपभ्रंश है। यह शब्द गोरखपंथ से होते हुए प्राचीन वैदिक युग के रुद्र की उपासना के साथ वर्तमान औघड़ मत का संबंध जोड़ता है।

औघड़ों में यह सामान्य धारणा है कि उनके मत के प्रवर्त्तक गोरखनाथ थे। इनमें से कुछ दत्तात्रेय को भी प्रवर्त्तक मानते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में या ते रुद्र शिवातनूरघोरा पापनाशिनी के द्वारा शिव के शरीर का 'अघोर' अथवा 'सौम्य' की संज्ञा दी गई है। किनाराम की परम्परा के एक प्रमुख संत गुलाबचन्द 'आनन्द' ने 'विवेकसार' की भूमिका में अघोर अथवा अवधूत-मत का परिचय निम्नलिखित शब्दों में दिया है—

'अघोर या अवधूत मत कोई नवीन मत नहीं है। शिवजी महाराज के पाँच मुखों में से एक मुख अघोर का भी है। यह लिंगपुराण से सिद्ध है। उपनिषद्, स्मृति और शिव-गायत्री से भी भेष का महत्त्व प्रगट है। 'अघोरान्नापरो मन्त्रः' यह हमारा कहा हुआ नहीं है। यह आदिकाल से चला आता है। कुछ महाराज किनारामजी ही ने इसको नहीं चलाया है। यह सचमुच श्रीशिवजी का चलाया हुआ है। जगद्गुरु दत्तात्रेय भगवान ने भी इसका प्रचार किया और बाद में भी महाराज कालूरामजी और किनारामजी के शरीर से यह चला है। आजकल प्रायः अन्यमत वाले इस मत वालों को घृणा की निगाह से देखते हैं पर पहले समय में ऐसा नहीं था। देखिये पुराणों में अवधूत-वेश की कैसी प्रतिष्ठा लिखी है। राजा परीक्षित को समीक ऋषि के बालक ने शाप दिया है कि जिसने मेरे पिता के गले में मरा सर्प डाल दिया है उसको आज के सातवें दिन तक सर्प काटे। इस घोर शाप को सुनकर सारे देश में बड़ा हाहाकार हो गया। सभी ब्रह्मर्षि देवर्षि राजर्षि इकट्ठा हुए। ये लोग विचार कर रहे थे कि राजा परीक्षित की मृत्यु या मोक्ष के लिए क्या करना चाहिए। इतने में ही बालपन से ही अवधूत वेश धारण करनेवाले श्रीशुकदेवजी आ गए।'[५८]

"श्री शुकदेवजी के उस समाज में आने पर सभी लोग खड़े हो गये। वर्त्तमान समय में जो दशा है उसके दो कारण हैं। एक तो यह कि स्वयं इस मत वालों ने अपने को उस उच्च पद से गिरा दिया है जिस पर ये प्राचीन काल में थे दूसरे यह कि अन्य मत मतान्तर वाले खुद भी अब इनकी तरह उस गंभीर विचार के नहीं हैं जैसा पहले हुआ करते थे।

"चार वर्ण अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र तथा चार आश्रम—ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य वानप्रस्थ और सन्यास ये सबसे प्राचीन और वेद शास्त्र-पुराण आदि सभी ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं। संन्यास आश्रम की सिद्ध अवस्था को वैष्णव 'परमहंस' शाक्त 'कैवल्य' और शैव 'अघोर' कहते हैं; उसी का नाम अवधूत मत है। ये सब पंथ नहीं अपितु पद के नाम हैं। जब पूर्ण ब्रह्मज्ञान उदय हो जाता है और किसी भी उत्तम मध्यम तथा नीच पदार्थों में विषम-दृष्टि नहीं होती किन्तु सब में समान दृष्टि हो जाती है, तब उसी का नाम विज्ञान है, अवधूत है। यह अवस्था बहुत काल के पुण्य संचित होने से होती है।

ऐसा बहुरंगी वेश क्यों रखा गया है और अब भी रखा जाता है; इसके दो कारण प्रतीत होते हैं। एक तो यह कि इस वेश वाले शिव के उपासक हैं और यह जरूर है कि जिसका जो इष्ट होता है उसका मानसंजाला प्रायः वैसा ही हो जाता है। 'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।' शिव भगवान का अपूर्व वेश ही इस मत वालों का

वेश है। दूसरी वजह यह मालूम होती है कि प्राचीन काल के योगेश्वरों ने जानबूझ कर ऐसा घृणित वेश धारण किया जिसमें संसारी लोग उनको भरकर उनके तप में विघ्न न डालें। 'अवधूय अनैत्यक' मलस्य वेषी यस्य स' अवधूतवेषः।

"पुराणों और शास्त्रों द्वारा यह स्पष्ट विदित होता है कि यह अवधूत वेश सबसे प्राचीन और पूजनीय है तथा इसकी प्रतिष्ठा बड़े-बड़े महर्षि लोग सदा से करते आए हैं। परम्परा से इस वेश को राजर्षि ब्रह्मर्षि लोग धारण करते आए हैं। राजा ऋषभदेव ने, जो ईश्वर के अवतार समझे जाते हैं या पुत्र थे। उन्होंने अपने लड़कों को उपदेश देकर स्वयं अवधूत-वेश धारण किया। उनके बड़े लड़के भरत ने भी राज्य करने के पश्चात् अवधूत-वेश ही धारण किया था। उन्हें लोग जड़भरत भी कहते हैं।"

कुछ लोग 'औघड़' शब्द को 'अवघट' का अपभ्रंश मानते हैं। व्रज-साहित्य में तथा प्रचलित लोक भाषा में 'औघट घाट' का प्रयोग मिलता है। इसका तात्पर्य होता है सीधे रास्ते को छोड़कर 'कुरास्ता' अर्थात् विपथ। औघड़ भी सामान्य जनों की राह से नहीं चलकर कुराह चलते हैं। इस प्रकार का विचार शब्द-साम्य अथवा अर्थ व्युत्पत्ति की दृष्टि से तो बुरा नहीं है किन्तु शिव के 'अघोर' नाम को ध्यान में रखते हुए तथा शैव मत के साथ इस मत का संबंध समझते हुए, हमें 'औघड़' शब्द का आविर्भाव 'अघोर' से ही मानना चाहिए। हाँ एक प्रश्न है 'अघोर' का अर्थ हुआ सौम्य अरौद्र आदि। किन्तु औघड़ों का जो वर्तमान रूप है नग्नवत् स्थिति हाथ में कपाल (मुर्दे की खोपड़ी) तथा अंग में 'भभूत'—यह सौम्य नहीं बल्कि भयानक है अरौद्र नहीं बल्कि रौद्र है सामान्य जन की दृष्टि में बीभत्स है। किस प्रकार 'अघोर' शब्द अपने मूल अर्थ 'सौम्य' को छोड़कर भीषण अर्थ का द्योतक हुआ यह अनुसंधान का विषय है, एक व्याख्या यह हो सकती है कि 'रुद्र' अथवा 'शिव' के दो रूप हैं—सौम्य तथा उग्र। प्रारम्भ में अलग अलग नाम और विशेषण अलग-अलग अर्थ के द्योतक होंगे यथा रुद्र भीषणता का तो शिव और शंकर कल्याणकारिता का उसी विकरालता का तो देवी अथवा अम्बिका दयालुता का। किन्तु कालान्तर में सभी शिवपरक शब्द पर्यायवाची मान लिये गये और उनका मौलिक अभिप्राय भूल-सा गया। एक दूसरी व्याख्या भी संभव है। हमारी यह सामान्य मनोवृत्ति होती है कि जिस वस्तु अथवा कार्य को समाज व्यापक रूप से अंगीकृत नहीं करता उसे हम नामान्तर (euphemism) द्वारा प्रकट करते हैं और उनके उन अंशों पर आवरण देते हैं जो समाज की दृष्टि में गुप्त अथवा गोपनीय है। उदाहरणार्थ, जब हम मल-त्याग-जैसे घृणित कार्य के लिए जाते हैं तो कहते हैं कि 'शौच जा रहे हैं' अथवा 'मैदान जा रहे हैं'। इसी मनोवृत्ति के आधार पर हमने 'घोर' को 'अघोर' कहना प्रारम्भ किया होगा।"[१०१]

'सरभंग' शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ निर्विवाद रूप से स्पष्ट नहीं है। जिन साधुओं से इस शब्द की व्याख्या करने को कहा गया उनमें से कुछ ने यह बताया कि 'सर साथ सरभंग कहाय'। सर या तो 'स्वर' से निकला है या 'शर' से। शर का अर्थ होता है बाण और यह काम के पाँच बाणों की दृष्टि से 'पाँच' संख्या का भी द्योतक है।

शर का तात्पर्य जीवात्मा को सिद्ध करनेवाली पाँच इन्द्रियों से भी है। तंत्रशास्त्र तथा निर्गुण दर्शन में 'स्वर' एक पारिभाषिक शब्द है और यह 'स्वरोदय' आदि ग्रन्थों में इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा इन तीन श्वास-प्रश्वास की क्रियाओं को सूचित करता है। अतः इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'सरभंग' का अर्थ हुआ वह साधक अथवा सन्त जो अपनी इन्द्रियों और उनकी वासनाओं का नियन्त्रण करे तथा जो योग की प्रक्रियाओं के द्वारा प्राणायाम की *साधना और स्वरद्वार* चित्तवृत्ति का निरोध करे। एक *ऐसी भी किंवदन्ती प्रचलित* है कि 'सरभंग' का संबंध उस शरभंग ऋषि से है जिनके आश्रम पर वनवास के समय रामचन्द्र गये थे; शरभंग ऋषि ही इस मत के प्रवर्तक हैं। किन्तु इस कल्पना का पुराणादि ग्रन्थों में जहाँ तक हमें मालूम है प्रमाण नहीं मिलता। जो हस्तलिखित ग्रंथ अनुसंधान के सिलसिले में मिले हैं उनमें दो ऐसे हैं जिनमें एक अर्थात् सदानन्द के 'भजन-संग्रह' में *सरबंगी* शब्द का प्रयोग है *यथा—'सदानंद सरबंगी नाम मेरा'* और दूसरे, अर्थात् मोतीदास के 'ज्ञानसर' अथवा 'ज्ञानस्वरोदय' में 'सरभंग' शब्द है यथा—

'भरती जो सरभंग है सबमें रहै समाय।
सम रस उपजत लपत है मोती चरन मनाय॥'

यदि इन दो उद्धरणों से कुछ निष्कर्ष निकाला जा सकता है तो यह कि 'सरबंग' और 'सरभंग' ये उच्चारण भेद से एक ही शब्द हैं और इनका मूल भी एक ही है। 'सरबंग' शब्द का प्रयोग हमने अन्य निर्गुणवादी संतों में भी पाया है। उदाहरणार्थ दरिया ने 'सरबंग' शब्द का प्रयोग निर्गुण ब्रह्म के लिए भी किया है और संसार से *निर्लिप्त संत के लिए भी। हमारा अपना अनुमान है कि ये दोनों शब्द 'सर्वांग' से* निकले हैं—'सर्वम् अंगम् यस्य' अर्थात् सब कुछ जिसका अंग हो अथवा जो सबके लिए समान रूप से अंगीकरणीय हो। उपर्युक्त 'ज्ञानसर' के पद में—

'सबमें रहै समाय सम रस उपजत लपत है'

आदि व्याख्यात्मक पदांश संभवतः इस मान्यता की पुष्टि देते हैं। कुछ सरभंग साधु यह पूछने पर कि 'सरभंग' का अर्थ क्या है 'समदर्शी' कहकर समझाते हैं और यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि सरभंग मत के संत मानव मात्र को, सभी सम्प्रदायों को, सभी पदार्थों को समान दृष्टि से देखते हैं। उनकी नजर में शैव वैष्णव शाक्त तांत्रिक बौद्ध, जैन निर्गुण-सगुण ऊँच-नीच अच्छा-बुरा खाद्य-अखाद्य—किसी में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। गंभीर रूप से विचारा जाय तो सरभंग मत की यह व्यापक तथा उदार भावना अपना अलग एवं विशिष्ट अभिप्राय रखती है और सिद्धान्ततः यह विचार-सरणि के बहुत ही ऊँचे स्तर पर अवस्थित है। 'सरभंग', 'औघड़' तथा 'अघोरी' इन तीनों शब्दों में परस्पर अन्तर प्रतिपादित करते हुए एक साधु ने यह कहा कि 'होशियार' लोग इस मत के साधुओं को 'सरभंग' तथा 'नासमझ' लोग उन्हें 'औघड़' कहते हैं। 'अघोरी' अथवा 'औघड़' में यह भेद है कि अघोरी शरीर में विष्ठा लपेटकर बाजार में लोगों की थूक अथवा अन्य

भीमत्सता के नाम पर डराकर भीख माँगता है; किन्तु औघड़ ऐसा नहीं करता वह भीख भी नहीं माँगता; भक्त लोग स्वयं आकर जो भी देते हैं, उसे वह ग्रहण कर लेता है। उस साधु ने यह भी बतलाया कि इस मत के लोग पंजाब में 'सरभंग' मद्रास में 'अघनिद्र' बंगाल में 'अघोरी' तथा उत्तरप्रदेश एवं बिहार में 'औघड़' कहलाते हैं। भागलपुर के सामने गंगा के उस पार एक औघड़ सारथी बाबा रहते हैं। उनकी सिद्धि के संबंध में कुछ प्रसिद्धि भी है। हमारे एक प्रोफेसर मित्र तथा हमने उनसे सत्संग किया है। सारथी बाबा गायत्री मंत्र का इस प्रकार ध्यान करने का आदेश देते हैं जिसमें उसे एक बार सीधा सीधा जप किया जाय और फिर उलटकर जप किया जाय। इसी प्रकार एक से सौ तक की संख्याओं का सीधा तथा उल्टा ध्यान करना भी वे बताते हैं। इस ध्यान की क्रिया को वे 'अपार क्रिया' कहते हैं।

जितने विवरण और जितनी सूचनाएँ अबतक प्राप्त हुई हैं इनके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि औघड़ अथवा सरभंग-मत निम्नलिखित छह आचार्यों के द्वारा प्रवाहित धाराओं में प्रचलित है—

१ काशी के किनाराम।

२ चम्पारन (रामापुर भड़याही) के भिनकराम।

३ चम्पारन (माधोपुर) के भीखमराम—इनके प्रसिद्ध शिष्य मक्सरा के टेकमन राम हुए।

४ चम्पारन (बनाइन बाम) के सदानन्द बाबा।

५ चम्पारन (चिन्तामणि) के बालखण्डी बाबा।

६ सारन (छपरा शहर) के 'लक्ष्मीसखी'।

इनमें 'लक्ष्मीसखी' और उनके शिष्य 'कामतासखी' के साहित्य तथा साधना-पद्य का अध्ययन एक स्वतंत्र निबंध का विषय बन सकता है। प्रस्तुत भाषणमाला में इनका अनुशीलन नहीं किया गया है। वे सामान्यतः 'औघड़' कहलाते भी नहीं हैं और इनका मत 'सखी-सम्प्रदाय' के नाम से अधिक प्रचलित है। आचार्यों के अलग अलग नाम गिनाने का आशय यह नहीं है कि उनकी प्रत्येक की अलग अलग शाखा है। अधिक-से अधिक हम किनाराम की शाखा को अन्य पाँच की शाखा से भिन्न मान सकते हैं। वे औरों की अपेक्षा अधिक व्यापक रूप से विदित एवं प्रभावशाली हैं। इनकी चर्चा अन्य संत-साहित्य के जिज्ञासुओं तथा विद्वानों ने भी की है।[१] किनाराम की लोकप्रियता तथा धार्मिक उदारता का यह एक ज्वलन्त परिचय है कि उन्होंने वैष्णव-मत-परक पद्य भी लिखे और अघोर-मत-परक भी। वैष्णव मत परक पद्य 'रामरसाल' 'रामचपेटा' तथा 'राममंगल' के नाम से संकलित हैं, और अघोर मत-परक पद्यों को 'विवेकसार' नामक ग्रन्थ में गुम्फित किया गया है। कालूराम अघोर से दीक्षित होने के पहले वे बाबा शिवाराम वैष्णव के शिष्य थे। अतः उन्होंने दोनों गुरुओं की मर्यादा निभाने के लिए चार वैष्णव मत के मठ मारुफपुर, नईडीह परानापुर और महुअर में तथा अघोर मत के चार मठ रामगढ़ (बनारस जिला) देवल (गाजीपुर जिला) हरिहरपुर (जौनपुर जिला)

एवं कृमिकुण्ड (काशी शहर) में स्थापित किये जो अबतक चल रहे हैं। अन्य जो चम्पारन तथा सारन के मुख्य संत हैं इनका जहाँ तक हमें विदित है कहीं भी सुसंगत विवरण प्राप्त नहीं है। कुछ फुटकल लेख कभी-कभी प्रकाशित हुए हैं पर उनकी संख्या नगण्य है।[१११]

सरभंग संतों को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है— निरबानी (निर्वाणी) और 'घरबारी'। किनाराम तथा भिनकराम दोनों निरबानी थे। अत: चम्पारन में सामान्यत: इन दोनों के मतों को एक माना जाता है। निरबानी मत में स्त्रियों को स्थान नहीं है। साधु खेती-बारी भी नहीं करते और न भिक्षाटन करते हैं भीखमराम ने जो परम्परा चलाई, उसमें घरबारी हो सकते थे। बालखण्डी बाबा के मत में भी 'माईराम' होती है और घर-गृहस्थी भी चलाती है। एक साधु ने कहा कि यदि रुचि हो तो साधु विवाह कर सकता है। 'अगर पैसा हो तो ढोल बजा-बजाकर और बरात सजाकर ब्याह करना चाहिए।' इसके विपरीत भिनकराम की परम्परा के शिष्य अपने मठों में फूल तक नहीं लगाते हैं। प्रायः सभी साधुओं ने पूछने पर यह बताया कि वे किसी मत से घृणा नहीं करते हैं और वेद-पुराण आदि सबमें श्रद्धा रखते हैं। जिन आचार्यों का नाम ऊपर लिया गया है उनके अतिरिक्त कुछ ऐसे संतों के नाम हैं जो अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध हैं यथा ज्ञानी बाबा (लक्ष्मीसखी के गुरु), कपाराम मलराम आदि। सरभंग मत के साधु तथा अनुयायी अपने नाम के पीछे राम दास गोसाईं सखी आदि जोड़ते हैं। इससे ऐसा ज्ञात नहीं होता कि वे अलग-अलग शाखा अथवा सम्प्रदाय के हैं। राम का उपपद अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित है।

सरभंगों की निरबानी और घरबारी शाखाओं को देखते हुए हम यह अनुमान कर सकते हैं कि निरबानियों पर वैष्णव मत का प्रभाव अधिक पड़ा और घरबारियों पर तान्त्रिक शाक्तों का। तन्त्र-साधना में शक्ति के रूप में नारी की पूजा की जाती है। अतः साधक के साथ एक नारी का होना आवश्यक हो जाता है। नारी के साथ का यह अर्थ नहीं कि यौन संबंध अवश्य हो। कन्या-पूजा में कन्या शक्ति का प्रतीक मानकर पूजी जाती है। हाँ तांत्रिकों की जो वाममार्गी अथवा कौल शाखा है उसमें यौन संबंध का भी समावेश है। यदि साधक और साधिका पुरुष और स्त्री के रूप में पहले से संबद्ध हैं तो तंत्र-साधना में सहायता ही मिलती है। इस संबंध में यह उल्लेख करना अनुचित न होगा कि मठों में जो 'माईराम' हैं व अनेक ऐसी स्त्रियाँ हैं जो किन्हीं कारणों से घर से निकलकर भाग आई हैं। ऐसी स्त्रियाँ जो किसी नैतिक पतन के कारण अपने मूलभूत *हिन्दू-समाज अथवा जाति में प्राप्त नहीं होतीं वे सरभंग-मठ में आकर सम्मिलित हो* जाती हैं, और किसी तरह कुछ शान्ति के साथ अपना जीवन व्यतीत करती हैं। वे जब मठों में आती हैं तो साधुओं के सम्पर्क में आने पर वहीं बस जाती हैं और रखैली के रूप में किसी एक के साथ परस्पर संलग्न हो जाती हैं। हिन्दू-समाज की जात-पाँत और विधवा का अपुनर्विवाह आदि कुछ ऐसी प्रथाएँ हैं जिनके कारण बहुसंख्य व्यक्ति हिन्दू-धर्म को छोड़कर दूसरा-दूसरा धर्म अपना लेते हैं। भारतवर्ष में ईसाइयों और मुसलमानों की संख्या

में वृद्धि होने के जात पाँत तथा सामाजिक निर्बन्ध भी मुख्य कारण हैं। सरभंग-मत के प्रचार में लोगों का 'जात च्युत होना मुख्य रूप से सहायक रहा है। कहा जाता है कि रमपुरवा के महेश गोसाईं अकाल के समय सरकारी चौके में खाने के कारण निष्कासित हो गये और असरण होकर इस मत में चले आये। सरभंग होने पर भी इस मत के लोगों को आस-पास का हिन्दू-समाज लोक-बाह्य तथा निम्नस्तर पर ही अवस्थित समझता है। जहाँ माईराम हैं वहाँ चरित्रहीनता भी देखी जाती है इससे भी समाज पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है।

सबसे बुरा प्रभाव सरभंग साधुओं तथा गृहस्थों के खान-पान के ढंग का पड़ता है। इनके लिए सामान्यतः कुछ भी अखाद्य तथा अपेय नहीं होता। ये जीवों की हिंसा स्वयं नहीं करते किन्तु किसी मरे हुए जन्तु को खाने में इन्हें हिचक भी नहीं होती। भैसे गाय को ये माता कहकर पुकारते हैं; किन्तु मर जाने पर उसका भी मांस खाते हैं। ये आदमी के मुर्दे को भी खाते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि कुत्ता बन्दर तथा बिल्ली इनकी थाली में एक साथ खाते हैं। ये मदिरा और मत्स्य का भी सेवन करते हैं। जो जितना अनियंत्रित आहार विहार करता है वह उतना ही बड़ा सिद्ध समझा जाता है। किंवदन्ती है कि एक बार टेकमनराम को मुर्दे की बाँह खाते देखकर किसी ने पूछा—'यह क्या है?' उन्होंने उत्तर दिया 'बालम खीरा और वह देखते-देखते 'बालम खीरा' बन गई। एक साधु ने इस सम्बन्ध में निम्नांकित प्रचलित लोकोक्ति उद्धृत की है—

'मरल मांस पाओ तो मास छेवा खाओ।
जिन्दा के मिरी न खाओ॥

सरभंग पानी पीने के लिए मिट्टी का एक करवा (टोटीदार बरतन) और खाने के लिए खप्पर (एक प्रकार की कड़ाही) रखते हैं। ये आत्मारोपित निर्धनता के प्रतीक हैं। इनके कंठी तथा माला के समान विशेष चिह्न भी हैं। इनका वस्त्र सादा गेरुआ एकरंगा या खाकी रंग का होता है। गेरुआ और सादा वस्त्र अधिक प्रचलित है। इनके पहनने तथा व्यवहार के वस्त्रों में लँगोटा झूल (ढीला तथा लम्बा कुरता) लुंगी चादर तथा कम्बल होते हैं। जो भिक्षाटन करते हैं वे एकतारा खंजरी आदि बाजे भी रखते हैं। कुछ हाथ में कंगन भी पहनते हैं तथा शरीर में भभूत भी लगाते हैं। हमने ऐसे अनेक सन्तों को देखा जो केवल लँगोट पहने नग्नवत् थे।

सामान्यतः सरभंग मत के लोग परस्पर 'बंदगी' कहकर अभिवादन करते हैं, 'राम' 'राम' भी कहते हैं। मत्स्यामद्य के अतिरिक्त अन्य विचारों में सरभंग संतों का जीवन प्रायः बहुत ही आदर्श होता है। वे उदार विचार के होते हैं सदाचार का पूर्ण निर्वाह करते हैं और त्याग की तो मानो प्रतिमूर्ति होते हैं। वे प्रायः मन्त्र आदि तथा जड़ी बूटियों से रोगों का उपचार करते हैं और जब कभी जनता की सेवा का अवसर मिलता है वे उसमें प्रवृत्त हो जाते हैं। अनेक ऐसे भी संत हैं जो मत्स्यामद्य में सामान्य निर्बन्धों का पालन करते हैं। वे समाज की दृष्टि में अधिक प्रतिष्ठा तथा सम्मान के भाजन बनते हैं। काशी के किनाराम की तो बहुत अधिक प्रसिद्धि है और उनके मठ के प्रति लोगों के हृदय में सम्मान की भावना है।

सामान्यतः गुरु के निर्वाण के दिन भण्डारा किया जाता है जिसमें मांस मदिरा, मछली आदि खाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त निश्चित स्थानों पर निश्चित तिथियों में मेला लगा करता है जिसमें सभी सरभंगी जुटते हैं। खूब आनन्द मनाया जाता है। नाच गान रास-रंग होता है। काशी के किनाराम के मठ में हर वर्ष भाद्र के कृष्ण या शुक्ल पक्ष की षष्ठी तिथि को लोलार्क षष्ठी (लोलाख) मेला लगता है। यहाँ सभी साधु एकत्र होते हैं। औरतें वरदान माँगने आती हैं। घर-गृहस्थीवाले चेला होते हैं। बनारस की वेश्यायें मठ में वर्ष में दो बार आती हैं तथा भेंट चढ़ाती हैं। उनका विश्वास है कि ऐसा नहीं करने से उनका गला खराब हो जायगा। वेश्यायें इस सम्प्रदाय की शिष्या हैं। भण्डारा के समय 'पंगत के हरिहर' कहकर खाया जाता है। मठ में गुरुमन्त्र भी दिया जाता है। माधोपुर (चम्पारन) में माघ तृतीया को हर वर्ष मेला लगता है। यह मेला लगभग एक मास रह जाता है। इसमें दूर-दूर से सरभंग साधु एकत्र होते हैं। खूब नाच-रंग होता है। लगातार पन्द्रह दिनों तक गाना-बजाना चलता रहता है। यह मेला बहुत ही प्रसिद्ध है। इसी प्रकार का एक मेला माघ वसन्त-पंचमी को हर वर्ष मलकरा (चम्पारन) में भीटेकमनराम की निर्वाण तिथि पर लगता है। इसमें सोल्लास समाधि-पूजा होती है। लोग मदिरा मांस तथा फल जो कुछ मिल जाता है खाते हैं। यहाँ टेकमनराम भिनकराम बालखण्डी बाबा ज्ञानी बाबा तथा किनाराम आदि शाखाओं के साधु एकत्र होते हैं जिनकी संख्या लगभग १ होती है। चम्पारन का यह मेला सरभंगों के मेला में सबसे बड़ा होता है। इसमें पूजा पाठ होता है प्रसाद तथा वस्त्र का वितरण भी होता है।

सरभंग मत में समाधि-पूजा का विधान है। समाधि-पूजा की निम्नांकित विधियाँ प्रचलित हैं—

(१) जमीन को चौकुंटा खोदकर सन्दूक घर जैसा बनाया जाता है चारा और पाये छोड़ दिये जाते हैं। शव को सन्दूक में उत्तराभिमुख बैठाया जाता है। किवाड़ बन्दकर सन्दूक-सहित गड्ढे पर पटरा रखकर ऊपर पक्का चीट दिया जाता है। उस पर कहीं-कहीं मन्दिरनुमा इमारत बना दी जाती है।

( ) जमीन को छाती भर गोलाकार खोदकर उसमें घर बनाया जाता है तथा उसमें सिंहासन लगाया जाता है। उसमें शव को उत्तराभिमुख पल्थी मारकर बैठाने के बाद ऊपर से पटरा रखकर गड्ढ़ा मिट्टी से भर दिया जाता है। मस्तक के ऊपर गुम्बजा कार मिट्टी रखी जाती है। श्रद्धा तथा धन के अनुसार मन्दिर आदि बनाया जाता है।

(३) गोल गड्ढे में माला पहना भभूत लगा तथा शृंगार कर पल्थी मारकर शव को उत्तराभिमुख बैठाया जाता है। ऊपर से पटरा रखकर मिट्टी अथवा ईंटों की जुनाई की जाती है और पीछे मन्दिर या समाधि का निर्माण होता है।

समाधि के आगे समाधिस्थ की प्रिय वस्तुएं स्मारक के रूप रख दी जाती हैं। उसकी पूजा भी होती है। प्रतिदिन समाधि पर धूप तथा दीप दिखाया जाता है। साधारण प्रायः पदार्थ ही समाधि पर चढ़ाए ही जाते हैं किन्तु विशेष अवसरों पर दारू,

मछली, मांस आदि भी चढ़ाये जाते हैं। कहीं-कहीं वस्त्र के अन्य के साथ समाधि प्रक्रिया भी की जाती है। भादापुर में पूरनबाबा की समाधि के निकट उनकी पादुका रखी हुई है जिसकी पूजा की जाती है। यहाँ एक खप्पर, धूनीपात्र है जिसमें राख रहती है। समाधि पर पहले सभी पूजा की चीजें चढ़ा दी जाती हैं फिर उन्हें 'उपरंग' कर कुछ अंश धूनी में डालकर और तब उन्हें खाया जाता है। समाधि पर भात तथा ताड़ी भी चढ़ाई जाती है। बरसी (वार्षिक) के दिन बाजे-गाजे के साथ गाँजा भाँग, मद्य तथा मिष्टान्न समाधि पर चढ़ाया जाता है। इस मत में पितृ-पूजा या किसी अन्य देवी-देवता की पूजा नहीं होती है। कहीं-कहीं समाधि पर चिलम भी चढ़ाया जाता है जिसमें गाँजा रखा जाता है। समाधि-स्थान पर समाधिस्थ की बरसी पर मेले भी लगते हैं। ये लोग निर्गुण उपासना के समर्थक हैं।

सरभंग अपने गुरु के अतिरिक्त अन्य देवी देवता को नहीं पूजते हैं ये ईश्वर के स्थूल प्रतीक, मूर्ति आदि में विश्वास नहीं करते हैं। प्रतिदिन स्नान के बाद ये गुरुओं की समाधि पर पुष्पमाला चढ़ाते हैं अथवा तैयार हो जाने पर उसमें से लेकर गुरु की समाधि के निकट अग्नि में आहुति देते हैं। पूजा-सामग्री में मद्य-मांस भी रहते हैं। ये लोग आत्मानुभूति द्वारा ब्रह्म से साक्षात्कार करने में विश्वास रखते हैं। इसमें सद्गुरु का स्थान सर्वोपरि है। ये वस्तुतः सद्गुरु को ही सत्पुरुष का पार्थिव प्रतीक मानते हैं। शिवराम की समाधि पर ताड़ी की बोतलें एक एक रुपया नारियल, पंचमेवे आदि चढ़ाते हैं। सरभंग संत किसी प्रकार की अन्य पूजा या नमाज आदि नहीं करते हैं।

चौथा अध्याय

परिचय*

* यह परिचय अधूरा है, क्योंकि अनुशीलन अनुसंधान के क्रम में जो सूचनाएं प्राप्त हुईं उनके आधार पर ही इस अध्याय की सामग्री प्रस्तुत की गई है। अभी ऐसे लेखक बहुत और अथवा हजारों संत साधु हैं जिनके संबंध में परिचयात्मक विवरण नहीं प्राप्त हो सके हैं। हम सभी जन-साहित्यप्रेमी साहित्यिक बन्धुओं से अनुरोध करेंगे कि वे कोई अथवा वरवल-मंडली का भी साहित्यिक अथवा रचनात्मक सामग्री मिल सके, उसे संपादक के पास भेजने की कृपा करें। —सं

[अ] प्रमुख संतों का परिचय

१ किनाराम[1]

अघोर-मत के आचार्य श्रीकिनाराम का जन्म बनारस जिले के चन्दौली तहसील के प्रसिद्ध गाँव रामगढ़ के एक संभ्रान्त रघुवंशी परिवार में लगभग संवत् १६८४ विक्रमाब्द में हुआ था। ये तीन भाई थे। ये सबसे बड़े तथा विलक्षण गुण युक्त थे। बचपन से ही इनकी रुचि धर्म में थी। अपने साथियों को इकट्ठा करके उनसे 'राम राम, जै जै राम' कहलाया करते थे। माँ-बाप ने इनकी शादी १२ वर्ष की अवस्था में ही कर दी किन्तु गौना होने से पूर्व ही उनकी स्त्री दिवंगत हो गई। कहते हैं कि ब्याह के तीन वर्ष बाद जब इनके गौने का दिन निश्चित हुआ तो उसके एक दिन पूर्व ही इन्होंने जिद करके दूध भात खाया (दूध-भात किसी के मरने पर खाया जाता है)। दूसरे ही दिन इनकी ससुराल से संवाद आया कि उनकी पत्नी का देहावसान हो गया है। यह समाचार पाकर लोग दुःखी हुए तथा आश्चर्य प्रकट किया कि किना को यह बात एक दिन पूर्व कैसे मालूम हुई। उसके कुछ दिनों के बाद ये अकस्मात् विरक्त होकर घर से चल पड़े और रमते हुए गाजीपुर पहुँचे जहाँ रामानुजी सम्प्रदाय के महात्मा श्रीशिवारामजी रहते थे। ये उन्हीं की सेवा करने लगे तथा उनसे शिष्य बना लेने का अनुरोध किया। शिवारामजी कुछ दिनों तक तो टालमटोल करते रहे किन्तु इनकी सेवा भावना से प्रभावित होकर एक दिन उनसे कहा—'आओ तुम हमारे साथ गंगाजी चलो, वहीं उपदेश देंगे।' यह सुनते ही प्रसन्न होकर किनाराम उनके साथ गंगा को चले। रास्ते में शिवाराम ने अपना बाघम्बर तथा पूजा सामग्री इन्हें देकर कहा—'तुम आगे चलो मैं शौच होकर आता हूँ।' तब सामान लेकर किनाराम गंगातट पर पहुँचे और सिर झुकाकर बड़े प्रेम से गंगाजी को प्रणाम किया। जब सिर उठाया तो देखते हैं कि गंगा का जल बढ़कर उनका चरण चूम रहा है। शिवाराम दूर से ही सब कुछ देख रहे थे। इस घटना से इनका अन्यतम महात्मा होना प्रमाणित होता है या शिवाराम का महात्म्य भी प्रकट होता है क्योंकि उनका बाघम्बर तथा पूजा सामग्री इनके पास थी। शिवाराम ने भाव से विह्वल होकर किनाराम को गुरुमन्त्र दिया। अकस्मात् शिवाराम की पत्नी इस संसार से चल बसीं। इसके बाद शिवाराम ने पुनः दूसरी शादी करनी चाही। इससे किनाराम ने नाराजगी प्रकट करते हुए कहा 'यदि आप दूसरा ब्याह करेंगे, तो मैं दूसरा गुरु कर लूँगा।' शिवाराम ने कहा—जाओ कर लो दूसरा गुरु। इसी समय किनाराम वहाँ से चल पड़े और

नैगडीह गाँव में गये। वहाँ एक बुढ़िया को रोते देख उन्होंने उसके रोने का कारण पूछा। बुढ़िया ने कहा—'मुझपर जमींदार का पोत चढ़ गया है इसीलिए वह मेरे ५३ को पकड़ ले गया है। उसके छूटने का कोई उपाय न देखकर रो रही हूँ। किनाराम उस बुढ़िया को लेकर जमींदार के पास गये और उसके बेटे को छोड़ देने के लिए कहा। इसपर जमींदार ने अपना पोत माँगा। किनाराम ने उस लड़के को जमीन से उठाकर जमींदार से वहाँ की जमीन खोदकर अपने रुपये ले लेने को कहा। जमीन खोदने पर वहाँ केवल रुपया-ही-रुपया दिखाई पड़ा। जमींदार इनके पाँव पर गिर पड़ा। इन्होंने बुढ़िया से अपने लड़के को ले जाने के लिए कहा। इसपर बुढ़िया ने कहा—'इसे आपने बचाया है अतः अब यह लड़का आपका है। आप ही इसे ले जायँ। यही बालक पीछे चलकर प्रसिद्ध अवधूत बिजाराम कहलाये। यह जाति के कलवार थे। किनाराम गिरनार में बिजाराम को नीचे छोड़ खुद पहाड़ पर जाकर तप करने लगे। कहा जाता है कि वहाँ पर दत्तात्रेयजी महाराज से इनका सत्संग हुआ था जिसका उल्लेख 'विवेकसार' में भी है। बिजाराम को केवल तीन घरों से ही भिक्षा माँगने का आदेश था। उससे जो कुछ मिल जाता उसी से वे अपना काम चलाते थे। गिरनार से वे दोनों जूनागढ़ पहुँचे। वहाँ का बादशाह मुसलमान था। किनारामजी बाहर ही आसन लगाकर बैठ गये और बिजाराम को अन्दर जाकर भिक्षा माँगने को कहा। बिजाराम शहर में जैसे ही घुसे कि सिपाहियों ने उन्हें कैद कर जेल में डाल दिया। यह घटना सम्भवतः १७२४ वि० की है। इनके लौटने में देरी होते देख किनाराम ने ध्यान लगाया तो सारी बातें मालूम हो गई। फौरन आप शहर में आये और बिजाराम की तरह आप भी जेल में डाल दिये गये। जेल में सब को बड़ी बड़ी चक्की चलाने को मिलती थी इन्हें भी मिली। इन्होंने चक्की की तरफ देखकर कहा—'चल'। किन्तु चक्की नहीं चली इसपर इन्होंने चक्की पर अपने डंडे से प्रहार किया। सारी चक्कियाँ चलने लगीं। यह समाचार सुनकर बादशाह ने उन्हें सादर महल में बुलाया तथा बहुत-से हीरे, जवाहिरात से बड़ा सम्मान किया। किनाराम ने उनमें से दो-चार को मुँह में डाल कर थूक दिया और बोले कि 'यह न तो मीठा है न खट्टा'। इस पर बादशाह ने हाथ जोड़कर कोई आदेश देने की प्रार्थना की। इस पर उन्होंने फकीरों को ढाई पाव आटा देने को कहा। तब से यह सिलसिला वहाँ चल रहा है। वहाँ से ये सीधे काशी के एक अघोरी कालूराम (स्वयं दत्तात्रेय भगवान्) के स्थान पर (केदारनाथ श्मशान-घाट) आये। वे मुर्दा खोपड़ियों को बुलाते और चना खिलाते थे। किनाराम ने इस पर ताज्जुब किया और अपना परिचय देने के लिए उनके इस कार्य को रोक दिया। अब बुलाने पर न मुर्दा खोपड़ियाँ आती थीं और न चना खाती थीं। ध्यान लगा कर देखने पर कालूराम को मालूम हो गया कि किनाराम आये हैं। उन्होंने किनाराम से खाने को मछली माँगी। किनाराम ने गंगाजी से मछली देने को कहा। उनके ऐसा कहने पर एक बड़ी मछली किनारे आ लगी। किनाराम ने उसे निकाल कर भूना तथा तीनों ने मिलकर खाया। कुछ दिनों के बाद गंगा में एक मुर्दे को बहते हुए देखकर कालूराम ने किनाराम से कहा—देख एक मुर्दा आ रहा है।

३ भीखमराम[१]

भीखमराम बाबा माधोपुर, डा० माधोपुर, थाना मोतीहारी जिला चम्पारन के रहनेवाले थे। ये दो भाई थे। जाति के ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज सरयू के उस पार नवापार रम्होली गाँव में रहते थे, वहाँ से स्थानाभाव के कारण भीखमराम के तीन चार पुरत पहले लोग यहाँ आये। माधोपुर पूरा जंगल था। भीखमराम बाबा गरीबी के कारण 'कोड़नी' करके जीवन गुजारते थे। बाल्यावस्था से ही इनमें वैराग्य के लक्षण थे। एक बार किसी के खेत में ये कोड़नी कर रहे थे; उस खेत के मालिक ने सभी मजदूरों का भोजन सामने रखा और कहा कि कोई इसे खा सकता है। उसके ऐसा कहने पर भीखमराम बाबा ने सारे भोजन को खा लिया। बाद में सब को भूख लगी। इन्होंने सब को खाने के लिए कहा। जिसे जिसे खाना था उसके सामने भोजन स्वतः आ गया। इस घटना के समय इनकी अवस्था तीस साल की थी। ये पहले वैष्णव हुए थे। इनके गुरु श्रीप्रीतम बाबा (जो पाखंड करते थे) सेमराहा (छपरा जिला में मशरक थाने के निकट) के थे। इनकी गुरु-परम्परा निम्नरूपेण है—

कबीराम बाबा
|
प्रीतमराम बाबा
|
भीखमराम बाबा

साधु होने से पूर्व प्रतिदिन शाम को भोजन के बाद ये केसरिया के पास नारायणी के सत्तरघाट के निकट सेमराहा में गुरु के पास चले जाते थे और प्रातःकाल लौट आते थे। साथ में भैंस भी रखते थे उसी के सहारे वे नदी पार करते होंगे। कुछ दिन इसी प्रकार बीत जाने पर इनके गुरु प्रीतम बाबा ने इनसे कहा कि तुम रोज परेशान होते हो चलो, हम भी उसी पार चल चलें। उसी दिन प्रीतम बाबा सेमराहा से माधोपुर चले आये। प्रीतम बाबा के माधोपुर आने पर लोग जान सके कि भीखम रोज उनके पास जाया करता था। प्रीतम बाबा के आने के बाद इनके भाई काशीमिश्र भी वहीं घर बनाकर रहने लगे। प्रीतम बाबा की समाधि भी माधोपुर में है। भीखमराम बाबा गाँव के बाहर एक इमली के पेड़ के नीचे रहते थे जो भूकम्प में कट गया। इनकी शिष्य-परम्परा निम्नरूपेण है—

भीखमराम बाबा

प्रेमनराम (कोइरी)	हरिहरराम (मुसलमान) (माधोपुर से १ मील पश्चिम करहरिया में रहते थे।)

प्रीतमराम बाबा के देहावसान के बाद भीखम बाबा ने जगन्नाथपुरी आदि तीर्थों का पर्यटन किया। अन्त में शान्ति नहीं मिलने पर वे सरभंग-मत में आये। तीर्थाटन से लौटते समय रास्ते में मुजफ्फरपुर के लालगंज मुहल्ले के किसी सेठी के मृत पुत्र को जिला

पर से जीवित कर दिया। इस पर लोगों ने इन्हें रोकने की बहुत कोशिश की किन्तु ये नहीं रुके। अन्त में वह संखी इनका पीछा करता हुआ आया और माधोपुर में मन्दिर बनवा गया। तीर्थाटन से लौटने पर वे इतने बूढ़े हो चुके थे कि उन्हें पहचानना बहुत मुश्किल हो गया था। एक हजाम ने उन्हें पहचाना था। उसकी वंशावली निम्नांकित है—

टंना ठाकुर (इसी ने पहचाना था)
सौखी ठाकुर (लड़का था इसलिए कुछ नहीं जानता हो।)

तीर्थाटन से लौटने पर ये सोते नहीं थे दिन-रात बैठे रहते थे। सबसे पहले अन्न खाना छोड़ा फिर तो फल खाना भी छोड़ दिया। बिलकुल निराहार रहने लगे। हरिहर राम सदा इनकी सेवा में लगा रहता था। इन्हीं के शिष्य टकमनराम सरभंग-मठ के प्रवर्तकों में प्रमुख स्थान रखते हैं। भीखम बाबा का लिखा हुआ बीजक अति प्रसिद्ध पुस्तक है जो टंनाराम (राजपूत) रामाभाड़ (सुगौली से गोविन्दगंज जानेवाली सड़क के निकट) के पास है।

पीछे चलकर गाँववालों ने पुत्रादि मांगना करके जब उन्हें तंग करना शुरू किया तब माघ सुदी तृतीया को इन्होंने जीवित समाधि ले ली। ये सिद्ध तथा चमत्कारी पुरुष थे। इनके शिष्य टकमनराम बाबा की परम्परा के मठ चम्पारन सारन तथा मुजफ्फरपुर में हैं। इनकी पत्नी तथा पुत्र की समाधि भी माधोपुर में ही है। इनके जन्म तथा मरण की निश्चित तिथि का पता नहीं चला है। वंशावली निम्नलिखित है—
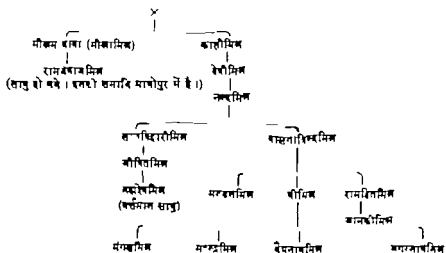
ये बनाराम भवनराम मनमारराम मधुनाथ आदि के समकालीन थे। इनके शिष्य हरिहरराम का बसाया हुआ वैष्णव मठ है। हरिहरराम के मुसलमान होने के कारण वैष्णव मठ का पानी बन्द था किन्तु ज्ञानराम रामदास के बाद यह प्रतिबन्ध

उठ गया है। माधोपुर में भीखमराम बाबा की समाधि पर हर वर्ष माघ सुदी तृतीया को मेला लगता है क्योंकि इसी दिन इन्होंने जीवित समाधि ली थी। इनके प्रमुख मठ निम्नांकित हैं—

१ मोतीहारी—रामगोविन्ददास महंथ हैं। लाल मन्दिर के नाम से प्रख्यात है।
२ बिरछे स्थान—मोतीहारी में है। गरीबदास महंथ है।
३ तुरकौलिया कोठी—माधोपुर से दो मील पश्चिम है। रामलखनदास महंथ हैं।
४ जगिरहा—माधोपुर से दो मील पश्चिम है। जुगलदास महंथ हैं।
५ कोटवा—माधोपुर से दो मील दक्खिन है। रामलखनदास महंथ हैं।

४ टेकमनराम

टेकमनराम चम्पारन जिलान्तर्गत मोतिहारी थाना के धनौती नदी के तट पर स्थित भरवारा* के रहनेवाले थे। ये जाति के लोहार थे। मंगेली के कारण ये राजमिस्त्री का काम करते थे। माधोपुर के मन्दिर की किवाड़ इन्हीं की बनाई हुई है। माधोपुर में मन्दिर की किवाड़ बनाते समय ही ये भीखम बाबा के सम्पर्क में आये तथा उनके शिष्य बन गये। घरवालों तथा स्त्री के तंग करने पर उन्होंने अपनी मूत्रेन्द्रिय काटकर फेंक दी। कहा जाता है कि भीखम बाबा के तीन शिष्य थे। एक दिन भीखम बाबा ने तीनों को बिठाकर उनके आगे लोटा गिलास तथा 'करवा' रख दिया और अपनी इच्छा से एक-एक उठाने को कहा। टेकमनराम ने मिट्टी का 'करवा' उठाया तथा शेष दोनों ने लोटा गिलास उठाया। उसी दिन से ये सरभंग-मत में आये। ये सिद्ध तथा चमत्कारी पुरुष थे। कहा जाता है कि इन्हें ब्रह्म का साक्षात्कार हो चुका था। इनकी वंशावली निम्नांकित है—

```
                    भीखमराम बाबा
                         |
          ┌──────────────┴──────────────┐
  हरिहरराम (मुसलमान)            टेकमनराम (लोहार)
                                        |
                          ┌─────────────┴─────────────┐
                       भवानराम                    मिसरीमाई
                                                      |
                                          रामस्वरूपदास (वर्तमान)
```
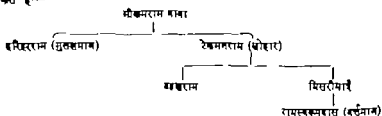
चम्पारन में इनकी परम्परा के बहुत से मठ हैं। कहा जाता है कि एक बार भीखम बाबा अपने शिष्य का मठ देखने बाघ पर चढ़ कर आये। दूर से ही अपने गुरु को आते देख इन्होंने अगवानी करने की सोची। उस समय ये ओसारे पर बैठ कर मुँह धो रहे थे। ओसारा ही अगवानी के लिए चल पड़ा। इन्होंने माघ बसन्त पंचमी को समाधि ली थी। इनका समाधि स्थान भरवारा में हर वर्ष माघ सुदी पंचमी को मेला लगता है जिसमें सरभंग मत के प्रायः सभी साधु आते हैं। इनके प्रधान शिष्यों में भवानराम मिसरीमाई

दर्शनराम तथा सुबिहराम बाबा आदि हैं। इनकी परम्परा के मठ चम्पारन, सारन मुजफ्फरपुर आदि जिलों में फैले हुए हैं।

टेकमनराम मझवारा 'फाँड़ी' (परम्परा) के प्रवर्तक कहे जाते हैं।

५ सदानन्द बाबा

सदानन्द बाबा (सदानन्द गोसाईं) का निवास-स्थान चम्पारन जिले के मझौलिया स्थान से तीन मील पश्चिमोत्तर दिशा में मिर्जापुर के निकट चनाइनवान नामक गाँव में था। ये पं० अम्बिकामिश्र (वर्तमान उम्र ७० वर्ष) से छह पीढ़ी पूर्व हो चुके थे। बाल्यावस्था में ये अपने गाँव के पास ही 'रतनमाला' (पाठशाला) में पढ़ते थे। एक दिन स्कूल के रास्ते में उन्होंने एक पेड़ के नीचे पत्ते में रोटी मिट्टी के बरतन में पानी तथा एक पुस्तक पड़ी देखी। उन्होंने पुस्तक पढ़ी तथा चनके उठाकर रख लिया। उसके बाद रोटी खाई पानी पिया तथा वहीं से विरक्त होकर कहीं चले गये। इनके गुरु का नाम क्या था इसका पता नहीं चलता है। बचपन का नाम चितवरमिश्र था पर घर छोड़ने पर सदानन्द कहलाने लगे। इनकी गणना चम्पारन के सरभंग मत के प्रवर्तकों में होती है। यत्र-तत्र इनके शिष्यों की समाधियाँ मिलती हैं हाँ किसी जीवित-जाग्रत् मठ का अभी तक पता नहीं चल सका है। ये एक सिद्ध पुरुष थे। प्रतिदिन ये अपनी अँतड़ी मुँह से निकालते थे और उसे साफ किया करते थे। किसी का बनाया हुआ भोजन नहीं खाते थे बल्कि स्वयं बनाकर खाते थे। सिद्ध संत के अतिरिक्त ये बहुत अच्छे कवि भी थे। इन्होंने बहुत-सी पुस्तकों का प्रणयन किया था किन्तु वे अग्निकाण्ड में भस्म हो गईं। जो कुछ चराम से बच रही हैं वे चम्पारन के मुमहरवा निवासी भीनरसिंह चौबे के पास हैं। इनकी सिद्धि से प्रभावित होकर तत्कालीन बादशाह ने इन्हें वृत्ति दी थी जो इनके वंशज लगातार लेते रहे। (वृत्ति के दो परवानों की मूल प्रति बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना में सुरक्षित है।) इनके प्रमुख शिष्य परम्परराम बहुत प्रसिद्ध महात्मा हो चुके हैं। इनकी वंशावली निम्नरूपेण उपलब्ध है—

कसोरामिश्र
- रामदत्तमिश्र
  - कोकिलामिश्र
    - यशोमिश्र
      - बनारसदत्तमिश्र
        - रामसुमनमिश्र
          - अम्बिकामिश्र (इन्हीं से सारा वृत्तान्त मिला।)
- चितमनमिश्र (चितवरमिश्र) (यही गृह त्यागकर सदानन्द कहलाये।)

इनकी समाधि चनाइनवान में है। समाधि पर सुन्दर मन्दिर बना है। कहा

जाता है कि इन्होंने जीवित समाधि ली थी। इनकी समाधि के पास इनकी दो क्वाँरी बहनों की समाधि है जो इन्हीं की शिष्या थीं। इनकी समाधि की पूजा तिल-संक्रान्ति के दिन होती है। इनके जन्म मरण की निश्चित तिथि अज्ञात है।

[आ] कुछ संतों के चमत्कार की कथायें

क किनाराम

विवाह के तीन वर्ष बाद किनाराम के गौने का दिन निश्चित हुआ। जिस दिन उन्हें ससुराल जाना था उससे एक दिन पूर्व उन्होंने दूध-भात खाने के लिए माँगा। इसपर घरवालों ने उन्हें फटकारा और कहा कि ऐसी शुभ घड़ी में ऐसा अशुभ खाना दूध-भात (दूध भात किसी के मरने पर खाया जाता है जिसे 'दुधमुही' कहते हैं) माँगता है। किन्तु उन्होंने जिद करके दूध भात ही खाया। अगले दिन ही संवाद आया कि उनकी पत्नी का देहावसान हो चुका है। घरवाले यह सुनकर दंग रह गये कि किना को यह कैसे मालूम हो गया था।

× × ×

जब वे घर से विरक्त होकर निकले तो गाजीपुर के शिवाराम की सेवा में पहुँचे। उन्होंने शिवाराम से गुरुमंत्र देने की प्रार्थना की। एक दिन शिवाराम ने उन्हें अपना बाघम्बर तथा पूजा-सामग्री दी और कहा कि तुम गंगातट पर चलो हम शौच से निवृत्त होकर आते हैं वहीं तुमको गुरुमंत्र देंगे। किनाराम ज्योंहि गंगातट चले। तट से कुछ दूर से ही उन्होंने गंगा को सिर नवाकर प्रणाम किया। जब सिर उठाया तो देखते हैं कि गंगा का जल बढ़कर उनका चरण स्पर्श कर रहा है।

× × ×

अपने प्रथम गुरु शिवाराम से मतभेद होने पर जब वे चले तब नैगबीर पहुँचे। वहाँ पर एक बूढ़ी को रोते देखकर उसके रोने का कारण पूछा। बुढ़ी ने कहा कि जमींदार का मुझ पर पोत (मालगुजारी) चढ़ गया है, इसीलिए वह मेरे पुत्र को ले गया है। उसके छूटने का कोई उपाय नहीं देखकर रो रही हूँ। किनाराम उस बूढ़ी को साथ लेकर जमींदार के यहाँ गये और उन्होंने जमींदार से बुढ़िया के बेटे को छोड़ने के लिए कहा। इसपर जमींदार ने अपना पोत माँगा। किनाराम ने बुढ़िया के बेटे को जमीन से खड़ा करके जमींदार से वहाँ की जमीन खोद कर रुपये ले लेने को कहा। जमीन खोदने पर उसमें केवल रुपये-ही रुपये दिखलाई पड़े।[1]

× × ×

एक बार किनाराम अपने शिष्य बिजाराम को साथ लेकर जूनागढ़ पहुँचे। बाहर आसन लगाकर बिजाराम से अन्दर शहर में जाकर भीख माँग लाने के लिए कहा। बिजाराम ज्योंही शहर में घुसे कि उन्हें बादशाही सिपाहियों ने कैद करके जेल में डाल दिया। जब बिजाराम के लौटने में देर हुई तो ध्यान लगाकर किनाराम ने देखा और

सब कुछ समझ गये। तुरत वे भी शहर में घुसे और उसी तरह जेल में डाल दिये गये। वहाँ उन्हें बड़ी चक्की चलाने को मिली। उन्होंने चक्की को देखकर कहा—'चल। किन्तु चक्की न चली। इसपर किनाराम ने चक्की पर एक डण्डा मारा। सारी चक्कियाँ चलने लगीं। यह देखकर सभी लोग दंग रह गये।[११]

× × ×

जूनागढ़ से किनाराम सीधे काशी पहुँचे। वहाँ एक अघोरी फकीर बाबा कालूराम रहता था। वह मुर्दे सिरों को बुलाता था और उन्हें चने खिलाता था। इन्होंने अपने चमत्कार से उसका खाना तथा चना खाना बन्द कर दिया।[१२]

× × ×

कुछ दिन के बाद कालूराम ने किनाराम से खाने को मछली माँगी। किनाराम ने गंगा मैया से मछली देने को कहा। उनका कहना था कि एक बड़ी मछली किनारे आ लगी। किनाराम ने उसे बाहर निकाल कर भूना तथा दोनों ने मिलकर खाया।[१३]

× × ×

एक दिन गंगा में एक मुर्दे को बहते देखकर कालूराम ने किनाराम से कहा—'देख मुर्दा आ रहा है। इस पर किनाराम ने कहा—'यह मुर्दा कहाँ? यह तो जीवित है। तब कालूराम ने कहा कि यदि जीवित है तो बुला लो। किनाराम ने मुर्दे को आवाज लगाई तथा किनारे आने को कहा। मुर्दा किनारे आ गया तथा बाहर निकलकर खड़ा हो गया। वही रामजियावनराम कहलाया।[१४]

× × ×

किनाराम प्रतिदिन एक व्यक्ति के यहाँ भीख लेने जाते थे। संयोगवश उसका लड़का मर गया। वह व्यक्ति शोक से पागल होकर चिल्ला रहा था। किनाराम जब भीख लेने उसके यहाँ गये तो उसकी दुर्दशा देखकर हँस पड़े और मृतक को देखकर बोले—'किन्तु तुम्हारे घर के लोग रो रहे हैं और तुम नखड़ा करके सोये पड़े हो। जल्दी उठो। बस उसका मृत पुत्र तुरत उठ बैठा। इस व्यक्ति के वंशज आज भी काशी में विद्यमान हैं।

× × ×

एक व्यक्ति ने निस्सन्तान होने के कारण बाबा की सेवा में आकर अपना दुखड़ा सुनाया। इन्होंने अपने समकालीन संत तुलसीदास के यहाँ उसे भेज दिया। संत तुलसीदास ने उसकी बातें सुनकर अपने इष्टदेव हनुमान् से प्रार्थना की। स्वप्न में हनुमान्‌जी ने तुलसीदास से कहा कि उसके भाग्य में पुत्र लिखा ही नहीं है। यह कठोर वाक्य सुनकर वह व्यक्ति रोता हुआ पुनः बाबा की सेवा में हाजिर हुआ और सारा वृत्तान्त कह सुनाया। इस पर बाबा ने हँसते हुए उस व्यक्ति की स्त्री के पेट पर एक डण्डा मारा और कहा कि जाओ अवश्य पुत्र होगा। पत्नी को उसी समय मालूम हुआ कि वह गर्भवती हो गई है। नौ मास बाद उसे पुत्ररत्न प्राप्त हुआ।

ख मीखम बाबा

गरीबी के कारण मीखम बाबा पहले खेत में कोड़नी करके अपना गुजारा करते थे। एक बार किसी के खेत में काम कर रहे थे। खेत के मालिक ने सभी मजदूरों का भोजन सामने रखकर कहा कि कोई इसे अकेला खा सकता है। इस पर मीखम बाबा ने सारा खाना खा लिया। कुछ देर के बाद सब को भूख लगने लगी। इन्होंने सब से खाने के लिए कहा। जिन्हें भोजन करना था उनके आगे भोजन आ गया।

× × ×

मीखम बाबा जगन्नाथजी की यात्रा करके अपने स्थान (माधीपुर) लौट रहे थे। बीच रास्ते में ही मुजफ्फरपुर के लालगंज मुहल्ले में एक तेली का लड़का मर गया था। सभी लोग रो रहे थे। मीखम बाबा से यह कारुणिक दृश्य देखा नहीं गया। उन्होंने चिता पर से उसके लड़के को जीवित कर दिया। जिस लड़के को जीवित किया था उसी के बाप का बनवाया हुआ माधीपुर का मन्दिर है।

× × ×

तीर्थाटन से लौटने पर मीखम बाबा ने सोना बिलकुल छोड़ दिया था। दिन-रात हमेशा बैठे ही रहते थे। इसके कुछ दिन बाद इन्होंने पहले अन्न तथा उसके बाद फल खाना छोड़ दिया। एकदम निराहार रहने लगे।

ग टेकमनराम

टेकमनराम के गुरु मीखम बाबा एक दिन उनके मठ को देखने के लिए बाघ पर चढ़कर आये। दूर से ही उन्हें आते देखकर उनकी अगवानी करने की सोची। उस समय वे ओसारा पर बैठकर मुँह धो रहे थे। ओसारा ही उनके साथ अगवानी के लिए चल पड़ा।

× × ×

एक बार भुपशाही (बतिया राजा के राज्यकाल में) टेकमनराम 'करवा (मिट्टी का टोंटीदार बरतन) के मुँह में प्रवेश कर उसकी टोंटी से मच्छक बनकर निकल आये थे।

घ कर्त्ताराम धवलराम

एक बार कर्त्ता (करतार) राम तथा धवलराम नारायणी नदी में स्नानार्थ गये हुए थे। छोटे भाई कर्त्ताराम पानी में कलश बोरने लगे। वह कलश अकस्मात् मझधार में पड़कर अथाह जल में चला गया। जब धवलराम उसे लाने गये तब सभी जगह घाट पानी ही मिला।[^]

× × ×

एक बार एक ग्वालिन सन्ध्या समय दूध बेचकर घर लौट रही थी। उस घर जाने के लिए नारायणी पार करना था। घाट पर नाव नहीं देखकर वह रोने लगी। वह कहने लगी कि मेरा लड़का दूध के बिना मर जायगा। लोगों के कहने पर उसने

करतार से सारी कथा कह सुनाई। उसका क्रन्दन सुनकर आगे-आगे करतार चले और पीछे-पीछे मालिन को चलने कहा। मालिन को पहुँचा कर करतार लौट आये। सभी जगह ठेहुन भर ही पानी मिला।[१९]

× × ×

एक बार नारायणी नदी में एक नाव डूबने लगी। मल्लाह ने उसे बचाने की हर कोशिश की किन्तु बचा न सका। अन्त में सब लोगों ने कत्ताराम की दुहाई देनी शुरू की। चमत्कार देखिए कि कत्ता की दोहाई देते ही नाव किनारे आ लगी।[१०]

× × ×

एक बार बतिया राज्य की जमीन के बारे में लड़ाई चल रही थी। मुकदमा अदालत में था। सभी वकीलों ने कह दिया कि मुकदमा में कोई जान नहीं है हार निश्चित है। कोई चारा न देखकर महाराजा करतार की सेवा में उपस्थित हुए तथा सारी कथा कह सुनाई। महाराज ने करतार से उस मुकदमे में जीतने का वरदान चाहा। इस पर करतार ने कहा कि जब तुम यहाँ तक आये हो तब जीत जाओगे। राजा वरदान लेकर खुशी-खुशी लौट रहा था कि रास्ते में ही नौकर ने आकर जीत की खबर सुनाई।[१८]

× × ×

यह कहानी करतार के स्थान देकहा की है। एक बार कुछ चोर खेत में लह लहाती फसल को काटने आये। वे लोग फसल काटकर बोझ को ज्योंही सिर पर लेते हैं कि अन्धे हो जाते हैं और रात भर खेत में ही भटक कर काटते रह जाते हैं। सुबह होने पर कत्ताराम ने उनकी आँख ठीक की तथा उसे ऐसा न करने की हिदायत दी।[१९]

× × ×

कुछ चोर कत्ताराम की कुटिया में चोरी करने घुसे। रात भर वे लोग चीजें टटोलते रहे किन्तु कुछ नहीं मिला। अन्त में सुबह होने पर कत्ताराम ने उन्हें खिला पिलाकर विदा कर दिया। कुटिया की धूल लग जाने से उनके शरीर के सारे रोग जाते रहे।[२]

× × ×

अगर कोई व्यक्ति कत्ताराम धवलराम की कुटिया में झूठ बोलता था तो वहीं एक बालक प्रकट होकर उसकी ढ्योढ़ पर सटर्र लगाता था।[२१]

× × ×

कत्ताराम धवलराम की कहानियाँ सुनकर मनसाराम के मन में हुआ कि इन्हें करतार कैसा है? यह मान मनसाराम उन्हें देखने चले। अभी पहुँच भी नहीं थे कि पहले से ही करतार ने सबको उनके आने की खबर सुना दी।[२]

× ×

दूसरी बार मनसाराम कत्ताराम की परीक्षा लेने बाघ पर चढ़कर आये। उन्हें

दूर से सांप देखकर रुना तथा भयभीत होने लगे। मनसाराम सांप से ज्योंही उतरे कि सांप सांप खड़ा हुआ।[13]

×　　×　　×

एक बार करतार मे भगत पड़ोसी महंथ से केले की फलियाँ मँगवाईं। महंथ ने कहा— केले की फलियाँ हैं ही नहीं, तो दूँ कहाँ से? यह सुनकर करतार बोले कि सिद्ध की बात वृथा नहीं जाती। ठीक उसी दिन से केला फलना बन्द हो गया। पुनः अनुनय विनय करने पर कर्त्ताराम की कृपा से केला फलने लगा।[14]

×　　×　　×

एक बार गण्डक-स्नान करने बहुत-से नर-नारी इकट्ठे हुए। शीत ऋतु थी। ठण्ढ के मारे लोग व्याकुल हो रहे थे। पास में ही विभीषण नामक केवट का खर का पुंज लगा था। धवलराम ने सब को उसे जलाकर तापने की आज्ञा दी। एक तो बेचारे केवट को पहले से ही घाटा लग रहा था अब तो सारी पूंजी ही खतम होने को थी। बेचारा बड़ा चिन्तातुर हो गया। उसे चिन्तित देख धवलराम ने कहा—'घबराओ नहीं जिसने जलाया है वही भरेगा। उस वर्ष उस केवट को ७ ८ का लाभ हुआ।[15]

×　　×　　×

पटना के एक महाजन को कुष्ठ-व्याधि थी। बहुत दवा कराई किन्तु लाभ नहीं हुआ। अन्त में कर्त्ताराम की सेवा में आकर रोग निवृत्ति के लिए विनती की। कर्त्ताराम ने उसे स्नान कराके चरणोदक पीने दिया। उसे पीकर भभूत लगाते ही उसका शरीर सोने-सा सुन्दर हो गया। उसका सारा रोग जाता रहा।[16]

×　　×　　×

कर्त्ताराम के मठ के दक्षिण पाकड़ का पेड़ था। कोई महावत हाथी लेकर उससे पत्ता तोड़ने आया। लोगों के मना करने पर भी वह पत्ता तोड़ता ही रहा। यह बात जीवनराम नामक व्यक्ति ने बाबा को सुनाई। फिर क्या था? महावत पेड़ से ज्योंही उतरता है कि हाथी पागल हो जाता है। चिल्लाता चिग्घाड़ता हुआ घर की तरफ भागा और मालिक के पास जाकर तुरत मर गया।[17]

×　　×　　×

एक समय 'कर्त्ताराम धवलराम-चरित्र' का लेखक सिरमा जा रहे थे। रास्ते में मगध का ब्राह्मण मिला और विवाद शुरू कर दिया। मना करने पर चौगुना हल्ला करने लगा। इसी समय उसके शरीर में दर्द शुरू हुआ। बहुत-सी औषधि की किन्तु लाभ न हुआ। अन्त में कर्त्ताराम की सभा में हाजिर हुआ। उस दुःखद दुःख को देख महाराज द्रवित हो गये और उसके दुःख को दूर कर दिया।[1]

×　　×　　×

धवलराम के समाधिस्थ होने के बाद सेवकों के मन में उनके दर्शन की उत्कट

अभिलाषा हुई। एक दिन लोगों ने उन्हें रथ पर सवार होकर जाते हुए अमरखा गाँव में देखा। सब लोगों ने उनका दर्शन कर आश्चर्य प्रकट किया। इस पर बलराम ने कहा कि तुम लोगों का मनोरथ पूरा करने ही आया हूँ। इतना कहकर अन्तर्धान हो गये।"[११]

च फुटकल

महरौली की मिनक-परम्परा के शिष्य श्रीबालमुकुन्ददासजी ने स्वेच्छया शरीर छोड़ा था। अपने शिष्यों को पहले से ही कहकर भजन करते हुए अपने शरीर का त्याग किया था।

× × ×

प्रो. विश्वानन्द को महादेव घाट (गंगा किनारे) पर कुछ रुपयों की जरूरत थी। एक मल्लाह को देना था। इतने में ही एक औघड़ जहाज से उतरा तथा एक रुपये की थैली देकर चलता बना।

× × ×

सारथि बाबा एक बार सम्भू सिंह के जहाज पर यात्रा कर रहे थे। टिकट माँगने पर एक साथ पचासों टिकट निकाल कर दे दिया।

× × ×

भागलपुर के श्मशान-घाट पर एक पागल-जैसा औघड़ था। उसने एक बार श्मशान क्रिया के लिए गंगा से ही मुर्दे माँगे। बस माँगने की देरी थी कि मुर्दा सामने आ गया। इनका नाम सारथि बाबा था।

× × ×

एक बार दस-बारह वर्ष की सुन्दर लड़की के प्रमाण से प्रो. विश्वानन्द को उनकी खोई हुई 'दुर्गा-सप्तशती' मिल गई थी।

× × ×

एक बार चन्दन पहलवान ने ठा. पूरनसिंह चौहान की स्त्री पर सवार (spirit) भूत को कुट्टी-कुट्टी काट डाला था जिससे वह स्त्री एकदम भली चंगी हो गई थी।

× × ×

एक बाबा तथा एक माई में द्वन्द्व हुआ कि कौन अधिक तेजस्वी है। अन्त में यह तय हुआ कि माई के साथ बाबा समागम करें। जो पहले स्खलित होगा वह हार जायगा। इक्कीस दिनों तक यह सुरत-काम चलता रहा। न कोई हारा न कोई जीता। अन्त में दोनों पृथक् हुए, किन्तु निर्णय नहीं हो सका कि कौन बड़ा है।

इ मठों का परिचय[1]

इस ग्रंथ में निम्नलिखित मठों के विस्तृत अथवा संक्षिप्त परिचय या सूचनाएं दी गई हैं—

चम्पारन जिला

अहीरगाँवाँ
अशु नरूपरा
आदापुर
कररिया
कल्याणपुर
कमालपिपरा
कपवलिया
किसनपुर
गोपालपुर नौरंगिया
चिन्तामनपुर
चढ़िया बरहरवा
चकिया
चौहरी
जितौरा
धीवधारा (सलेमपुर)
झखरा
दुनियाँ
पपहा
नीलकंठवा
नरकटिया
पट्टी अमौली मठ
परसीतिमपुर
पुनरवाजितपुर
पहारपुर
परिक्षतपुर
पूरन छपरा
पिरोजागढ़
परसा बरहरवा
बैंगरी
बगही
बहुआरा
बेतिया
बेलवटिया
बरमनियाँ चकिया
भवानीपुर
मोफ्तपुर
महाजोगिन स्थान
मैंगुराहा
ममरखा
मशाही
माधोपुर
मधुबन
मिर्जापुर
महुआरा
महुआवा
रमपुरवा
रुपौली
रामपुर मेड़ियाही
लखौरा
लोकनाथपुर
संग्रामपुर
साहेबगंज
सगरबिना
सिरहा
सतगछी
सेमरा
सुरहा
सेमरहिया
सिकटा
सिमराही
सिमरौनगढ़

सारन जिला

कस्वारु	पैंचस्ती
कोपा	पचुआ (मिराव ढाला)
गड़खा	बहरौली
चमनपुरा	माँझी
छपरा नं ४१ का ढाला का मठ (अमृतबाग)	ममनपुरा
टेंड़वा	मुसहरी
डुमरमन	रामगढ़
ठेलपा	रसलपुरा
दोलिया	रिविलगढ़ (रिविलगंज)
नचाप	सहजोन्न पकड़ी
नटवा सेमरिया	साँढ़ा

मुजफ्फरपुर जिला

गुवाही मरपट	मोहारी
दकहा	रामनगरा
पसरामपुर	रेवामी
पीतबरैरा	सबंगिया
फूलकाँटा	साहेबगंज बाजार
मझुरहर	

नैपाल तराई

ढिठुकी	राजपुर
नायकटोला	बिस्वाखोला
पिपरा	महोरवा मौनरवा
मधुरी	सिमरौनगढ़

पटना जिला

गायघाट पटना सिटी	मनर

शाहाबाद जिला

किसी बाजार में

बलिया जिला

बलिया पुरानी बाजार गंगा-तट पर

अर्जुन छपरा

यह मठ बैंगरी से आठ मील दक्खिन सिमुआपुर के पास है। इसके वर्तमान महंथ हरिदासजी भीखमजी गोसाईं के पुत्र तथा शिष्य हैं। अर्जुन छपरा के एक वृद्ध शिष्य मुसलमान थे जो नाचते और सारंगी बजाते थे। ये बाल-बच्चेवाले आदमी थे। इन्हीं की लड़की से हरिदासजी ने शादी कर ली और वहीं पृथक् मठ बनाकर रहने लगे। हरिदास की पहली 'जबुनी' (पत्नी) मधुबाता मठ के एक ब्राह्मण के संसर्ग में आ गई थी। बाद में गाँववालों के मारने-पीटने पर न जाने कहाँ भाग गई। उसके बाद हरिदास अर्जुन छपरा में रहने लगे। इनका सारा परिवार सत्संग हो गया है —

वंशावली

- चौधुराम
  - उपेन्द्रराम
    - भीखम गोसाईं
      - वर्तमान महंथ (नाम नहीं बताया)

आरापुर

यह मठ मोतीहारी से १ मील उत्तर नेपाल तराई में स्थित है। यह भिनकराम की परम्परा का एक प्रसिद्ध मठ है। आरापुर रेलवे स्टेशन भी है। मठ के पास बहुत बड़ा तालाब है। कहा जाता है कि आरा बाबा एक 'ब्रह्म' थे, उन्हीं के नाम पर यह पोखरा है। पोखरे के पश्चिम तट पर आरा बाबा और 'माई का 'स्थान' भी है। मठ का मकान कच्ची ईंट और मिट्टी से बना हुआ है। इर्द गिर्द स्वच्छ है। इसमें जमीन नहीं है गेहिस्तो से जो 'खाली' मिल जाती है उससे तथा भिक्षावृत्ति से मठ का खर्च चलता है। जब अन्वेषक श्रीमहेश चौबे ता० ११-१-५५ को वहाँ गये तो वहाँ दो सन्त थे—शिवाधरराम और रघुनन्दन दास। शिवाधरराम ही महंथ थे। इस मठ में माईराम नहीं है।

मठ से सम्बद्ध समाधियाँ सब उत्तर की ओर हैं। मुख्य समाधि पूरन बाबा की है। इस पर पूर्वाभिमुख एक मन्दिर भी है। रघुनन्दनदास ने कहा कि इस मन्दिर पर त्रिशूल था और घण्ट भी टंगा था जो भूकम्प में टूट गया। निम्नांकित अन्य संतों की समाधियाँ भी हैं—मन्द बाबा, मिसरी बाबा, रामध्यान बाबा, भूरीराम बाबा, दशरथराम, सुन्दरराम और मोहनदास।

वंश-वृक्ष

- पूरन बाबा
  - निरगुनराम
  - मन्दराम
    - रामअवधदासराम (तिरहुत में मौजूद)
    - रूपनराम
  - शिवराम
  - मिसरीराम
    - भूरीराम बाबा
      - रघुनन्दनराम (वर्तमान)
    - सुन्दरराम
    - मोहनदास
  - रामविलासराम
  - शिवानन्दराम (वर्तमान)
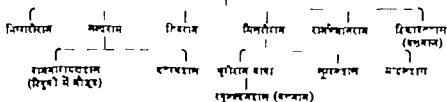
जब रघुनन्दनदास से उनकी जाति पूछी गई तो उन्होंने बताने में आनाकानी की और कहा—सभी संत तो एक ही हो जाते हैं। आप भैंस के दूध को विनगाम से क्या मतलब ?

कल्याणपुर

यह मठ कोरवा बरहदवा के पास स्थित है। इसके साधु सीताराम गोसाईं से निम्नांकित सूचनाएँ थीं—

वंशावली

नरसिंह बाबा (ब्राह्मण)
|
रामाराम (राजपूत)
|
शिवनराय (मल्लाह)
|
सीताराम गोसाईं (बेरा)

इनकी स्त्री (माईराम) भी हैं जो मल्लाह कुल के संत की लड़की हैं। वे निम्न निर्दिष्ट मरोमी बाबा के कुल की हैं। मरोमी बाबा भी इसी मठ से सम्बद्ध हैं।

मरोमी बाबा
|
रामप्रसाद बाबा
|
गोपाल गोसाईं (सीताराम गोसाईं के श्वसुर)

मझरा

यह मठ ग्राम मझरा से एक मील दूर मनोती नदी के तट पर बीरवारा स्टेशन से दो मील पूरब मोतिहारी थाना में स्थित है। इसे भीकमीराम (भीखमदासजी) ने भीटेकमनराम को दिया था। इसकी स्थापना १ वर्ष पूर्व हुई थी। पुराने बंगला का अवशेष अब भी साफ दिखलाई पड़ता है। यहाँ ५५ बीघे जमीन है।

वंशावली

भीखमराम (क्षत्रिय)
├── हरिहरराम
└── टेकमनराम
    ├── रघुराम
    └── मिसरीगाई
        |
        सम्मनराम (स्वर्णकार)

यहाँ माघ बसन्त-पंचमी को हर वर्ष मेला लगता है जिसमें सरमंग साधु हजारों की संख्या में आते हैं। इस मेले में आनेवाले अपने गाँजा भाँग लाते हैं और मन्दिर में चढ़ाकर महंथ को दे देते हैं। भंडारा के समय 'राम नाम बंदगी' तथा मन्दिर में यहीं

घंटे के साथ भोग लगता है। वे लड्डू तथा गाँजे के साथ भगवान् महावीर और टेकमन राम की जय मनाते हैं। इसमें टेकमनराम तथा भिनकराम की शाखा के प्रायः सभी अनुयायी आते हैं। यह मेला सम्भवतः टेकमनराम की पूजा के लिए लगता है क्योंकि इसी दिन टेकमनराम समाधिस्थ हुए थे। इसमें नाच-रंग खूब होता है। वृद्ध साधुओं को नवयुवक साधु माथा टेक 'बंदगी' करते हैं। यह मठ खूब साफ-सुथरा नहीं रहता है। यहाँ श्रीटेकमनराम वरानराम तथा गुविप्राम की समाधियाँ उत्तराभिमुख बनी हैं। मेले में भारत के प्रायः सभी स्थानों के सरभंग आ जुटते हैं। ये लोग सभी का बनाया जा सकते हैं।

पट्टी जसौली मठ

पट्टी जसौली के भिनकपंथी साधु श्रीसुखेश्वरदास से निम्नांकित सूचनाएँ मिलीं—

वंशावली

भिनकराम बाबा
│
बालो बाबा (नोनिया)—कमछिया मठ
│
रंगलालदास (राजपूत)
│
गुनेश्वरदास (राजपूत)
│
सुखेश्वरदास (राजपूत)

इन्होंने बताया कि बाबीदास एक भिनकपंथी साधु थे जिन्होंने 'झूलना' बनाया। यह 'झूलना' सेमरा के श्रीरघुबीरदास के पास है।

पंडितपुर

यह मठ कमछिया की शाखा है। यह श्रीरोशनदासजी द्वारा स्थापित है। इस मठ में श्रीलखनदासजी हैं जो यहाँ भूकम्प के वर्ष (१९३४) में आये।

वंशावली

रामचरणदास (नोनियाँ)
│
रामजनदास (कायस्थ)
│
भैयादास (सेमरा कोहार) भैया ठाकुर
│
लखनदास (मल्लाह) वर्तमान

श्रीलखनदासजी का घर मोतीपुर है। इनके घर पर इनका कोई नहीं है। ये मूर्ति न मानते हैं, न पूजते हैं। देवता पितर की भी पूजा नहीं करते हैं। केवल 'निरंजन' की पूजा करते हैं।

मझरा मठ से इसमें अन्तर है। मझरा मठ में खेती-बारी गृहस्थी पत्नी आदि सांसारिकता का बाजार है। इसमें अकेला साधु-जीवन है। इसमें स्त्रियाँ नहीं आ सकती हैं।

इसीलिए इनका खान-पान भंडारा से छूटा हुआ है। ये लोग मिथ्याचन करते हैं। शेष सभी बराबर हैं।

यहाँ छत्तर बाबा की समाधि है, जिसका मुख उत्तर की ओर है। भंडारा के लिए कोई दिन अथवा स्थान निर्धारित नहीं है। किसी साधु के दिवंगत होने या कोई कुरीनामा होने पर (अर्थात् किसी ग्रामीण द्वारा आमंत्रित होने पर) भंडारा होता है। सभी मतावलम्बियों से सहानुभूति है किन्तु सब के साथ भोजन नहीं कर सकते हैं।

तिरोमागढ़ (पिरोमागढ़)

तिरोमागढ़ (केसरिया थाने के मोहनपुर के निकट) के नवीनादास ने निम्नांकित सूचनाएँ दीं—
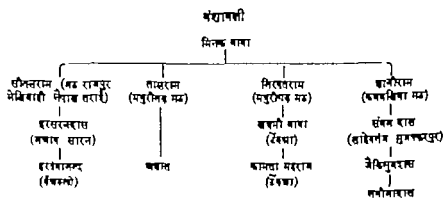
वंशावली

भिनक बाबा
- छीमनराम (मठ रामपुर मेथिवाली नेपाल तराई)
  - हरसरनदास (मशरख सारन)
    - हरेरामानन्द (बेतबनी)
- तापसराम (मधुबनिया मठ)
  - भगवान
- निरपतराम (मधुरिया मठ)
  - लक्ष्मी बाबा (टेकमा)
    - कामता महराज (टेकमा)
- ज्ञानीराम (बबलिया मठ)
  - संतन दास (हाजीगंज मुजफ्फरपुर)
    - नेमिसुदास
      - नवीनादास

यद्यपि लक्ष्मी बाबा निरपतराम के चेला थे तथापि वे अपने को ज्ञानी बाबा का चेला कहा करते थे, क्योंकि वे अधिक प्रसिद्ध हो चुके थे। इस मठ के साधु 'निरबानी' हैं। यहाँ ज्ञानी बाबा की समाधि बनी हुई है। यह मठ केसरिया थाने में भास्तपुर के निकट है।

बैजनथिया

यह मठ ग्राम पनरसिया डाकघर औरवारा थाना मैनीहारी जिला चम्पारन में स्थित है। यहाँ पता लगा कि छत्तर बाबा सरभंग थे परन्तु उनके अनुयायी पीछे कबीरपंथी हो गये। मठ में १६ बीघे भूमि थी है। इस मठ को छत्तर बाबा के शिष्य केवलराम ने स्थापित किया।

छत्तर बाबा सूरदासी थे। प्रातः सूर्योदय से सायं सूर्यास्त तक सूर्य की ओर दृष्टि किए खड़े रहते थे। लगभग [illegible] वर्ष पूर्व देहान्त हुआ। इनके शिष्यों की रचनाएँ प्राय [illegible] वर्ष पूर्व की हैं।
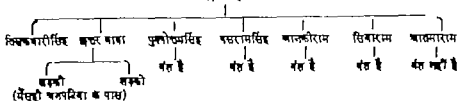
मूल वंशावली

शिवसिंह

- शिवधारीसिंह
- खपर बाबा
  - लक्ष्मी (मैंसही [illegible])
  - बच्चो
- पुरुषोत्तमसिंह — वंश है
- परशुरामसिंह — वंश है
- जानकीराम — वंश है
- सियाराम — वंश है
- आत्माराम — वंश नहीं है

खपर बाबा के गुरु भरेराज से पश्चिम बनबटवा के भूड़ामनराम थे। खपर बाबा पहले बेतिया राज के तहसीलदार थे। तेकहा में तहसील करने आते थे। मझरा में बरगद के पेड़ के नीचे मनसाराम साधु रहते थे। वहाँ वे घोड़े से उतरकर जंगल में घुसे और मनसा बाबा के पास जाकर शिष्य बनाने को कहा। साधु ने कहा—तुम इस पोशाक में शिष्य नहीं बन सकते। इस पर खपर बाबा ने पोशाक उतारकर धुनी में फेंकना चाहा। तब मनसाराम ने उन्हें शिष्य बनाया। अपनी माता के आग्रह से वे अपने गाँव के पास ही कुटी बनाकर रहने लगे। श्रीभिनकराम से उनकी घनिष्ठता थी। वे खपर बाबा के यहाँ एक महीना ठहरे थे।
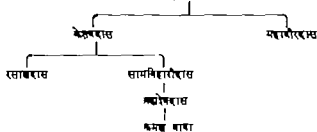
खपर बाबा मिट्टी की हाँड़ी रखते थे उसी को तकिया बना कर सोते। भोजन स्वयं बनाते। फलाहारी थे।

मैंगुराहा

चम्पारन के प्रसिद्ध सरभंग श्रीभवानन्दजी के शिष्य श्रीपरमहंसदासजी की समाधि मैंगुराहा बस्ती से एक फर्लांग उत्तर एक विशाल पोखरे पर स्थित है। ये यहीं रहते थे यहीं समाधिस्थ हुए। समाधि पर मकबरे की आकृति का मन्दिर निर्मित है जिसे परमहंसदास के वंशजों ने १३२६ (फसली) में बनाया था। मन्दिर में समाधि-स्थान पर 'पिंडिया' नहीं है केवल एक स्थान पर जमीन दो इंच 'खाल्ह' (गड्ढा) है। इसमें प्रतिदिन सन्ध्या समय मिट्टी का दीपक जला करता है। यहाँ अब मैंगुराहा के लोग अपनी मनोकामना पूरी करने के लिए 'मनौतियाँ' मानते हैं तथा पूरी होने पर दही की 'छाली' चढ़ाते हैं। उनके वंशजों द्वारा भादव शुक्ला सप्तमी को ब्राह्मण-भोज कराया जाता है; क्योंकि उसी दिन उनको

निर्वाण मिला था। पोखरा पुराना है, इसीलिए यहाँ साँप रहते हैं किन्तु किसी को काटते नहीं हैं। सम्भवतः परम्मत बाबा ने अपनी कुटी यहाँ बनवाई थी जिसका कोई भी निशान अब नहीं मिलता है। कहा जाता है कि परम्मतदास ने दशहरा के दिन जीवित समाधि ली थी और लोगों से कहा था कि 'अगर मेरे सिर की मिट्टी धँस जाय तो समझना कि निर्वाण प्राप्त हो गया है'। भाद्रपद शुक्ला सप्तमी को मिट्टी धँस गई। इसीलिए इसी दिन उनका निर्वाण होना माना जाता है। उनकी समाधि के निकट एक और व्यक्ति की समाधि है जिसने मृत्यु से पूर्व समाधि ली थी। मधुराहा बैंगरी से २२ मील और प्रसिद्ध शिव मन्दिर अरेराज धाम से ६ मील पश्चिम है।
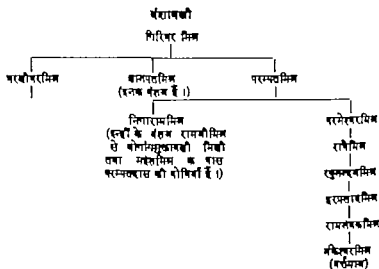
परम्मतदासजी की जीवनी निम्नरूपेण बताई गई है—

परम्मतदास के पूर्वज चम्पारन के गोविन्दगंज थाने में रहते थे। वहीं उनका जन्म हुआ था। बड़े होने पर वे मँगुराहा आये। यह गाँव उनके बड़े भाई श्रीज्ञानपतमिश्र को तत्कालीन बादशाह से रसद की कीमत के रूप में मिला था। ज्ञानपतमिश्र २ १५ साल तक अपने परिवार के साथ रहने के बाद 'बीभन फकीर' हो गये। परम्मतदास के बड़े लड़के निगाराममिश्र बेतिया के नवाब के मुलाजिम थे। परम्मत बाबा की वाणी सिद्ध थी। अपने परिवारवालों को जैसा आशीर्वाद दिया था अभी तक वैसा ही हो रहा है। उनकी मृत्यु १ वर्ष पूर्व हो चुकी है। वे शराब नहीं पीते थे। सबका छुआ अन्न खाते थे। कम भात एवं अधिक साग खाते थे।

माधोपुर

यह मठ थाना मैनीहारी डाकघर सिरकोलिया जिला चम्पारन में माधोपुर गाँव के दक्षिण-पूरब है। यहाँ पहले जंगल था जिसका अवशेष अब भी विद्यमान है। मठ के

दक्खिन कुछ शेख (मुसलमान) लोगों का घर है। इसके वर्तमान महंथ श्रीतपीदास हैं जिनकी अवस्था ८१ वर्ष की है।

वंशावली

कठोराम (ब्राह्मण)
|
प्रीतमराम (ब्राह्मण)
|
भीखमराम (ब्राह्मण) इनकी समाधि बैष्णव मठ में है।
|
टेकमनराम (लोहार)
|
दर्शनराम महाराज
|
सुमिरनराम महाराज
|
दयाराम महाराज (राजपूत)
|
गोकुलदास (राजपूत)
|
तपीदास (कान्यकुब्ज)
|
सुखारीदास (वर्तमान शिष्य)

श्रीतपीदास का जन्म मटिअरवा के सरभंग-परिवार में हुआ था। इन्होंने बताया कि श्रीभीखमराम से पहले लोग बैरागी थे किन्तु भीखम बाबा ने सरभंग मत का प्रचार किया। ९ वर्ष की अवस्था में श्रीतपीदासजी विरक्त होकर सोनबरसा मठ में दाखिल हुए थे। वह मठ अब नहीं है किन्तु अब भी वहाँ सरभंग शिष्य श्रीधुनी बाबा की समाधि विद्यमान है। २१ वर्ष की उम्र में वे सोनबरसा से यहाँ आये। भीखम बाबा यहाँ के जंगल में धुनी रमाकर रहते थे। इससे जब 'असली शब्द' छूट गया तब 'गजबज (गड़बड़) हो गया। कुछ लोगों ने शादी-ब्याह कर बाल-बच्चे पैदा कर लिये। उन्हें यहाँ से हटा दिया गया। यहाँ केवल 'निर्वानी' ही रहते हैं।

वैराग्य टूट जाने या जाति धर्म छूट जाने पर लोग इसमें आते हैं। यहाँ कुत्ता आदि के साथ भोजन नहीं किया जाता है।

गुरु-पूजा नित्य दोनों शाम होती है, जिसमें आरती नैवेद्य चढ़ाए जाते हैं। भोग में गाँजा दारू ताड़ी आदि भोज्य पदार्थ दिये जाते हैं। प्रसाद वितरण नहीं किया जाता है। भिक्षा माँगने की परम्परा नहीं है। जो कुछ आ जाता है वही खाते हैं। फल मूल बाँटे जा सकते हैं किन्तु 'कच्ची रसोई' नहीं बाँटी जा सकती है। यहाँ माघ सुदी तृतीया को मेला लगता है क्योंकि इसी दिन भीखम बाबा को निर्वाण मिला था। मठ में आनेवाले लोग अपना तथा साधुओं का भोजन लाते हैं। इसमें हिन्दू-मुसलमान सभी शिष्य हो सकते हैं।

चोरों से थाने पर खबर दी। दारोगा आये, लाशें बरामद हुए और आसामी चालान किये गये।

मटुआवा मठ

यह मठ ग्राम रामगढ़, थाना पिपरा का पिपराकोठी में स्थित है जो मैंगरी से दो मील पूरब तथा मलसरा से दो मील पश्चिम है। यहाँ रामदास (माधोपुर फाँड़ी) भीखम की परम्परा के हैं। इनका पहला घर बलथी में था। १८ वर्ष की अवस्था में सरभंगों से संगत हुई। घर के लोग स्याच व मोतिहारी कमरिया से एक मील पूरब पट्टन-पड़ान थे। वहीं के सरभंग मठ के साधुओं का संग हुआ। लोअर पास कर वहीं पढ़ाने लगे। उस समय वहाँ उस मठ में शैव वैष्णव तरियासामी उदासी वैरागी (वैष्णव) कबिरहा औघड़ (इनके मत से सरभंग ही औघड़ हैं) गिरनारी सभी राम को भजते थे। रामदास बाबा हिन्दू-धर्मी हैं तथा गेरुआ वस्त्र पहनते हैं। इनके हाथ में एक पीतल का कड़ा है जो नेपाल-राज्य से मिला है। इनके भाई मनोहरदास दिवंगत हो गये। माता पिता के देहान्त तथा जमीन-जायदाद छिन जाने के बाद ये सर्वप्रथम घर से निकले। पीछे से इनके तीनों भाई भी निकल गये। मनोहरदास कोइरी जाति की स्त्री रखे हुए थे जिससे एक पुत्र (बुलाकराम) हुआ। बुलाकराम की शादी एक सरभंग स्त्री से हुई थी जिसने इसे छोड़ दिया।

उन्होंने कहा—'औघड़-पंथ में जिसका मन होता है 'भजन हो या गजन' (व्यभिचार प्रक्रिया—मौखिक लैंगिक उपभोग), वही आता है। स्त्री जाति में जाति प्रथा नहीं है। स्त्रियाँ दुःख या प्रेम-प्रिय स्वभाव से घर से निकलकर यहाँ आती हैं। विधवा की इच्छा होने पर दूसरी शादी हो सकती है।"

यहाँ मनोहरदास तथा 'माईराम' की समाधि है। चकियावाला इनकी पंगत के नहीं हैं। उनमें स्वयं गुरु-चेला होते हैं। इन लोगों को मलसरा में जाने पर खुराक मिलती किन्तु पंक्ति में स्थान नहीं दिया जायगा। पिपरा-स्टेशन के करीब कुछ सरभंग-परिवार साथ रहते हैं। श्रीरामदासजी पहले मिनकराम के शिष्य हुए बाद में मलसरा फाँड़ी के मिनकराम के मत में आये। ६ वर्ष की अवस्था में इन्होंने टेकुआ के लक्ष्मीसखी की सेवा दस दिन की थी। उस समय लक्ष्मीसखी ८५ वर्ष के 'अवधूत' थे। ये ज्ञानी बाबा से शिष्य बनकर टेकुआ चले गये।

रमपुरवा

यह स्थान मैंगुरहा से १ मील और अरेराज से ६ मील पूरब फोलहरा के पास बाँस तथा आम के बाग में स्थित है। यहाँ मिट्टी तथा कच्ची ईंटों और फूस का मकान है। मठ अपनी जमीन में बना है।

वंशावली

प्रीतमराम (किनाराम की जमात के)
|
सुन्दरराम (मोरनपुर)
|
महीपतराम महाराज (शिष्य)
|
हरखूदास (शिष्य—मठ के संस्थापक)
|
मोहनदास (वर्तमान) — बच्ची (दिवंगत) — सुन्नो (विधवा) वर्तमान

मोहनदास (वर्तमान) → गरीबदास (वर्तमान)

बच्ची (दिवंगत) → (किसी मुसलमान चौधरी के साथ रहती थी। संतान है।)

सुन्नो (विधवा) वर्तमान → (यह अर्जुन दुसरा के ...वालों चौधरी से ब्याही गई थी। संतान है।)

सुन्दरराम पश्चिमपुर के सुन्दर बाबा से भिन्न माधोपुर परम्परा के प्रीतमराम के शिष्य थे। मठ के 'हाते' में तीन मठ हैं। एक हरखूदास के पुत्र का और शेष उसकी पुत्रियों का है। यहाँ 'सरभंगिनें' भी रहती हैं जिनका गाँव वालों के साथ बुरा सम्बन्ध है। यहाँ के गरीबदास ने अन्वेषक को निम्नांकित पुस्तकें दीं—(१) रामचरित मानस (२) हनुमानचालीसा (३) रासलीला (४) सगुनठढी (५) मन्त्रों की छोटी पुस्तिका (६) जड़ी-बूटियों की छोटी पुस्तिका (७) कबीर के 'सवैये'। इन 'सवैयों' में दो पर कबीर की स्पष्ट छाप है किन्तु एक का पता नहीं चलता है।

यहाँ एक पश्चिमाभिमुख मण्डपाकार समाधि है जिसमें मिट्टी की दो ऊँची 'पीढ़ियाँ' बनी हैं। एक हरखूदास की तथा दूसरी उनकी स्त्री 'लगन गोसाईं माई' की है। इनकी दूसरी स्त्री 'कौशल माई' की समाधि मण्डप के बाहर है। इसीसे इनका वंश चला। कुछ छड़ी पर महावीरी ध्वज लहरा रहा था। बाबा ने कहा—'यहाँ की स्त्रियाँ अतिथियों के स्वागत-सत्कार के लिए बगल में नहीं सोती हैं।'

सागरदिना

यह चम्पारन जिले में है। इस मठ में आजकल श्रीफागूदास महंथ हैं। ये जन्मना सरभंग हैं। इन्होंने निम्नांकित सूचनाएँ दीं—

गंगाधरदास (भूमिहार) बागमती के किनारे रामपुर के निवासी
(हरिहर-मठ वाला बाबा)
|
रामस्वरूपदास (कलवारी बनियाँ) मड़ी बोकाम के निवासी
(सागरदिना मठ)
|
फागूदास (वर्तमान) जन्मना चौधरी

फागूदास की 'माईराम' (घरवाली) जाति की मलाहिन है। इनके कथनानुसार फागूदास के पिता ब्राह्मण-परिवार से सरभंग में आये थे। इनके पिता श्रीचूमनदासजी मनवारा वाले वर्तमान महन्थ रामस्वरूपदास के शिष्य थे।

साधु-परम्परा

श्रीरामकिशुनदास
|
श्रीरामप्रकाशजी परमहंस (क्षत्रिय)—६१ वर्ष में दिवंगत हुए।
|
श्रीमुक्तप्रकाशानन्दजी (वैश्य)—५८ वर्ष (वर्तमान मौजूद)।

यह मठ बाबा किनारामजी के परिवार का है। इस मठ में अनुसन्धान के परियान के समय बाबा के सत्संगार्थ निम्नांकित महानुभाव सज्जन विद्यमान थे

(१) श्रीयुत बाबा श्रीरामनरेशजी गया (गुरु-स्थान—सरभंगा पुलिस-स्टेशन)।

(२) श्री डा० गयाप्रसाद गुप्त रिटायर्ड सिविल एसिस्टेंट सर्जन चतरा हजारीबाग।

(३) श्रीरामकुमार चौबे मंत्री नैपाल तराई-कांग्रेस वीरगंज।

(४) श्रीयुत बाबू रामअयोध्या सिंह हवलदार, गया पुलिस-स्टेशन।

(५) श्रीसरजुग सिंह गुरुजी आरा।

(६) श्रीरामवचन सिंह पुलिस-स्टेशन छपरा।

(७) श्रीगजेन्द्र सिंह नेवाजी टोला छपरा।

(८) श्रीलक्ष्मीनारायणस्वामी गुरुकुल महियाँ छपरा सारन।

यहाँ मार्कण्डेयपुराण, सिपोसुखिया-तन्त्र, विवेकसागर (किनाराम कृत) पुस्तकें थीं। यह मठ ४ वर्ष पुराना है। मठ में बन्दर तथा मुर्गे-मुर्गियाँ भी हैं। बाबा ने 'सरभंग' शब्द का अर्थ निम्नांकित दोहे में बताया—

शब्द हमारा आदि के, भाषे दास कबीर।
सत्त शब्द नर जीतो तोड़ो भ्रम जंजीर॥

बाबा ने अनेक बानियाँ लिखी हैं। उन्होंने कहा कि अगर स्त्री-पुरुष दोनों भक्त हों तो शादी में कोई हर्ज नहीं है। सभी को मंत्र-विद्या का जानकार होना चाहिए। उन्होंने बताया—श्रीकिनाराम के स्थान पर बनारस में इस सम्प्रदाय की पुस्तकें मिल सकती हैं। छपरा के इस मठ में सम्प्रदाय की दो छोटी-छोटी पुस्तकें (हस्तलिखित) देखीं। उन्होंने पुस्तकें देना अस्वीकार कर दिया। बाबा के पास तन्त्र-पुस्तक थी—महानिर्वाण-तन्त्र—श्रीवेंकटेश्वर (स्टीम) मुद्रणालय बम्बई। उन्होंने कहा कि आरापुर में श्रीकिनाराम के शिष्य मांझी में श्रीभगवतीपरशादजी के शिष्य मिल सकते हैं। इसके अतिरिक्त सिपोसुखिया-तन्त्र प्राप्ति-स्थान श्रीवेंकटेश्वर (स्टीम) मुद्रणालय बम्बई, अभिलाषसागर—कल्याणी बम्बई। अभिलाषसागर की सातवीं तरंग के १४ से ३०वें पद तक मत्स्य गाँजा भाँग सुरा विषय (रति) एवं मछली-मांस ग्रहण का विधान है।

डुमरसन

यह मठ डुमरसन पैगरा मिर्जई इन तीनों गाँवों की सीमा पर छपरा कचहरी—सिवान लूप लाइन के पश्चिम में बसा है। राजापट्टी स्टेशन से यह भूमि की दूरी पर है।

मठ में तीन मकान हैं—एक पक्का तथा दो कच्चा खपड़ापोश। दो खपड़ापोश मकानों में स्वयं श्रीपद बाबा रहते हैं। पक्के मकान में गुरुओं की समाधियाँ हैं। यह पक्का मकान १६५ में बना है (जैसा कि उसपर अंकित है)। पक्का मकान दोमंजिला का है मन्दिरनुमा मकान के चारों ओर बरामदा है। ऊपरी गुम्बज पर सर्प तथा 'बाबा रामकिसुनदास' अंकित हैं। मठ के पास ही बगीचा है जिसमें आम्र-वृक्ष तथा फोपहुल के पांच लगे हैं। मन्दिर में तहखाना है। यहाँ एक कुआँ तथा पोखरा भी है। यह १ वर्ष का पुराना है।

साधु-परम्परा

श्रीहरमीमजी

|

श्रीबुटी बाबा

|

श्रीरामकिसुनदासजी कोठारी (१२१ वर्ष में दिवंगत हुए)

|

श्रीरामनरायणदासजी कोठारी (अब ३१ वर्ष वर्तमान)

श्रीदेवनारायणदासजी गैरिक वस्त्र तथा जटा-जूटधारी हैं। इन्होंने कहा कि मिनकरामजी नेपाल के पहले गुरु थे। वे स्वयं मिनकराम के परिवार के हैं। घरबार से कोई मतलब नहीं है। कंठी-धारी नहीं करते। रोगी का इलाज तथा सेवा करते हैं। निम्नांकित मठ के नाम लिखाये—

(१) महोली—सामकौरिया स्टेशन से दो बीघा।

(२) मठजोड़ा पकड़ी—राजापट्टी से दो कोस पूरब।

(३) बहरौली—राजापट्टी से दो मील।

(४) महमदा—महराजगंज से तीन कोस पूरब।

(५) नचाप—एकमा से दो कोस पश्चिम।

(६) पैंगुआ—एकमा से दो कोस पश्चिम-दक्खिन।

(७) टेंढ़ुआ—राजापट्टी से दो कोस उत्तर।

(८) राजापुर सीवान—सीवान से कोस भर उत्तर।

(९) पैंचरुखी—पैंचरुखी से १ बीघा दक्खिन।

(१) कोपा—कोपा-सम्हौता से आधा मील।

(११) छपरा—छपरा कचहरी से आधा मील।

श्रीरामकिसुनदासजी सिद्ध एवं शक्ति-सम्पन्न थे। इसमें लोग पूजा-पाठ नहीं करते हैं। परन्तु समाधि पूजा नित्यप्रति दोनों शाम होती है। समाधि तहखाने में है। ये लोग निराकार ईश्वर को मानते हैं। भगवान् एक है दूसरा नहीं। संसार तथा मोह से अलग होकर ईश्वर में लीन होने से मुक्ति मिलती है।

'सरभंग' का अर्थ इन्होंने 'समदर्शी' बताया। श्रीरामकिसुनदासजी ४५ दिनों की भूसमाधि में रहते थे। महीनों बिना खाये पीये रहते थे।

साधु-परम्परा

रमकनराम (सामर)
|
स्वामी ज्ञानानन्द (मोनियाँ)
|
(कोसरी) भजनानन्द (१९३८ में ७५ वर्ष की आयु में मरे ।)
|
हरसेवानन्द (६ वर्ष—वर्तमान)

श्रीहरसेवानन्दजी वर्तमान महंथ हैं। श्रीभजनानन्ददासजी इनसे पूर्व यहाँ के महंथ थे किन्तु वे इनकी शिष्य-परम्परा में नहीं आते हैं।

श्रीहरसेवानन्द ने बताया कि वे श्रीभिनकराम के परिवार के हैं। ये लोग 'सम्मदर्शी' कहलाते हैं। खान-पान में किसी प्रकार की रोक नहीं है। जाति-भेद नहीं मानते हैं। *मूर्ति-पूजा नहीं करते किन्तु समाधि-पूजा प्रचलित है। निराकार भगवान् की उपासना ही* मोक्ष का द्वार है। किसी धर्म का ये खण्डन अथवा मण्डन नहीं करते हैं। शादी नहीं कर सकते हैं। खेती-बारी से कोई खास परहेज नहीं है। यहाँ २ बीघे ११ कट्ठे जमीन है। बाबा ने निम्नांकित अन्य मठों को अंकित कराया—

(१) साँढ़ा—छपरा-कचहरी से उत्तर आधा मील (श्रीमती पार्वती देवी)।
(२) बँगरा—खैरा स्टेशन से डेढ़ कोस।
(३) अफौर—खैरा स्टेशन से १ मील।
(४) कुराई बारी—खैरा स्टेशन के पास।
(५) रघुरा—छपरा कचहरी से चार कोस।
(६) उसर—सीवान से डेढ़ कोस उत्तर पोखरे के भिण्डे पर।

बुझावन सिंह के टोले पर श्रीज्ञानानन्दजी मठाधीश हैं। उन्होंने 'सरभंग' का अर्थ 'स्वर-भंग (अर्थात् श्वास पर अधिकार करना यौगिक क्रिया को सिद्ध करना) बताया। ऐसा सिद्ध होने पर 'सोऽहं' का जप किया जाता है। ईश्वर, जीव एवं प्रकृति तीनों अनादि हैं। पुनर्जन्म तथा कर्मों का फलाफल ये मानते हैं। इन्होंने कहा—'चैतन्य के चार भेद हैं—कूटस्थ जीव ईश्वर और ब्रह्म।

पचुआ (बिराव टोला)

यह मठ ग्राम पचुआ (बिराव टोला) के पूरब तालाब के 'भिण्डे' पर स्थित है। इसका डाकघर परसागढ़ तथा जिला सारन है। इसमें एक खपड़ापोश मकान है जिसके चारो ओर बरामदा है। मठ के पूरब की ओर समाधि है। हनुमान् की पताका भी फहराती है। दक्षिण दिशा में एक मकान है जिसमें दुर्गादेवी का स्थान प्रतीत हुआ। यह मठ चार पुश्त से है। ७ वर्ष पूर्व स्थापित हुआ था। दो समाधियाँ निर्मित हैं।

वंशावली

मनमोध बाबा (कोठरी—सिद्ध पुरुष थे)
|
रामदास बाबा (ब्याहा—८५ वर्ष में मरे।)
|
सुकदेव बाबा (ब्याहा)
|
मस्त बाबा (ब्रह्मचारी—वर्तमान महंथ)।

इस मठ के संस्थापक श्रीमनमोध बाबा सिद्ध पुरुष थे। उनके आशीर्वाद मात्र से ही रोग से मुक्ति मिल जाती थी। ये भीख माँगते थे। इस मठ को पाँच कट्ठा जमीन है। सारा काम आकाश-वृत्ति से ही चलता है। वर्तमान महंथ श्रीमस्त बाबा वैशाख मनोरथी को कहीं गये हैं। इनके गन्तव्य स्थान का पता नहीं है। सुना जाता है कि वे लड़के को रखते थे। जब उस लड़के को उसके घरवाले ले गये तब वे उसी के विरह में कहीं चले गये। यह विवरण श्रीगतिलालजी ग्राम जिरात टोला से मिला। पूरा पता—ग्राम पचुआ (जिरातटोला), डा० परसागढ़ (सारन)।

बहरौली

यह मठ बहरौली ग्राम में मशरक स्टेशन से डेढ़ कोस पश्चिम उत्तर की तरफ स्थित है। स्थान बड़ा साफ-सुथरा है। एक खपड़ापोश मकान है जिसमें तीन 'मूर्त्ति' का निवास है। मकान के बीच में कोठरी तथा चारों ओर बरामदा है। बगीचा भी है। साधु महाराज खेती तथा भिक्षाटन नहीं करते हैं। बहरौली के लोग भोजन का प्रबन्ध करते हैं। यह मठ चार वर्ष पूर्व बना है।

साधु-परम्परा

श्रीभिनकराम
|
श्रीहरखीदास
|
श्रीरामसुकुन्ददास (ब्याहा)
|
श्रीरामबक्स बाबा (१ वर्ष—रामपुर)
|
श्रीभिखूदास (४५ वर्ष—जोगियाँ वर्तमान)

मठ में श्रीरामबक्स बाबा श्रीभिखूदास (वर्तमान श्रीपद) एवं श्रीमरजुदासजी मिले। श्रीमरजुदासजी का गुरु-स्थान जोगियाँ है। ये लोग मूर्त्ति-पूजा नहीं करते हैं। दशहरे में मात्र भण्डारा होता है। वर्ष में दो बार भण्डारा होता है। शादी-ब्याह नहीं होता है। निराकार भगवान् तथा गुरु-ग्रन्थ की पूजा करते हैं। यह सम्प्रदाय त्यागियों का है। भजन से मोक्ष मिलेगा। बाबा ने कहा कि हमलोग लक्ष्मीसखी के परिवार के हैं। भिनकराम तथा लक्ष्मीसखी दोनों सिद्ध पुरुष थे। मद्य-मांस वर्जित नहीं है। अहिंसा का पालन करते हैं। भक्ति में परहेज है। श्रीरामसुकुन्ददासजी ने

माँझा-मठ

छपरा-कचहरी (सारन) स्टेशन से एक मील उत्तर दिशा में छपरा सचरपाह्न रोड के पश्चिम तरफ स्थित है। यह मठ घर-चौमा है जिसके पश्चिम तरफ दरवाजा खुलता है। मठ के पूरब एक खपड़ापोश मकान है पश्चिम तरफ ओसारा है। इसमें 'माईराम' रहती हैं। मठ के दक्खिन तरफ पक्का मकान है जिसमें एक समाधि है। मठ के आँगन में श्रीसियाराम बाबा श्रीसिया बाबा श्रीदत्ता बाबा तथा श्रीकक्का बाबा की समाधि है। आँगन की समाधियाँ मिट्टी की हैं। मकान के पश्चिम तरफ बाहर श्रीगंगाधरदास श्रीभगवतदास श्रीचिन्तामनदास और श्रीरामसहाय की समाधियाँ हैं। इनके अतिरिक्त तीन समाधियाँ और हैं। श्रीकमल बाबा सिद्ध थे। कहा जाता है कि वे खड़ाऊँ पहनकर गंगा पार कर गये थे। लगभग २ वर्ष का पुराना मठ है।

साधु-परम्परा :—

रामचन बाबा
|
बालीदास बाबा (मोमियाँ)
|
ब्रह्मचारीदास बाबा (कोरी)
|
सोहामनदास बाबा (मर्द)
|
श्रीमती रामवतीदास (मर्द—७१ वर्ष की वर्तमान)

इस मठ की शाखाओं की संख्या २२ है। मँगरा रेपुरा कासीपुर मँठारा आदि इसी की शाखाएँ हैं। माईराम की शादी ५ वर्ष की अवस्था में हुई थी। शादी होते ही पति का देहावसान हो गया। तभी से ये 'सरभंग'-सम्प्रदाय में दीक्षित हो गईं। सरभंग साधुओं की सेवा करने में अपना जीवन व्यतीत कर दिया। यह उनकी गुरु-गद्दी है।

गुयाही मरघट

यह मठ गुयाही ग्राम के पश्चिम मटौलिया ग्राम की पूरब उत्तरी सीमा पर स्थित है। इसके पश्चिम तरफ बागमती की पुरानी धारा बहती है। ठीक मरघट में ही यह मठ है। इसमें एक छोटी-सी कोठरी है जिसके पूरब तरफ तथा दक्खिन तरफ ओसारा है जिसमें 'औघड़' बाबा निवास करते हैं। मकान के दक्खिन हनुमान् की पताका तथा पताका के नीचे पुरानी मिट्टी। पताका के दक्खिन तरफ कामिनी वृक्ष के नीचे लाल कपड़े में लपेटी गई एक पत्थर की मूर्ति पड़ी थी जिसके आगे मिट्टी की धूपदानी थी। मठ के साथ फुलवारी है जिसमें आम केले अनार कटहल अमरूद तथा नीबू के पेड़-पौधे लगे हैं। मठ में धूनी जल रही थी। औघड़ बाबा किसी की चोरी का पता लगाने ध्यान दिया गये हुए थे। मठ बड़ा साफ सुथरा था। लोगों ने बताया कि बाबा रोगी की चिकित्सा मन्त्र से करते हैं। ये अत्यन्त निष्ठावान् सिद्ध हैं। इन्हीं गुणों पर मुग्ध होकर लोग इनके खान-पीन का प्रबन्ध करते

करते हैं। ये भीख नहीं माँगते हैं। इनसे पहले यहाँ एक मुसलमान औलिया थे। वर्तमान औलिया सात मर से हैं पूरे फकीर हैं त्यागी तथा सीधे स्वभाव के हैं।

अन्य मठ—(१) मोहारी—बख्तियारपुर से शिवहर होकर जानेवाली मोटर से सवार होकर टेकुली ग्राम उतरना पड़ता है। टेकुली से यह स्थान दो मील दक्षिण है।

मकुरहर

यह मठ मुजफ्फरपुर जिले के बैरगनियाँ स्थान से पूर्वोत्तर दिशा में लगभग एक मील पर मकुरहर गाँव में है। मठ लगभग १ वर्ष का पुराना है। इसमें पहले मिनकराम बाबा तथा रामधनी बाबा हुए। इनका पहला स्थान रामपुर में है। वहीं से चलकर इनके शिष्य सब जगह फैले। क्रमशः श्रीमिनकराम श्रीरामधनी बाबा श्रीटकमनराम श्रीकिनाराम और श्रीशालराम हुए। इन्हीं के वंशज य लोग हैं। मकुरहर मठ में अभी कोई नहीं है। श्रीरामदयालदास ने मठ को सन् १९५८ में अपने शिष्य हुसनीदास को दे दिया। हुसनीदासजी बैरगनियाँ बाजार में हैं। वहीं से नियमित मठ में आकर गुरु-पूजा आदि कर्म करते हैं। बैरगनियाँ में इनका घर भी बाल-बच्चे तथा दुकान हैं। इन्होंने 'सरभंग' शब्द का अर्थ 'जाति निष्कासित' बताया। वंश-वृक्ष निम्नरूपेण बताया—

श्रीरामस्वामीनिवदास
|
श्रीरामदयालदास
|
श्रीहुसनीदास (। वर्ष) गृहस्थ औघड़

ऊपर की वंशावली नहीं बता सके। उन्होंने कहा—हमलोग टकमनराम के परिवार के हैं। हम परिवारी हैं मूर्ति-पूजा नहीं करते हैं। निराकार भगवान् की उपासना करते हैं। गुरु पूजा करते हैं। गुरु-समाधि-पूजा उनकी बर्षी पर की जाती है। गुरु समाधि पर मदिरा मांस आदि चढ़ाये जाते हैं। मांस मद्यादि में हमलोग बन्धन नहीं मानते हैं।

इनकी भी इस इलाके की 'मठिन' हैं किन्तु पक्षा-पक्षी होने के कारण अन्यपक्ष उनसे मिल नहीं सके। रामदयालजी सिद्ध पुरुष थे। पास बहुत बीघे भूर जमीन है। गुरु के मरने पर भण्डारा होता है। उन्होंने कहा—'कर्म-फल जीव भोगता है। ईश्वर जीव प्रकृति तीनों अनादि हैं।

इसके अधीन निम्नांकित मठ हैं—

(१) रेवासी—रीगा से दक्खिन दो कोस परसरामपुर।

(२) मिठुली—बैरगनियाँ से तीन कोस दक्खिन।

अन्य मठ—(१) शिवहर।

मोहारी

यह मठ ग्राम मोहारी थाना बेलसण्ड में दक्खिन तरफ कचहरी के पास है। एक खपड़ा मकान है जो पूर्वाभिमुख है। मठ के पूरब तालाब है। यहाँ कोई मूर्ति नहीं है।

मकान तथा फुलवारी जीर्णावस्था में है। महंथजी ७-८ महीनों से कहीं चले गये हैं। कहा जाता है कि उनका संबंध किसी 'फूमा' नाम की हसीन औरत से हो गया था जिसका मकान गोरखपुर जिले में कहीं है उसे ही लेकर चले गये। भिक्षाटन से ही काम चलता था। उनका जीवन राजा की तरह था। ये यम नियम सिद्ध थे। रोग छुड़ा देना तथा चोर का नाम बता देना उनके लिए आसान था। उनके चले जाने से लोग दुःखी थे।

औघड़ बाबा का नाम श्रीनरसिंहरामजी था। जाति के ब्राह्मण थे। इन दिनों यहाँ इनके कोई साला रहते हैं जो यहाँ कभी दस दिनों से ज्यादा नहीं ठहरते हैं। मठ ५ वर्षों से है। मठ बड़ा साफ-सुथरा था कोई घास-फूस ढेला नहीं मिला।

रामनगरा

यह मठ बागमती के पूरब रामनगरा (पुरवारी टोला) के दक्खिन तरफ स्थित १ वर्ष का पुराना कहा जाता है। इस मठ में केवल एक खपड़ैल मकान (जिसके चारों ओर ओसारा है) है। इसी में वर्तमान औघड़ बाबा रहते हैं। यहाँ मन्दिर नहीं है किन्तु मठ से २ कदम दक्खिन-पूरब कोण में गुरुओं की समाधियाँ हैं। समाधियाँ तीन हैं— एक पक्के मकान के अन्दर तथा दो मकान के बाहर। औघड़ बाबा ने निम्नांकित वंशावली बतायी—

श्रीभिनकराम
|
श्रीगोविन्ददास (दुसाध)—१९५ वर्ष में दिवंगत हुए।
|
श्रीटेकूराम (दुसाध)—१ वर्ष में दिवंगत हुए।
|
श्रीसीतारामदास (कोइरी)—६ वर्ष में दिवंगत हुए।
|
श्रीविशुनीदास (दुसाध)—४५ वर्ष के वर्तमान औघड़।
|
श्रीशिवदास (तत्मा)—वर्तमान औघड़ के शिष्य।

बाबा ने कहा कि सरभंग दूसरे होते हैं। यह औघड़ी सम्प्रदाय है। हमलोग परम हंस कहे जाते हैं निराकार भगवान् की उपासना करते हैं, अवतार नहीं मानते। फकीरी करने से मोक्ष मिल सकता है। शरीर नश्वर है। ईश्वर, जीव प्रकृति तीनों अनादि हैं। प्रकृति की रचना निम्नरूपेण हुई—

स्वा से सोहं सोहं से ओंकार।
ओंकार से राम भयो साधू करो विचार॥

जीव का रूप यों बताया—

रंग ही से रंग उपजाया सबका रंग है एक।
कौन रंग है जीव को, ताको करो विवेक॥
जग मों निगुन 'पवन कहाया ताके करो विवेक॥

पवन को ही जीव कहते हैं। अपने कर्मों का भोग भोगना पड़ता है। यह सम्प्रदाय

अर्थ बताते हुए उन्होंने कहा कि 'अघोरिय के बालक अघोरी होता'। यह मठ पिपराबाजार से पश्चिम ठाकुरजी के मन्दिर के सटे पश्चिम है।

९ लोकनाथपुर

गोविन्दगंज थाने में औघड़ों का मठ है, जिसमें रंगीला बाबा रहते हैं।

८. चिन्तामनपुर

गोविन्दगंज थाना के चिन्तामनपुर गाँव में स्थित है। यहाँ सुखराम बाबा रहते हैं। यह बालकी बाबा का मठ कहा जाता है। यह पहले औघड़ों का मठ था किन्तु अब संन्यासी-मठ हो गया है।

९ बँगही

पतरखना गाँव में जो पटजिरवा के पास तथा बेतिया के पश्चिम है कई घर औघड़ों के हैं।

१ सिरहा

यह ढाका (अब पताही) थाना इटवा घाट के निकट स्थित है। यहाँ श्रीरामनन्दनदास महंथ हैं। यह टहमनराम की परम्परा का मठ है। यहाँ माईराम नहीं हैं।

११ पूरनहरा

यह चकिया स्टेशन से चार मील दक्खिन है। यहाँ सरभंगों की एक जाति रहती है।

१२ मझौलिया

गोविन्दगंज थाने में लोहरबाजार के पास है। इस मठ के महथ श्रीभंगीदास ने निम्नांकित सूचनाएँ दीं—

वंशावली

टीका बाबा (महन्थ)
|
किसनदास (चेला)
|
भंगीदास (चेला)

श्रीटीका बाबा मकरा के सुदिष्ट बाबा के शिष्य थे। ये और इनकी भी दोनों औघड़-मठ में चले आये।

१३ कनकबिया

बहुआरा के निकट स्थित है। यह औघड़ मठ है।

१४ टेंगरा

टेंगराबासी औघड़-मतावलम्बी हैं। ये भीखी बाबा की परम्परा के हैं। औघड़ अपने को 'राम' तथा वे लोग अपने को 'सखी' कहते हैं।

१५ पोखरैरा

मुजफ्फरपुर जिलान्तर्गत बैरगपुर के निकट पोखरैरा में यह सरभंग-मठ है। यहाँ साधु नरसिंहदास हैं।

१६ महाश्मोगिंग स्थान

यह मठ गौनाहा स्टेशन के मन्दिर के दक्खिन स्थित है। यहाँ एक औघड़ हैं। इनका नाम अज्ञात है। वे तम्बूरा बजाकर भिक्षाटन करते हैं। भिक्षा से ही इनका काम चलता है। ये सरभंगी हैं।

१७ सिम्राही

यह मरजदवा और गोखुला स्टेशनों के बीच में स्थित है। यहाँ एक औघड़ बाबा रहते हैं।

१८ वैद्यनाथधाम श्मशान

यह वैद्यनाथधाम के श्मशान के पोखरे के निकट स्थित है। यहाँ कई औघड़ रहते हैं। इनके सम्प्रदाय का ठीक पता नहीं चलता है।

१८. सिक्टा

सिक्टा स्टेशन से अम्बिकोला में रेलवे लाइन से एक मील दक्खिन पूरब एक औघड़ मठ है। यहाँ के औघड़ बाबा सिद्ध हैं। एक माईराम भी हैं। कोई भी वस्तु उन्हें कोई देता है तो सर्वप्रथम उसमें से कुत्ते को खिलाते हैं। लोगों से प्राप्त भोज्य पदार्थों को कभी कभी पास की नदी में बहवा देते हैं। कहा जाता है कि ध्यानस्थ बाबा का शरीर वर्षा में नहीं भींगता है। बाबा ने कहा कि अरेराज के महादेव उनके पास आते हैं और वे महादेव के पास जाते हैं। औघड़ बाबा के गुरु नैपाल तराई के भिस्वाकोला जंगल में हैं।

१६ संग्रामपुर

यह मठ कपवलिया स्टेशन से ६ मील दक्खिन संग्रामपुर से थोड़ी दूर पश्चिम स्थित है। यह शानी बाबा की 'फाँड़ी' का है जो भिनकराम से संबद्ध है।

२ मोपतपुर

चकिया स्टेशन के निकट स्थान है। यहाँ सरभंगों की एक जाति रहती है।

२१ बरमनिया-चकिया

यह बरमनिया-चकिया के निकट स्थित है। यहाँ एक औघड़ बाबा रहते हैं। सभी का छुआ खाते हैं। ये कमाने के लिए आसाम गये थे वहीं औघड़ मत में दाखिल हुए। प्रारम्भ में सभी के हाथ बना हुआ खाने लगे। बाद में 'सरभंग' या 'औघड़' नाम से प्रसिद्ध हुए।

२२ ढकहा

यह नारायणी के किनारे बेमरिया से ४ मील दक्खिन स्थित है। इसमें कर्त्ताराम तथा भवसराम प्रसिद्ध संत थे। ये लोग 'कौलाप' (कमलगट्टा) की माला पहनते हैं तथा पूजा करते हैं। अभी ये लोग अपने को वैष्णव कहते हैं। इस मठ से प्राप्त गीतों से पता चलता है कि सरभंग-पंथ पहले 'निरबानी' या 'निर्गुण' धर्म मैगल तथा मुस्लिम आदि थे। बाद में टेकमन ने सांसारिकतावाली शाखा चलाई। भिनक ने निर्वाण को ही पकड़ा।

२१ बढुआरा

यह चम्पारन में स्थित है। वंशावली निम्नरूपेण है—

भीखूराम (अज्ञातस्थान)
|
शिवनाथराम बाबा (बढुआरा—मुसहरी)
|
लक्ष्मनदास (बढुआरा—हरपुर)
|
महावीरदास (रामपुर) — बलिरामदास (कोढ़वा)

२२ अमावनसिंघा
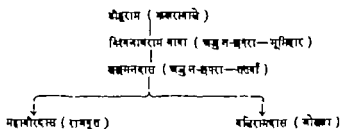
अहीरपोखर के भीखमदास के कथनानुसार यह पहाड़पुर गाँव के निकट स्थित है। पहाड़पुर अरेराज के पास है। यहाँ विशुनदास रहते हैं। ये मठ करते हैं जिसमें साधु लोग इकट्ठे होते हैं भण्डारा होता है। ये महात्मा हैं।

२५ सरवा

गोविन्दगंज थाना में स्थित औघड़-मठ है। इसके अतिरिक्त नारायणी नदी के तट पर ममरखा (गोविन्दगंज), पटखौली (नौतन थाना) इत्यादि अनेक मठ हैं।

२६ ममरखा

गोविन्दगंज थाना में स्थित यह मठ तुलाराम बाबा की मठिया के नाम से प्रसिद्ध है।

२७ कोहरी

इस मठ में एक बाबा रहते थे जिनकी दो स्त्रियाँ थीं उनमें एक का नाम गंगादास तथा दूसरे का नाम प्रेमदास था। ये दोनों सिद्धा थीं। बाबा के शिष्य रामचन्द्रदास थे जिसकी किसी ने हत्या कर दी। रामचन्द्रदास ने किताबें लिखी थीं जिसका पता अभी नहीं चलता है।

२८. बरिवा (बरहवा)

यहाँ हरलाल बाबा रहते थे। उनके चेला बालकदास बाबा हुए, जो पीछे 'मोरंग' चले गये। वे 'धुन्सिरी' में रहते थे।

२९ सिमरौनगढ़

मनसा बाबा सिमरौनगढ़ के औघड़ थे। अब यह मठ वैष्णव हो गया है। किन्तु अब भी धूनी में राख से मनसा बाबा को पूजा दी जाती है। चैरी (समाधि) पर कचौरी चढ़ती है। वे माधोपुर में भी प्रसिद्ध हैं।

३ सोखरवा-गोबरवा

यह मठ नैपाल तराई के 'सरलाहिया' थाना में है। बैरगनियाँ से लगभग चार कोस रामपुर है और यहाँ से लगभग सोलह मील मौनरवा है। मिनक बाबा एक डेढ़ सौ वर्ष पहले यहाँ हुए थे। यहीं इनकी समाधि भी है। इन दिनों यहाँ निर्मलदास और गोकुलदास हैं जो माधोपुर के मिसरी बाबा की शिष्य-परम्परा में हैं।

११ भायकोपा

यह रक्सौल से उत्तर-पूरब दो मील पर स्थित है।

१२ बिशुनपुरा

मोतीहारी से ५ मील और जीवधारा स्टेशन से एक फर्लांग पर स्थित है। यह मजारा 'फाँकी' का है। करीब ४ एकड़ जमीन है जिसमें घर वगैरह हैं। इसमें दो मठ हैं। सड़क की दूसरी ओर दक्खिन तरफ भी मठ है। यहाँ महिला सरभंग थीं।

१३ रुपौली

यहाँ सरभंग-सम्प्रदाय के योगेश्वर का जन्म हुआ जिनके शिष्यों में वीरभद्र भदई सूरत लालबहादुर, संमट, भगवान रघुवीर, युगल इत्यादि थे। विशेष परिशिष्ट में।

सारन जिले के निम्नलिखित मठों का संक्षिप्त परिचय बाबा सुखदेवदास (पौरी सारन) से मिला जो स्वयं एक उच्चकोटि के त्यागी संत हैं—

१	अमलोरी सरसर— (दो मठ)	भाईरामदास	→	विरचितदास
२	परसामठ (एकमा रेलवे स्टेशन)— (पक्का मठ)	शिवशंकरदास	→	शिवराम
३	घोघियाँ (रेलवे-स्टेशन मशरक)—	जगन्नाथदास	→	बलरामदास
४	कपियाँ (रेलवे-स्टेशन सामकौड़िया)—	सोमारीदास	→	कबीरदास
५	भरवाँ (रेलवे-स्टेशन सैरा)—	भाउरदास	→	सूरदास
६	रामपुर कोठी—	इनरदास (अतीत)	→	(इस समय वैरागी साधु हैं)
७	आम्पाँ मोहम्मदा (रे. स्टे. महाराजगंज) (पक्का मठ पक्की समाधि)—	जयकलमदास	→	मुखरामदास
८	भारीपट्टी (पो. मयवानपुर)—	जगन्नाथदास (अतीत)	→	भागीरथीदास

टिप्पणियाँ

१ श्रीभिनकाराम-कृत पोथी 'विवेकसार' की भूमिका के आधार पर।
२ आनन्द-अखबार पृष्ठ ४
३ 'विवेकसार' भिनकाराम-कृत।
४ आनन्द-अखबार पृष्ठ १८-१९
५ सिरोमाल्ला के श्रीलालगोपालदास के विवरण के आधार पर।
६ श्रीलक्ष्मण मिश्र (भीखम बाबा के वंशज) के कथन के आधार पर। अन्वेषक श्रीराम नारायण शास्त्री ने स्वयं जाकर उनका बयान अंकित किया है।

७ भजन-रत्नमाला पृष्ठ १२

८ विवेकसार पोथी की भूमिका देखें।

९ विवेकसार पोथी की भूमिका देखें।

१० विवेकसार पोथी की भूमिका देखें।

११ विवेकसार पोथी की भूमिका देखें।

१२ विवेकसार पोथी की भूमिका देखें।

१३ विवेकसार पोथी की भूमिका देखें।

१४ विवेकसार पोथी की भूमिका देखें।

१५ कर्त्ताराम-धवलराम चरित्र, पृष्ठ ६

१६ कर्त्ताराम-धवलराम चरित्र पृष्ठ ७

१७ कर्त्ताराम-धवलराम-चरित्र पृष्ठ ७

१८ कर्त्ताराम-धवलराम चरित्र, पृष्ठ ९-१

१९ कर्त्ताराम-धवलराम चरित्र, पृष्ठ १२

२० कर्त्ताराम-धवलराम-चरित्र पृष्ठ १२

२१ कर्त्ताराम-धवलराम-चरित्र, पृष्ठ १३

२२ कर्त्ताराम-धवलराम-चरित्र, पृष्ठ १४

२३ कर्त्ताराम-धवलराम चरित्र, पृष्ठ १५

२४ कर्त्ताराम-धवलराम चरित्र पृष्ठ १६

२५ कर्त्ताराम-धवलराम-चरित्र, पृष्ठ ९

२६ कर्त्ताराम-धवलराम-चरित्र, पृष्ठ २३

२७ कर्त्ताराम-धवलराम-चरित्र पृष्ठ २५

२८ कर्त्ताराम-धवलराम चरित्र पृष्ठ २६-२७

२९ कर्त्ताराम धवलराम-चरित्र पृष्ठ २

३ इस अध्याय में मठों सम्बन्धी वे परिचय संकलित हैं, जो अनुसन्धान के सिलसिले में प्राप्त हुए अथवा जिनका परिचय लेखक अथवा अनुसंधायकों ने दिया।

परिशिष्टाध्याय

पूरक सामग्री

परिशिष्ट

[पूरक सामग्री तथा ऐसी अन्य सामग्री, जो ग्रन्थ के प्रेस में जाने के बाद मिली]

क 'अघोरी, अघोरपंथी, औघड़'—पूरक

ख (१) योगेश्वराचार्य (इस सम्बन्ध की सामग्री बाद मिली)

(२) भगताराम ,,

(३) रघुवीरदास ,,

(४) दरसनदास ,,

(५) मनसाराम ,,

(६) शीतलराम ,,

(७) सूरतराम ,,

(८) लालराम ,,

(९) मिसरीदास ,,

(१०) हरलाल ,,

ग सन्तों के पदों की भाषा ,,

बलि चढ़ाना चाहता था। 'प्रबोधचन्द्रोदय' में कापालिक-मत का संकेत है। 'दबिस्तां' (१७ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) में ऐसे योगियों की चर्चा है जिनके लिए कुछ भी अभक्ष्य नहीं है और जो आदमी को भी मारकर खाते हैं। कुछ ऐसे हैं जो अपने पेशाब पाखाने को मिलाकर उसे छानकर पी जाते हैं और यह समझते हैं कि इससे सिद्धि तथा अद्भुत दृष्टि प्राप्त होती है। इस विधि को वे 'अतिलिया' अथवा 'अघोरी' कहते हैं। योगियों का यह सम्प्रदाय गोरखनाथ से आविर्भूत हुआ है।

(७) पंथ का वर्तमान रूप—टॉड ने अपनी पुस्तक (Travels in Western India) में आबू-पर्वत पर अवस्थित अघोरियों की एक टोली का वर्णन किया है। वे आदमियों को पकड़कर उनकी बलि देते हैं तथा उनके मांस को खाते हैं।

(८) अघोरियों का अन्य हिन्दू-पंथों से सम्बन्ध—आजकल अघोर-पंथ विशेषतः वह जिसका केन्द्र बनारस है, किनाराम द्वारा प्रवर्तित माना जाता है। किनाराम गिरनार के एक साधु कालूराम के शिष्य थे। इस कारण अघोरपंथियों को किनारामी भी कहा जाता है। उनके धार्मिक विचार परमहंसों के विचार से मिलते-जुलते हैं। उनका मुख्य लक्ष्य ब्रह्म का चिन्तन तथा उसकी प्राप्ति है। साधक के लिए सुख-दुःख शीत उष्ण मान अपमान कुछ अर्थ नहीं रखते। अतः अनेक साधक सर्वदा नंग शरीर रहते हैं और प्रायः मौन रहा करते हैं। वे भीख नहीं माँगते और भक्तों द्वारा जो भी अन्न या खाद्य उन्हें पहुँचा दिया जाता है उसीको वे प्रेम से ग्रहण कर लेते हैं। इसी पंथ की एक शाखा का नाम सरभंगी है। किन्तु, अघोरियों से सरभंगियों की विशेषता यह है कि इनका आचार अघोरियों के के समान घृणित नहीं है। सरभंगी और किनारामी दोनों ही मानव-मांस अथवा मल का भक्षण करते हैं, किन्तु केवल विरल अवसरों पर ही।

(९) मानव मांस तथा मल-भक्षण—नर-बलि का सम्बन्ध मुख्यतः तांत्रिक-विधियों से माना जाता है जिनमें काली दुर्गा चामुण्डा आदि रूपों में शक्ति की पूजा होती है। अनुमानतः तन्त्राचार का आविर्भाव पूर्वी बंगाल अथवा आसाम में ५वीं शताब्दी (ईस्वी) में हुआ। कालिकापुराण में नर-बलि का विधान है और उसी के स्थान में आजकल कबूतर, बकरे और कभी-कभी भैंसे बलि चढ़ाये जाते हैं। अब भी आसाम के कुछ अंचलों में विविक्त् नर बलि की प्रथा प्रचलित है। अघोरियों द्वारा नरमांस भक्षण उस कोटि का नहीं है जिस कोटि का आसाम की कुछ जंगली जातियों का। प्राचीन जातियों में कहीं-कहीं यह पाया जाता है कि जो जादू-टोना करने अथवा औषधि उपचार करनेवाले होते थे, वे स्वयं अग्राह्य तथा विषमय वस्तुओं का ग्रहण करते थे जिससे कि जनसामान्य उनमें अद्भुत शक्ति की विद्यमानता स्वीकार करे। पाश्चात्य विद्वान् Haddon ने प्राचीन टोरेस स्ट्रेट्स (Torres Straits) के बाशिन्दों के सम्बन्ध में कहा है कि वे हर प्रकार के घृणित तथा विषैले पदार्थ खा सकते थे। वे प्रायः शव-मांस खाते थे और अपने भोजन के साथ शवों का रस मिलाते थे। इसका परिणाम यह होता था कि वे बावरे हो जाते थे और घर-परिवार से उनका सम्बन्ध टूट-सा जाता था। कॉड्रिंग्टन (Codrington) के अनुसार मेलानीशिया (Melanesia) में नरमांस-भक्षण

द्वारा आध्यात्मिक उन्माद प्राप्त किया जाता है तथा यह समझा जाता है कि जिस शव को खाया जाता है उसका प्रेत खानेवालों के वश में हो जाता है। मैकडानाल्ड ने लिखा है कि यदि कोई प्रेत और डाइन के खाये हुए शव का भक्षण करे तो वह स्वयं ही वैसी शक्ति वाला हो जाता है। वास्तव, निग्रो-जातियों में यह विश्वास है कि शवभक्षण से जादूभरी शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। उगाण्डा में इस प्रकार के शवभक्षकों को बासेज़ि (Basezi) कहा जाता है। आज भी मालाबार में 'ओडी' नाम के जादूगर इस उद्देश्य से शव-भक्षण करते हैं कि उनमें असाधारण शक्ति का समावेश हो।

(७) नरकपाल के पात्र—जिन नरमुण्डों के पात्रों में भोजन तथा जल का सेवन किया जाता है, उनमें असाधारण शक्ति मानी जाती है। उदाहरणार्थ, पूर्वी अफ्रिका की वाडो (Wadoe)-जाति में यह प्रथा है कि जब राजा का चुनाव होता है तब किसी अपरिचित की हत्या की जाती है और निहत व्यक्ति की खोपड़ी से ही अभिषेक के समय जलपात्र का काम लिया जाता है। बगाण्डा के राजा का नया पुरोहित भूतपूर्व पुरोहित की खोपड़ी से इस अभिप्राय से पान करता है कि मृत पुरोहित का प्रेत उसमें समाविष्ट हो जाय। कुलु-जाति में यह प्रथा है कि युद्ध अभियान के अवसर पर सैनिकों पर दुश्मन की खोपड़ी को पात्र बनाकर उससे औषधि छिड़की जाती है। हिन्दुस्तान अशाण्टी (Ashanti) आदि तिब्बत चीन तिब्बत और निचले हिमालय में अनेक खोपड़ी के पात्र मिले हैं जिनका उल्लेख बालफर (Balfour) ने किया है। कपालपात्र का उपयोग यूरोप में भी होता था। पुराने जर्मनी और केल्टो में इसका प्रचार था।

(८) दीक्षा—दीक्षा की विधि और मंत्र गोपनीय रखे जाते हैं। क्रूक (Crooke) ने जिस विधि की चर्चा की है वह यह है कि पहले गुरु शंखध्वनि करते हैं और साथ-साथ नाच और गान होते हैं। उसके बाद वह एक नरकपाल में मूत्र करते हैं और उसे शिष्य के सिर पर गिराते हैं। इसके बाद दीक्षा लेनेवाले शिष्य के बाल मूड़ दिये जाते हैं। तब नव दीक्षित शिष्य कुछ मद्यपान करता है और जहाँ-तहाँ विशेषत्व नीच जातियों से माँगी हुई भिक्षा से प्राप्त अन्न का भोजन करता है। फिर वह लाल या गेरुए रंग की लँगोटी और वस्त्र धारण करता है। इस दीक्षा के समय गुरु शिष्य के कान में मंत्र फूँकते हैं। कहीं-कहीं शव भक्षण भी दीक्षा विधि में सम्मिलित किया जाता है और दो हार—एक जंगली सूअर के दाँतों का और दूसरा अजगर की रीढ़ का—पहनाए जाते हैं। एक दूसरे बयान के अनुसार मांस और फूल मिले हुए मद्य के पाँच पात्र नदी पर रखे जाते हैं। शिष्य की आँखों पर कपड़ा बाँध दिया जाता है और इस रूप में वह दो गुरुओं के सामने लाया जाता है जो दीप कहलाते हैं। इसके बाद सभी को दीपदर्शन ए पान कराया जाता है। अब शिष्य की आँखें खोल दी जाती हैं और उसे आदेश दिया जाता है कि वह दिव्य ज्योति को देखने की चेष्टा करे। गुरुमंत्र का कानों में फूँकना जारी रहता है। एक तीसरे बयान के अनुसार बनारस में किनाराम के समाधि-स्थल पर दीक्षा होती है। वहाँ भंग और मद्य के पात्र रखे जाते हैं। जो अपनी जाति की रक्षा चाहते हैं वे केवल भंग पीते हैं, किन्तु जो समग्र दीक्षा के अभिलाषी हैं वे भंग और मद्य दोनों पीते हैं। इसके बाद अग्नि में फूल का होम किया

जाता है। यह पवित्र अग्नि किनाराम के समय से प्रज्वलित चलती आ रही है। एक पशु, प्रायः बकरे, की बलि भी उस समय दी जाती है। धारणा यह है कि जिसकी बलि दी जाती है वह फिर से जी उठता है और समाधि पर रखे हुए पात्र उठकर स्वयं दीक्षणीय शिष्यों के ओठों तक पहुँच जाते हैं। अन्तिम विधि यह होती है कि शिष्य के बाल जो पहले से ही मूत्र में भिगोये रहते हैं मुंडे जाते हैं और तब उपस्थित साक्षी और भक्तों को 'भण्डारा' दिया जाता है। कहा जाता है कि पूर्ण दीक्षा तभी सम्पन्न होती है जब शिष्य १२ वर्ष तक की परीक्षणात्मक अवधि सफलतापूर्वक व्यतीत कर लेता है।

(३) वस्त्र और वेश—अघोरी की मुख्य विशेषता यह है कि वह अपने शरीर पर चिता का भस्म रमाये रहता है। वह त्रिशूल की छाप धारण करता है जो ब्रह्मा विष्णु और शिव के एकत्व का प्रतीक है। वह रुद्राक्ष की, सर्प की हड्डियों की और कभी सूअर के दाँतों की माला धारण करता है और हाथ में खोपड़ी लिये रहता है।

परिशिष्ट (ख)

(१) योगेश्वराचार्य—श्रीयोगेश्वराचार्य एक ऐसे प्रमुख सरभंग-संत थे जिनकी चर्चा मुख्य ग्रंथ में केवल नाम मात्र की हुई है। मुख्य ग्रंथ के प्रकाशन के समय योगेश्वराचार्य के केवल एक ग्रंथ का थोड़ा सा अंश सुलभ हो सका था क्योंकि अबतक केवल वही अंश 'श्रीस्वरूपप्रकाश' (प्रथम विश्राम) के नाम से मुद्रित हुआ है। संग्रहकर्त्ता हैं श्रीयोगेश्वराचार्य के एक शिष्य श्रीबैजूदासदेव। प्रकाशक हैं श्रीराधाशरणप्रसाद श्रीवास्तव स्वरूप-कार्यकारिणी समिति ग्राम—बरजी पो महवल (मुजफ्फरपुर)। पीछे चलकर श्रीराजेन्द्रदेव के सौजन्य से न केवल 'स्वरूपप्रकाश' के शेष अंश की हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई, अपितु 'स्वरूपगीता' की भी। स्वरूपगीता के प्रारंभ में बाबा बैजूदास देव ने जो परिचयात्मक पद दिये हैं, उनमें योगेश्वराचार्य की विद्वत्ता और साधना का गौरवपूर्ण उल्लेख है। उन्हें 'आजन्म ब्रह्मचारी विविध गुणनिधि-ज्ञानविज्ञानकारी' कहा गया है और श्रौत स्मार्त तथा वेदोपनिषदों के ज्ञान से सम्पन्न बताया गया है। वे बड़े 'नेम आचार' से रहते थे 'पंच मुद्रा' साधन करते थे। उन्हें प्राणायाम योग तथा 'नेती' 'बस्ती' 'धौती' 'नेउली' 'त्राटक' 'गजकरनी' आदि सभी क्रियाओं का अभ्यास था। योगेश्वराचार्य ने अपना संक्षिप्त जीवनवृत्त श्रीबैजूदास को सुनाया। उसका सारांश यह है—चम्पारन (थाना ढाका परगना मेहसी डाकखाना पताही) रमौलिया नामक गाँव है वहाँ उनके पिता श्रीनकछेद पाण्डेय रहते थे। वे पाराशर गोत्र के ब्राह्मण थे। एक पुत्र के बाद और सन्तान न होने के कारण वे दुःखी रहते थे। इसी बीच श्रीभिनकराम परमहंस ने उन्हें दर्शन दिया और आशीर्वाद दिया कि उन्हें दो पुत्र होंगे। कालक्रम से सन् १२८८ फसली में पहले की पुत्र हुआ उसका नाम 'साधु' पड़ा। इसके चार वर्ष बाद सन् १२९२ फसली (लगभग १८८५ई०) में जिस पुत्र का जन्म हुआ उसीका

नाम पीछे चलकर योगेश्वराचार्य हुआ। उनका विवाह बाल्यावस्था में ही हो गया था और तेरह वर्ष की उम्र से ही वे गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने लग गये थे। किन्तु पत्नी छह वर्ष के बाद ही स्वर्गवासी हो गई। फिर दूसरा विवाह हुआ और गृहस्थ जीवन भी चला। किन्तु 'उमगेउ हृदय विचार, वृथा जन्म हरिभजन बिनु'। बहुत दिनों तक सगुण और निर्गुण के बीच अनिश्चय की भावना रही; किन्तु अन्ततः निर्गुण-भावना की ही विजय हुई। एक दिन आधी रात को विरक्त होकर उन्होंने घर छोड़ने का निश्चय किया। इधर विरक्ति की प्रबल भावना उधर परित्यक्त माता पिता और पत्नी आदि के प्रति ममता।

भई छछुन्दर की दशा उगिलत बने न खात।
योगेश्वर दुख को कहि सके रहत बने न जात॥

अन्तिम विजय विराग की ही हुई। उनके गुरु श्रीअखण्डानन्द थे। स्वामी योगेश्वराचार्य सन् ११५ फसली में गोलोकवासी हुए।

उन्होंने अपनी कविताओं में 'दादुल धुनियाँ' 'जोलहा कबीर' 'रविदास चमार' 'दरिया दर्जी' 'नामा मंगी' 'सदन कसाई' 'गोरख मच्छिन्द्र' भरथरी 'नानक' 'सुन्दर' 'पलटू' 'मलूक' 'धरणीदास' आदि की श्रद्धापूर्वक चर्चा की है। इनके अतिरिक्त किनाराम भिनकराम सुथरासाहा बालखण्डीदास मनसाराम कलाराम कमलराम अखण्डानन्द टिकूराम आदि प्रसिद्ध सत्संग संतों के अतिरिक्त अनेकानेक एसे संतों के भी नाम दिये हैं जिनके संबंध में परिचयात्मक सूचनाएँ प्राप्त नहीं हुई हैं—यथा धर्मदास छबीलेदास मँगनीदास माधवदास रामदास गिरिधरराम मन्नूराम बेचनराम मंगलराम अमरराम सुखासूराम बैजनाथ हरिहर हरनाम रीता सुधाकर आदि। शिष्यों में वीरभद्र, मर्दाई कँहार ब्राह्मण गोरख भूमिहार, सूरज लालबहादुर लंगट भगवान रघुवर, युगल तबक्कल मलक लालशाह विष्णुदास नथुनी नत्थू, बौध रघुनन्दन अविनाश बेनामी आदि का उल्लेख है। श्री योगेश्वराचार्य ने अनेक कविताएँ लिखी हैं—यथा स्वरूपगीता स्वरूपप्रकाश विज्ञानसार, भूकम्प-रहस्य भवानी-संवाद विष्णु-स्तुति आदि। ये प्रायः हस्तलिखित हैं। इन हस्तलिखित संकलनों में से चुनकर स्थालो-पुलाकन्याय से कुछ अंश विषयानुसार यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं—

अद्वैत निर्गुण ब्रह्म आत्मा जीव

उपमा नाम सहीपति जाय सो तत्त्वमसी कहि तोहि पुकार।
द्रष्टा नहिं दृश्य न वर्ण गुणै सोइ नित्य असी पद तोहि उचारई।
जहिं भई भाव अभाव ना नहीं ग्रहण नहिं त्याग।
सत्य सदा सो एक रस कथा सोचहुँ कहि लाग॥

—'स्वरूपगीता' पद सं० ६ तथा बाद का दोहा

कोउ मूरति धातु बनाकर पूजत पत्थर पूत बनावें।
आपु कहैं हम जीव अहैं निर्जीव को पूजत माथ लगावें।

—स्वरूपगीता पद-सं० ६८

गुरु ज्ञान बिनु जिमि भाँति हमें संक्षेपहिं सो तोहि देउ सुनाई।
आतम ब्रह्म अखेद अगोचर और अखंड अनादि देखाई।
अद्वय सो परिपूर्ण सदा कछु रूप न रेख सदा सब ठाई।
जीव औ ब्रह्म अभेद लखाइके सत्यमयी प्रभु मोहि लखाई।

—स्वरूपगीता पद-सं १२८

घटाकाश घट में रहे, माया महँ जिमि जीव।
घट मठ नशे अकाश है माया नष्टे पीव।

—स्वरूपगीता पद-सं १११

सुनहु तात अद्वैत विचारा अगुण सगुण दोनो ते न्यारा।
नाम रूप दोनों भ्रम जाने हसे सरूप अभेद बखाने।

—स्वरूपगीता पृ ६६

जीवत्व पोष देहाध्यास के, शेष रहे कछु नाहिं।
नेह सुखी शून्य जो आतम तहाँ लखाहिं।

—स्वरूपगीता पद सं २८

ज्यों पुतली लवण की थाह समुद्र समाय।
रूप स्वाद जलही मिले कहि विधि आत्म बताय।।

—स्वरूपगीता पद-सं २१२

एक कहौं तो है नहीं कहाँ द्वैत ते न्यार।
अकथनीय सो सत्य है काह कहौं परचार।।

—स्वरूपगीता पद-सं २१८

आतम ब्रह्म सनातन अकल्प अखण्ड अनूप।
ताही ते परगट भया जीव मन दो रूप।।
मन की नारि प्रवृत्ति भई निवृत्ति जीव की जान।
कामपुत्र मन को भया विवेक जीव पहिचान।।
काम नारि की नाम रति विवेक सुमति नारि।
अपने अपने पति की होति भै परम पियारि।।
मनोराज नश्वर करि, रचा सृष्टि बहु भाँत।
स्वर्ग नर्क सुर असुरादी पुण्य पाप दिनरात।।
मेघ नक्षत्र ग्रह पल घड़ी तिथी मास पक्ष वर्ष।
नारी पुरुष दुख सुख रचा कुरूप रूप शोक हर्ष।।
लख चौरासी योनि रची तीन लोक विस्तार।
जीव भ्रमाइ भ्रम महँ आपन स्वरूप बिसार।।

—स्वरूपगीता दोहा १२२-२७

देख्यो वीर विवेक पिता ब्रह्म मम फन्द में।
करा करन एक टेक बुद्धि सचिव सो कहत भये॥

—स्वरूपगीता, सोरठा ४४

मम पितु ब्रह्म को अंश है जैसे छाया देह।
ताको स्वबस मों करि सत्त कहे मिथ्या गेह॥

—स्वरूपगीता दो १२८

जब ते जीव सहि सत माना भूले स्वरूप माया लिपटाना।
तब ते पुण्य पाप दिन राती संचित कछ भोग बहुभाँती।
कभी सुरासुर नर तनु पाई कभी पशु पक्षी महँ जाई।
लख चौरासी योनि बिस्तारा भ्रमत कर्मवश पिता हमारा।
पुनि पुनि स्वर्ग नर्क संचारा पुनरावृत्ति होत जीव बेचारा।
सदा कलेश लेश सुख नाहीं दीन मलीन हीन नित ताहीं।
सहत दुसह दुख रहत उदासी योनि योनि भरमत अविनाशी।
तासु दुःख दुखी चित्त मेरा कीन्ही चाव तभी मैं हेरा।

—स्वरूपगीता पृ १५१ दोहा १२८ के बाद की चौपाइयाँ

जिनका निज बोध स्वरूप भये तिनके भ्रम द्वैतवाद मिटाई।
आपनरूप सब जग देखत जैसे पोर पोर ऊख मिठाई।
एक अर दोय न भास सके कहु काहु से द्वेष न काहु मिताई।
योगेश्वर दास समान प्रकाश के व्यापक भिन्न कहीं नहिं जाई।

—स्वरूपगीता पद २

व्यापक कहो तो काहु में न लिप्त है न्यार कहो सब माँहि देखावे।
रूप कहो तो अरूप हि भासे निरूप कहो तब विरज सुहावे।
आगे का आगे पीछे का पीछे पुनि नीचे का नीच ऊँचा ऊँच पावे।
योगेश्वरदास अचम्भा बड़ो मैं, आपन और मैं आपन आवे।

—स्वरूपगीता पद २ १

जैसे एक दुई गिनी सौ तक भयी बात
सौ का ऊपर फिर 'एक' धरि जात है।
सहस में एक होत लाखहु में एक होत
करोड़ में एक होत अर्बें एक पात हैं।
खरब में एक होत नीलहु में एक होत
पद्म में एक महाशंख एक यात है।
योगेश्वर वेद ही बेद कवि बहु भाप किये
कथत ही कथन अकथ होइ जात हैं।

—स्वरूपगीता पृ ? ? छन्द २४

जैसे रहा सत है रहेगा हुआ हुए ना होय।
योगेश्वर रवि रौद सम वस्तु एक नाम दोय।

—स्वरूपगीता पृ १६५, दोहा ४१४

बनी पुतली वसन की कल्पित रूप अनेक।
आदि मध्य रु अन्त में रहा वसनमय एक॥
तैसे पुतली ब्रह्म की देखौ सुनौ सो सर्व।
भूषण यथा सुवर्ण की सकल काल रह दर्व॥

—स्वरूपगीता पृ १६६ दो ४२६ २७

अलख कहो तब लेख में आवत
लेख कहो तो अलेख में गोना।
ताहि ते ऐसे ही सूझ पड़े मोहि
आपत हौं मैं छिन्न के तौना।
शून्य के शून्य हैं मूल के मूल हैं
नीर के नीर, पवन के पौना।
वहि के वहि, प्रह के प्रह
अजम के अजम कलना के हैं तौना॥
नारी के नारी पति के पति अस
देखत हैं मैं गत मुख मौना।
रूप सबै सब रूप में से
योगेश्वर आप सबै विधि कौना।

—स्वरूपगीता पद-सं २ ३

सो बन्ध निर्बन्ध हर्ष न शोक न
पुण्य न पाप न छूट करौ ना।
सालोक मानीफ सायुज सारूप्य
मुक्ति नहीं तहि भ्रम के बैना।
नर्क अठाइस ताहि के गावन
आवत जात न देखत नैना।
इन्द्रत आदि अरु सब के मत
कैसे बताऊँ योगेश्वर बैना॥

—स्वरूपगीता पद-सं २ ४

एक तो दूसर के भ्रम मारे पंचभौतिक शरीर से होई।
मरा स्वरूप चित्तघन अहइ दूसर अर्थ विरुद्ध हो कहई।
अथवा जड़ तम रूप शरीरा आदि पदार्थ स्वरूप गंभीरा।
तमसे परे स्वरूप हैं भारी ऐसी धारणा तू पदचारी।
मैं हू आतम अरु देहादिक है अनातम कम प्रमादिक।

तीसरी ग्रर्थ सुनो मन लाई होई ग्रमाव न-मीं' जग माई।
तब जानो ऐसे के लेखा तब कछु इच्छा काको देखा।

—स्वरूपगीता पृ २ ३ (दोहा ४८७ के बाद की चौपाइयाँ)

योग दिव्यदृष्टि ग्रमरपुर

चलहु निज दरबार माधो ॥टेक॥
ग्रस्तान निरंतर बैठा ग्रासन पदम सम्हार।
उनमुनि ध्यान नासिका ग्रग्र तब गढ़ भीतर पधार ॥१॥
तब चक पोन्थी लाई दशों द्वार मानेदार।
धाम्ह सरासम करि सुखमन में तब खोलो त्रिकुटी किनार ॥२॥
गंगा यमुना सरस्वति संगम है मज्जन करो होइ पार।
रंग रंग के वस्तु निरेखो लीला ग्रगम ग्रपार ॥३॥
पुष्प एक दृष्टि में ग्राए, श्वेत चक्र फहराए।
ताहि चक्र पै नागिन दरसे को छवि बरणो पार ॥४॥
ग्रग्नि विम्ब चक्र एक दरसे मेरु दंड तहि ठार।
कछु ग्रमृत वहि सर्प चाले कछु होत चरि छार ॥५॥
ताहि दंड के फेरि करिको उध के कमल उठाए।
ग्रमृत ग्रावत रोक जिह्वा पर तब जीव सो सो उबार ॥६॥
ताको ग्रागे ग्रठंगी मामा शून्य शिखर रखवार।
त्रिगुणी पाँम लिए कर ग्रांश विनय से खोलत किवार ॥७॥
शून्य शिखर का गुफा जोइ देख निरंजन पसार।
शून्य शहर में चौमुख मंदिर तामें ज्योत ग्रपार ॥८॥
ता जग मानसरोवर जानो बिनु जल पवन हिलोर।
बिनु ग्रकाश परत बादल बिनु रवि शशि के ग्रंजोर ॥९॥
ठन ठन ठन ठन ठनका ठनके, घहरि घहरि घहराय।
दम दम दम दम दामिनि दमक, लौके बिजुली उजियार ॥१०॥
हीरा रतन जवाहिर बरसे मीन मोतियाँ फुहियाये।
चन्द्रवदन सुखमनि का ऊपर ग्रनहद शोर भनकार ॥११॥
बाज ताल मृदंग बाँसुरी शंख बेन सहनाए।
भरी भाँभ बहाम मांगी नरमी तान सितार ॥१२॥
मोर शोर चकोर उठत है को कवि वर्ण निहार।
ब्रह्मा विष्णु महेश शेष सुर बरणत शारद हार ॥१३॥
यह निरंजन माया दंगि के जा जा रहत समाये।
जो गी जन जब भूमि परले, पाए न ग्रपनो पार ॥१४॥

या जग गुप्त कछु है रासा। जामें सोई बन जान।
जोगेश्वर आप आप में मिले तब छूटे पसार ॥१५॥

—स्वरूपप्रकाश प सं ११

बड़ा यत्न से पिया के पाई रे ॥टेक॥
प्रथमें मूल बन्ध क बान्हो अरध गुदा मध्य सिमटाई।
मेरुदंड सीधा कै राखो नागिन जाइ जगाई रे ॥१॥
तब उडियान बन्ध को किन्हा नाभि पीठस्थ लगाई।
पच्छिम दिशा के खिड़की खुला बंक नाल चढ़ि धाई रे ॥२॥
बन्ध जालन्धर कस के राखा कंठ छिपे सिमटाई।
उलटी नयन लगे त्रिकुटी में अगम ज्योति दर्शाई रे ॥३॥
महाखेचरी मुद्रा साधा जिह्वातल छेद कराई।
खैंची स्वास उलटि जिह्वा को ब्रह्मरन्ध्र समाई रे ॥४॥
परन्थर काँप कलेजा उठे, तब पीछे सुख पाई।
अमृत स्त्रवी मुखमें मीठा अनहद नाद सुनाई रे ॥५॥
साई सोई अजपा जहँ उदे, अमल रूप दर्शाई।
जोगेश्वर जीव मिला अभिगत में आपे आप हो जाई रे ॥६॥

—स्वरूपप्रकाश प ११२

काया पुर खेली केसो चोखली कुसुमिया ! हे ननदिया मेरो।
गगन में फुलवा फुलाय हे ननदिया मेरो ॥१॥
दस पाँच सखिया मिलि फुलवा तोड़ चलली, हे ननदिया मेरो।
नैना चंगेलिया बनाय हे ननदिया मेरो ॥२॥
रंगली में पिया के पोशाक हे ननदिया मेरो।
जोगेश्वर पिया पहिरी चोखली फगुनिया हे ननदिया मेरो।
देखि देखि नैना जुड़ाए, हे ननदिया मेरो ॥३॥

—स्वरूपप्रकाश प ११८

सिद्धासन साधि निरन्तर बैठि के, योग क्रिया कछु तहिं ठानें।
जोगेश्वर चित्तवृत्ति क निरोध ते तत्त्व विवेक तबै पहचानें॥

—स्वरूपगीता पद-सं ४१

लघु तात सिद्धासन आसन को ऐंड़ी निज अण्ड ते नीच बनावे।
दच्छिन ऐंड़ी को इन्द्री क मूल को साधि मेरु दंड सीधो बनावे।
दोउ हस्तन ते हैं अनेक क्रिया दोउ भौंहहिं नासिका अग्र लगावे।
सिद्धासन पै करि कर्म अनेक जोगेश्वर मुद्रहिं योग लगावे।

—स्वरूपगीता पद ४२

न्योली बस्ती और धोती करि नवली है त्राटक जो यमकरखी।
षट् कर्म यही योगीश करैं, पुनि आसन न यद पुरातन बरणी।

—स्व गी प ४१

सिख देई मुझे मुद्रा दसहीं जाहि भाँति दया गुरुदेव जनाई।
तेहि नाम बखानि महामुद्र दूजे महाबन्ध ओवेध्य बनाई।
खेचरी उड्डियान जालन्धर अरु मूल बन्ध कही वज्रोली बताई।
योगेश्वर जो सिद्धाकरखी पुनि शक्तिहुँ चालनी देव लखाई।

—स्व गी प ४४

मन चंचल ते नित झाँपि कुल तेहि रोक सदा टक एक लगावे।
नीर भरे पल धीर रहे रंग बैंगनी ते चिनगी झरि आवे।
लड़ मोतिन के अनहोनी झलक खद्योत समान सख चमकावे।
बिजुली चमके लखु चाहु दिशा दमके जस दामिनि शब्द सुनावे।
ज्योति मशाल समान करे अरु मोर के पंख भरि एक आवे।
वामाङ्ग शशि रवि दक्षिण भाग योगेश्वर बिम्ब उदय दरसावे।

—स्व गी प ७४

ज्योति दीपक हेम सम भृकुटि मध्य दरसाये।
दरस निरंजन हेतु तब खेचरी बन्ध लगाये॥

—स्व गी दोहा ५८

दोउ कर्ण के छिद्र अंगुष्ठ सों रोकिके, तर्जनि ते दोउ नेत्र दबावे।
मध्यमा दोउ बन्द करैं निज नासा अनामिका ओष्ठ के ऊर्ध्व बतावे।
नीचली ओष्ठ के कनिष्ठ दबा स्वर दक्षिण रोकि के वाम चलावे।
ठहराि निज नयन लख त्रिकुटी सों योगेश्वर कुम्भक को ठहरावे।

स्व गी प ७५

एक निर्गुण राग नवीन सुनाइ के, योग क्रिया गहि साधहु जाई।
छोरि जानि के नीच न शिष्य किये तेहि जाइ भले निज शिष्य बनाई।
बहु शिष्य करो निज ध्यान प्रकाशि के, मोह निशा तहिं देहुँ बहाइ।
योगेश्वर देश में ज्ञान विराग दीक्षा सिखावहु शिष्य चलाई॥

—स्व गी प ८६

कर जोरि कहै सुनिये मम नाथ न जानत निर्गुण राग नई।
और कवि जो बखानि गये कछु गावत ना नई शक्ति भई॥

—स्व गी प ८०

बिनु तरु पुरातन पत्र पसरे फूल मूल बिनु फूलहीं।
बिनु वारि लहर त्रिवेनी उठत अनहद उठ न सूझहीं॥
कमल बास सुगन्ध चहुँ दिशि भ्रमर तेहि तहाँ गुंजहीं।
निरखी तहाँ मान सरवर, हंस मोती चुगहीं॥

एक अक्स तब सोई दृष्टि आवत देख अहुतेहि सेवही।
बिनु आधार पसार सब फहरात ध्वजा रुकही॥
बिनु बाप अजपा मन्त्र उठत योगी जन तेहि साँचही।
योगेश्वर लखि दरबार प्रीतम मुरली तहँ नाचहीं॥

—स० मी० छंद १

जहाँ पाप नहिं पुण्य है अन्त मोक्ष नहिं होय।
नहिं दुख-सुख आवागमन चित्त बाट लखु सोय॥
सब रूप सब से परे अनुपम कहीं बखान।
निज निज मति सब कवि कहैं, कहाँ सत्य प्रमान॥

—भ० गी० प० १४८

माया मन की प्रबलता क्रोध मोहादि

माया हिलावनहार हिंडोला झूल रहे। टेक।
शुभाशुभ कर्म के पटरी लोभ मोह के खम्भ।
तापर माया आप चढ़ा है शून्य भये स्वम्भ॥१॥
नव घट, चार अठारह चौदह माया शून्य न लाग।
सहस अठासी मुनिवर झूले गावत विरहा राग॥२॥
हिन्दू, यहूदी इस्लाम ईसाई चार धर्म के धाम।
पन्था-पन्थ के झूला झूले झूला बड़ बड़ नाम॥३॥
कल्प अनन्त कोटि से झूले पीर कमी ना मेल।
एकवा रहे पुरुष योगेश्वर देखत रहा अकेल॥४॥

—स० प्र० प० ६

काया गढ़ बोले कोतवाल जागु जन ज्ञानी ए साधो॥टेक॥
सद्गुरु शब्द कोतवाल शहर बीच बैठल ए साधो।
तीन चोर बटमार, कामादिक पैठल ए साधो॥१॥
मुसिहैं थाती जब जन रोइहैं सिर धुन कर ए साधो।
प्रभु को सह ना दरेर आपन जन जोकर ए साधो॥२॥

—स० प्र० प० ११

नरतनवा छोड़ि दीन्ह मोसाफिर रुख चले॥टेक॥
विषय सब सभा में बैठे सभापति अहंकार।
बुद्धि-वेश्या नाच करत है इन्द्रिय बजावन हार॥१॥
आसन साखी दीप मकारों नाच शोभा की पाए।
आपु रानि अतीत भयो है रहत उदासी छाए॥२॥
देश-देश में भ्रमत फिरे चौरासी मँह जाए।
यही नाच हौवा देखे लगरे मैन कहीं ना पाए॥३॥

योगेश्वर दास मुसाफिर सुनो जो सुख चाहत भाए।
ताको सदा शोभा सब पाय, उलटा आदु समाए ।।४।।

—स्व प्र , पद १ १

सुनु मोरा सखिया प्रेम दुलारी हो रामा।
आ किया हो रामा।
बटिया समहरिया अब कहुँ, पीसहुँ रे की ।।१।।
कमी के कनैवो रामा पाता जोड़ी अँतर्वा हो रामा।
आ किया हो रामा।
कमिपे के किलवा भै निर्मायब रे की ।।२।।
ज्ञान विचार के पाता थाड़ी बैंतवाँ हो रामा।
आ किया हो रामा।
किलवा पीरज धरि रोपब रे की ।।३।।
कमी के पैंगोलिया में किमे भरि गहुँआ हो रामा।
आ किया हो रामा।
कितने कितने मिलवा डालब रे की ।।४।।
शब्द पैंगोलिया में मन भरि गहुँआ हो रामा।।
आ किया हो रामा।
थोड़हीं थोड़हीं मिलवा डालहुँ रे की ।।५।।
पाँच पचीस मिलि वासो सहेलिया हो रामा।
आ किया हो रामा।
रगरि रगरि गेहुँआ पीसब रे की ।।६।।
हरषि निरखि क भँटवा उठावत हो रामा।
आ किया हो रामा।
देलवा सम्हारि मा साँचि रातब रे की ।।७।।
फरि का मधि सम सम्हरि मतनवाँ हो रामा।
आ किया हो रामा।
उहवाँ न पैसा उधारहु रे की ।।८।।
योगेश्वर दास रहे गमले निगुणिया हो रामा।
आ किया हो रामा।
अगन लंगनिया सगावा माथी रे की ।।६।।

– स्व प्र पद ११२

माया से उत्पन्न होत माया ही के मधि लत
मायहिं भजन बनी बनी न बन्दात है।।
शुभाशुभ मुग दुग करत ही करत न
स्वप्न समरसि बनी बनी न नसात है।।

योगेश्वर तैसहिं निज स्वरूप वास्तव लखे,
सो सो सब माया नाशि आप रहि जात हैं ॥
—स प्र मनहर छंद २७ पृ १६६

अज्ञानी शिशु रूप है ज्ञानी वत्स सम मान।
डराइ बुलावत निज निकट माया बुर्द समान ॥
—स प्र दो ४१५, पृ १६७

जैसे गगन महि मध्य में घटा करै रवि ओट।
तैसे जीव व पीव बिच मैं करूँ माया मोट ॥
—स गी दो ११४

नागिन शिशु उत्पन्न करे राखत हैं संग माँहि।
जे तन में स्पर्श करे तेहि शिशु नागिन खाहिं ॥
माया नागिन एक हैं, तातें रहिये दूर।
योगेश्वर कहत विचारि के रहना बुरा हजूर ॥
—स गी दो ४६-४७ पृ १६५

इस कोतवाल राह में राखे, सौदागर पे खाई।
कपट प्रेम प्रीत से मोहे, सब अपनी ठहराई।
बात समय सुर कौन बतावे मूढ़ो देत गँवाई।
बड़े-बड़े ज्ञानिन के मोहे, विरले माल बचाई।
योगेश्वर दास मन ठग को बाल्हो सोऽहं स्वरूप लगाई।
स गी प ४

मनहिं रचे ब्रह्माण्ड मनहि शिविका ठहरावे।
मनहिं दिखावे दृश्य जीव कहि मनहिं नचावे ॥
मनहिं मोक्षपद देत विषय महँ नाहि छवावे।
मनहि विष्णु पद देत मनहिं संग सबहिं नसावे ॥
—स गी प १२२ कुण्डलिया २

सृष्टि-पुनर्जन्म कर्म-मोक्ष

निज रूप न पाँच पचीस कहैं,
गुण तीनहुँ नाम न बुद्धि रहैं।
चित्तादि नहीं हंकार तहाँ
नहिं प्राण न कोष विचार कहे।
—स गी पद ५२

पंचहिं तत्त्व पचीस लिये
गुण तीनो प्रकृति मे मूल बनाई।

अहंतातीत ते स्थूल बने
होइ सूक्ष्म पे सोउ बेउ सकाई।

—स्व गी पद ५५

आकाश के राजस भाग ते वाक्
द पानि सो वायु क राजस मान।
तेज के राजस वायु बने पुनि
नीर क राजस पाद बखाने।
पृथ्वि के राजस अंश उपस्थ
सो पाँचहि कर्म इन्द्रिय पहिचान।
योगेश्वर राजस तें इहि माँहि
सदा नित कर्म सनातन जाने।
पाँच क तामस अंश ते महाभूत पैदाय।
अहंकार तें तीन गुण, प्रकृति पंचरस पाय॥

—स्व गी, पद ५८

अद्भुत पुरुष प्रकृतिहि जायो। तेहि ते महातत्त्व कहि गायो॥
पुनि प्रकृति तें होइ हंकारा। अहंकार गुण तीन पसारा॥
तमहु तें महभूत विषम पसारे। रजहुँ तें इन्द्रि दस होइ विकारे॥
सत्वादि दस मस्त तें होई। मन ते सबहु चराचर सोई॥
य जग इन्द्रजाल सम जान। नट कृत कपट नहहि पहिचाने॥

—स्व गी दो २२५ के बाद की चौपाइयाँ पृ १ ६

आदि अन्त में सृष्टि नहीं मध्य में मयउ पसार।
योगेश्वर ऐसा विचारि क सिर पग रखा उतार॥

—स्व गी दो २८६ पृ ११४

नहीं सृष्टि तब रहा कहाँ न तब कहाँ समास।
यह शंका गुरु होत है सो प्रति कहिए बुझाय॥
नहीं रहा तो ज्ञान महँ अज्ञान माँहि दरसात।
नहीं रही पुनि जानहु, ज्ञानहि माँहि समात॥

—स्व गी दो २५ २५१ पृ ११५

ज्ञान सामयी दिवस है तामें सृष्टि न भान।
अज्ञान रूप निशि मीर में सृष्टि स्वप्न समान॥
रवि का गति न दिवस है प्रातरूप नहिं साथ।
जाना मिथ्र वस्तु ह नहीं वस्तु परोक्ष अपरोक्ष॥

—स्व गी पृ ११६

कोउ कहैं यह सृष्टि स्वभाव ते कोउ तो कर्मन्हि ते दरसावै।
कोउ कहैं यह सृष्टि सनातन मायहिं तें कहि कोउ बतावै॥
कोउ कहैं सब ईश्वर निर्मित कोउक ब्रह्महिं ते कहि गावै।
तीनि विचार करै सबही, सो योगेश्वर वास्तव रूप दिखावै॥

—स्व गी पद ५१

राम नाम चित लाइ भजो रे मन गो अवसर नहिं आई।
पाके फल चूके डारिन ते लौटि डारि नहिं जाई।
तैसे तन यह बीति जात जब, फिर न मनुज तन पाई॥१॥

—स्व भ पद १

पावहि आतम तत्त्व जे, आवागमन नसाय।
जीव देह धुव धीर तजि पुनि नहिं सोउ कहाय॥

—स्व गी दो ८२

आतम तत्त्व जाने बिना कर्म शुभाशुभ कोय।
करहिं ताहि फल का मिलै, पाइ कवन गति सोय॥

—स्व गी, पद ६५

हरिते कृपालु प्रथम हम अब विशेष मोहि जान।
सद्गुरु की पाई दया योगेश्वर ब्रह्म समान॥

—स्व गी पद १११

पुण्य पाप निशिवासर करहीं सुख-दुख पार कबहिं नहिं तरहीं।
जब लगि स्वरूप ज्ञान नहिं होई, जरा मरण नहिं छूटत कोई।
सो सब जानहु आपन करनी भूल भये यदि फूटल तरनी।
मरकट सुआ दोउ हाथ बिकाई कीन्हे मुक्ताफिर जो मन माई।
तामें दोस अनिक कर पावे, भिन्नवास निर्दोष कहावे।
तैसहिं मैं सृष्टि उपमावउँ सत्यासत्य कहन नहिं कहेउँ।
आपहिं जीव सत्य मानि कै, पावहिं कष्ट अनेक।
मिथ्या भ्रम दीप देखिके हत है कहा विवेक।

—स्व गी, पृ १५४

ज्ञान अनुभूति विवेक-भक्ति-माधुर्य

भक्तियोग विज्ञान पर साधन अमित प्रकार।
ज्ञान मार्ग वास्तविक जे देहौं मत्त विचार॥

—स्व गी दो १२ पृ १५

मायहिं त मरी लगे योग विराग ए ज्ञान।
ज्ञानानुभूति भय है यह संत सुजान॥

—स्व गी दो ११ पृ १५

इहि भाँति अनेकन पंथन में, अन्याय अनेकन थापि भुलाते।
योगेश्वर अनुभव गम्य बिना निज रूप भुलावत भटपट खाते।

—स्वामी पद-सं ११ पृ ५६

ओर गाँठ माला डिगे ग्रन्थि वासना मान।
ग्रन्थि छूटे दाना छुटे सुरति केवल भान॥
सुरति केवल भान गये दाना बिलराये।
हानि लाभ ना लगे, माँहि कहिं तोहिं चेताये॥
गाठहु खोलि स्वधाम, तहाँ निजु आतम चिन्ता।

—स्वामी कुण्डलिया १, पृ ६२

जहाँ मन मिलै तेहि तज मनावत, देखि दशा गुरु की हरखाई।
योगेश्वर मन विवेक निरंतर, वचन क्यों मुखड़ा दरशाई॥

—स्वामी पद-सं १४६

सुनत सुनत सुने में आवत
देखत देखत देखत है कोई।
मापत मापत मापे जहाँ लग
माप में आवत है नहिं सोई॥
मन का गम में वैखरी तक आवत
बुद्धि विचार तक से न होई।
योगेश्वर दास थके चित सोचित
ई कहते अहंकार न सोई॥

—स्वामी पद सं २२

ऐसे जे अबूझ बूझै ताहि काँहि सत्य सूझै,
अवर सकल द्वैत भ्रम फन्द परे हैं।
आपहि में आप भूले, भ्रम के हिंडोला झूलै
कहत निज बन्धन बन्ध क करे हैं॥
बात के बनावट से काज ना सरत कछु
अधिक अधिक कसि दृढ़ गाँठ करे हैं।
कहत योगेश्वर विवेक धिक्कार देत
आपसो बिलग बिन नैन में परे हैं॥

—स्वामी मनहर छंद १७ पृ १८८

इन्हें भक्ति उन्हें ज्ञान चेताय के, वास्तव एक दोऊ ठहराई।
एक प्रथम है तबहर कहै तहिं एक अद्वैत सदा रहि जाई॥

जस निर्मल बूटी पड़े जल गावल शुद्ध करी निज नीर नसाई।
योगेश्वर देखहिं भक्ति बूटी विषय करि इह सो मद हो जाई॥

—स गी पद १५ (!) पृ १२२

मन योगिया हो ! धोबहु साफी सम्हार ॥टेक॥
सत के साफी मैल विनन के, जनत कहत मैं हारि।
मोह लोभ तामस मद तृष्णा कटिहर लगल अपार॥१॥
तन करो हाँडी कर्म के लकड़ी मुक्त चूल्हा धारि।
नाम नीर ज्ञान के आनी चित्तखाबु प्रेम के डारि॥२॥
त्रिवेणी तीर घा सत कर पटहा सुन्दर फींच सम्हारि।
सगुन सतगुरु शब्द लगायो पहिरि जबको समुरारि॥३॥

—स म पृ १६१

ज्ञान कमान ध्यान कटारी बिन कमर शब्द शरहि लगावे।
तन तोप भरे बिश्वास गोला बुद्धि सारथि सुरत ठीक चलावे॥
निश्चय ढ़व के पैर किगावत कामद क्रोध के मारि गिरावे।
योगेश्वर दास जिते मन राज सोई कलि में शुर बीर कहाव॥

—स गी पृ १८६

जीव त मन विवेक अहंकारा छमा क्रोध ते युद्ध अपारा।
जो शर मन जीव पर जोडे सो विवेक बीचे बे तोडे॥
कीन्ह अधेरा दोउ जन बापरा ऐसा विवेक बीर मैं पाएउ।
बै संतोष लोम के मारा विद्या गहि अविद्या पछारा॥
शील तामस का मै लड़ाई को कहि सके युद्ध कठिनाई।
अहिंसा शर कर सम्हारा दाया निर्दाया परहारा॥
भक्ति अभक्ति सुमति कुमती से मचे युद्ध जनु सुरगा सती से।
प्रेम नेम शर के ललकारा कुप्रेम का सिर ऊपर डारा॥

—स गी चौ १५५ के बाद चौ पृ १६५

मौन ध्यान ते काढ़ि के, शास्त्री रूप हुमाव।
समता ज्ञान को शान दे लिया क्रोध सिर दान॥

—स गी पृ १६६

सत्य सिरोही विद्या कर लिन्हां, अविद्या शीश बरबन किन्हां।
भक्ति भाव भाला सम्हारी अभक्ति राक्षसी को मारी।
शुभ कर्म बरछी सुमति क, मारा निपात किये कुमती के।
तामस तम की किन्ह ललकारा पाप पहाड़ शील पर मारा।
ता कर्इ चोट लगी चेहिं नाई जैसे ओर गिरि ऊपर राई।

सो विलोकि कोपे जीव नन्दन कहा करौं मैं सबहिं निकंदन।
तब तोरि शीश गदा परमारथ मारि तोड़ा सिर शामत स्वारथ।
छूटर गदा हनी भ्रमरठा शामत शीश भये दो खंडा।।

—स्व गी पृ १६७

अब हो गये जगत में शोर, बालम दासी भइली तोर।।टेक।।
जात पाँत मर्यादा कुल के, छोड़ लाज गै मोर।
तुम बिन रैन चैन न आवत, ढरत नैन से लोर।।१।।
रवि सनेही कमल कहावे चन्द्र सनेह चकोर कहावे।
चातक स्वाती परम सनेही कारि घटा के मोर।।२।।
तैसे मन मेरे तेरे सनेही और देह से छूटा नेही
देख निठुर तोहें तनक दया है विरह अगिन का जोर।।३।।
देखी दीन प्रणत तुम नाहीं कवन बिचार करत मन माहीं,
योगेश्वर सहज टूटिहैं नाहीं लागल प्रेम के डोर।।४।।

—स्वरूप प्रकाश पद-सं ५४

मोहि करत जवानी जोर बालम बटिया हेरूँ तोर।।टेक।।
काम प्रसाद रहे मोह मारी निस उठि कंत मैं जोहूँ अटारी।
हाय मींज पछतात हाय अब चिते रहूँ चहुँ ओर।।१।।
सावन में झिंगुर झँझकारे, तनमन बेसुध कौन सम्हारे।
दम दम दम दम दामिन दमके, करे पपीहा शोर।।२।।
मारो सुधि आवे मोहि छिन छिन निर्झर नैनन मोर।
पच किये आवे मोरि सखियाँ डूब मरूँ कहि ओर।।३।।
चढ़त कुआर पिया घर आय प्रेम सहित चुँदरी पहिराय
कहत योगेश्वर शरण गहो री उदय भाग्य मेल मोर।।४।।
बालम बटिया हेरूँ तोर।।

—स्व प्र पद-सं ५६

ससुरा मैं जैबो जरूर, नैहर दिन चार के।।टेक।।
चार दिन रहना नैहरवा करे गुमान अजान।
मिथ्या व्यवहार रहु रे सजनी छाँड़ि कपट गुमान।।१।।

स्व प्र पद-सं ६६

चलु मन देखवा अमरपुर हो, जहाँ बसे दिलदार।।टेक।।
पाँच पचिस पेन्हु चोलिया हो साड़ी सुरति सम्हार।
नेकी काजल कर नैना हो सेन्दुर सब्द सिंगार।।१।।
चित चंचल के त्रिकुटवा हो, करि लेहु मझाकार।
बुद्धि के पांव पैजनियाँ हो बिछिया झँझकार।।२।।
अंग अंगे ज्ञान गहनमा हो, कर साज शृंगार।

करि लेहु सुखमन घटिया हो, चलहु दरबार ॥३॥
ऊँची अटरिया साहबजी के हो झिहर झिहर बहत बयार।
उगेला अँजोरिया जगमग हो चलि करहु बहार ॥४॥
हंस पुरुष का बरनौं हो, जोति अपरम्पार।
कोटि दिवाकर सोभा हो एक रोम उजियार ॥५॥

—स्व प्रकाश पद-सं ८६

साधु-सद्गुरु, सत्संग आत्मसंयम कुसाधु-कुमत

त्यागु निज मोह कोह त्यागम भोग जाप
ध्यान न्यास त्यागो पाठ पूजा अरु ज्ञान को।
त्यागु सब देव अरु सेवा विधी इष्टन की
त्यागु पितृ प्रेम नेम और अनमान की ॥
त्यागु सकल तीर्थ व्रत और आचार वैदिक
त्यागु देव मन्दिर अरु नदिया स्नान को।
कहता योगेश्वर बचावत माहि ऊँच नीच,
त्यागु त्यागु सकल सिद्ध का निज मान को ॥

—स्व गीता कवित्त १ पृ ११

तीरथ बरत करि पूजा पाठ ध्यान धरि
नेम को आचार करि शुभ मन्त्र जोहिये।
सन्तन के सेवा सत्संग नित हेरि करि
नाम के रटन करि, सत्य योगी जोहिये ॥
करि षट क्रिया दस मुद्रा के साधन सब
गगन कपाट को सटाक दीन खोलिये।
ज्ञान को विराम को विचार निशिवासर,
योगेश्वर सद्गुरु गुरु तुलासम तोलिये ॥

—स्व गीता छंद २५, पृ १६१

लागि मोरि विकल चित मोरा कब देखिहौं मैं जाई।
सद्गुरु मेहि मोहि दर्शन दीन्हा दिये भेद लखाई ॥१॥

—स्व प्र पद-सं ५

सुनि निरखत बैन गुरु हमरे उठि प्रभु के ओट कूप तब डारे।
बामे कर शीश पै राखि प्रभु कर दाहिन सिखवत प्रभु हमारे।
गुरु पूछत हैं हम काह सिखा हम जानेउ ना कहि काह उपारे।
पीछे पशु एक हमार गुरु निज हाथ योगेश्वर छाड़ि मारे।

—स्व गीता पद-सं ८८

कलियुग का समाज

सौभागिन हीन विभूषण से विकला रचि साज शृंगार बनावे।
बाल सोभा पुरी पान चबै अरु इत्तर तेल सुगन्ध लगावे।
साड़ी सोमे रेशमी उर में चोलिया बूटेदार में तार कसावे।
योगेश्वर देखे मुख दर्पण पर पति नैना चमकावे।

—स्व गीता पद-सं १५२

कान कर्णफूल झूमक झूलत मोतिन के मंटीका बनावे।
गल में हँसुली हैकल सोमे, नथिया नकबेसर नग चढ़ावे॥
बाजू बरबूटा जोसन बिजुली ककना पहुँची हथ शंखू लगावे।
योगेश्वर कर पेन्हे कबिया कलि के विधवा एहवाती कहावे॥

—स्व गी पद-सं १५३

लौंग कसैली इलायची चाबत चंचल चाल धरे घर आवे।
ताली बजावत झूमर गावत दाँतन में मिसिया झलकावे॥
प्रेम का फन्द में बंध गये सब लोग हँसि तब प्राण गँवावे।
योगेश्वरदास देखो कलि कौतुक अग्नि के कुल कलंक लगावे॥

—स्व गी पद-सं १५४

अपने पति देख सोए सम्या जनु जूही-जुआर लगो तन आई।
बात बोलें तो मानो बम कामिन परपति सों बोलै मुसुकाई॥
अपने पति सुन्दर छाँडि अभागिन कुरूप पति पर जात लोभाई।
योगेश्वरदास कहि व्यभिचारहिं रौरव नर्क पड़ तब जाई॥

—स्व गीता पद-सं १५५

कौड़ी बिना पति को नहिं चाहत चाहत है नितहीं उठि गारी।
पति का कर में नहिं एक टका तिय माँगत है लहँगा अरु सारी॥
बातन बात करे रगड़ा झगड़ा सब होत धरे घर जारी।
योगेश्वरदास सदा करे कलह नारी कलि महँ भैल बिमारी॥

—स्व गीता पद सं १५६

जा घर पैठ मर तिय के, सोई बाल छुड़ा कर केश सँवारी।
इगुर बिन्दु लिलार सोमे नैना मँह काजल कारी॥
ले महना आगे भ्राग में साज घरेमर शोर मचावत मारी।
हमरे पति तुम्ह बहान नहीं जिनके पाव धूल कुला मैं मारी॥
इब को देन न लेन करे पति सो बोले बात दुलार दुलारी।

—स्व गी पद सं १५७

विद्या नहीं कछु कोटि पढ़ावत बालहिं ते बरबाद करे।
मूरख होइ रहे घर ही घर बैल की नाइ कमाइ मरे॥
चोरी करे ठगबारी करे बटमारी करे तब धन धरे।
योगेश्वरदास विद्या करें वर्जित ऐसे पिता पर वज्र परे॥

—स गी पद सं १६२

विद्या का हीन सो लाभ न जानत गावत हैं मैं सोउ कहानी।
उलटा कन्या से दास गढ़ावत पशु चरावें भरावत पानी॥
देकर कौड़ी बाजार में भेजत काम पड़ै उनका जिन्दगानी।
योगेश्वरदास न लाज है मूरख ऐसे पिता अपराध के खानी॥

—स गी पद-सं १६३

धन विहीन ते जानत हैं नहिं कौनहिं पाप ते का गति पाई।
ले लड़की शठ बेचत हैं, लिए से जन्मावत मुख से खाई॥
लड़की है पाँच पचास के बूढ़ तिलक में नैना जल छाई।
योगेश्वरदास विवाह में राँड़ पड़े उनका सब बाप को भाई॥

—स गी पद-सं १६४

बाल विवाह में जानत न कछु होइ भये जबहीं तरुणाई।
लोग कहैं तब रोवत हैं जिन्दगी सब पालन में कठिनाई॥
न विद्या नहिं दाम गेंठा में न उनते चरखा कटवाई।
योगेश्वरदास रोय जिनगी भरि मातपिता ब्याह मढ़े कसाई॥

—स गी पद-सं १६५

कोइ कुकर्म करे पर पुरुष कोइ किसी के विदेश में जाई।
कोइ त जाइ बने वेश्या अपने करनी करि आप नसाई॥
इज्जत जात दोनों जाति जात हैं बेचन ते नहिं होत भलाई।
योगेश्वरदास न दाग छूटे, ऐसा कलिराज के फन्द कसाई॥

—स गी पद-सं १६६

जिनका धर्म दान देना कन्या तिनके कलिराज यह फाँस फँसाई।
लड़की रह गए सत्ताइस के लड़का नव वर्ष के जोग के लाई॥
ब्याह ही में जब यौन भए, पति देख तब जात भँवाई।
योगेश्वर काम पिशाच गहे लगे मूढ़ लोकाचन लाज गँवाई॥

—स गी पद-सं १६७

मनहर छन्द

जानहिं हसत रहे जानहिं रोवत रहे
जानहिं न करे तकरार सजनी से।

खनहिं टूटन जाय खनहिं जहर खाय
खनहिं में नैहरा जहर चले घर सें।
कामहिं के बश परे लाज सब पर परे
झटपट करे जैसे रोगी बोले ज्वर से।
योगेश्वर कहत कभी धीर न रहत जब
पति देखत तब जर मरे क्रोध से।

—स गी मनहर छन्द २, पृ १११

सार्वभौम धर्म समन्वयवाद

बाबा हिन्दू मुसलमान दो रटहु राम खोदाई ।।टेक।।
क्या झगड़ा आपस में ठान तू है दोनों भाई।
एके ब्रह्म व्याप है सब में का सूअर का गाई ।।१।।
कहँवा तू जनऊ ले आया कहवा तू सुन्नत कराई।
जन्म समान भये दोऊ का ऐसी भेष बनाई ।।२।।
भूख प्यास नींद है एक, रुधिर एक दिखाई।
झूठ बात के रगड़ा ठाने दोऊ जात गोहाई ।।३।।
कहत योगेश्वर कहना मानो जो मैं देत सुनाई।
सुषोति में जा के देखो कहाँ तुरुक हिन्दु भाई ।।४।।

—स प्रकाश पद सं १७४

पाखण्ड-निषेध सार्वभौम धर्म

हम अपना पिया के अलबेली रे ।। टेक ।।
सासु ननद मोरा नीको ना लागे सदा रहूँ मैं अकेली रे ।।१।।
नैहर सासुर दूनू त्यागी संग ना योगिन सहेली रे ।।२।।
जात-पाँत मर्यादो न भावे लोकवा में सबहीं गेली रे ।।३।।
योगेश्वर विरहिन विरह व्याकुल जग लोक बाउर मेली रे ।।४।।

—स प्र पद-सं ११

गंगा भवन दखिन त्याग, नित्य करे असनान।
काशी में नित्य दिन श्वान मरत हैं उनको न आवे बिमान ।।३।।

—स प्रकाश पद-सं १४६

हम अपने अलबेली सुबेली आप पिया के।
जात-पाँत मर्याद बात न कछु हिया के।।

—स प्र पृ ५९६

देख अपने औगुनाई हो मौलाना ।। टेक ।।
पिता भ्रात के कन्या बिआहे बहिनी के बीबी बनाई।
यह नाते का ठिकाना नहीं है, कैसा बात अन्याई ।।१।।

जन्मत दूध पिया बकरी के, माता जिन्ह बनाई।
सो बकरी को गला काटत हैं तनिक दरद नहिं आई ॥२॥
जो गौआ सा पाला मैं तेरे मात पिता सुत भाई।
सो गौआ कुरबान करत हैं निपटे कम कसाई ॥३॥
झूठे को महजीद बनाया देव देखन न आई।
ये मुरगा नित हलाल करत हैं कैसे खुदा खाआई ॥४॥
झूठे हाफिज पीर और मियां झूठा किताब बनाई।
सुधि रोजन खुदा को तिसे साफ नरक में जाई हो ॥५॥
योगेश्वरदास कहत तोहरे का सुनो कान लगाई।
जब जोरा लेखा तोसे माँगिहैं, मुखवा से बात न आई ॥६॥

—स प्र पद-सं १२६

निजातम ज्ञान को भूलि गये बहु पंथ अनेकन भेष बनावे।
रहि साय ठरेसरि धारी जटा कोइ कान फड़ा सिर केश बढ़ावे॥
अंग विभूति रमाइ रहैं उर्ध्व बाँह उठाइ के संत कहावे।
योगेश्वरदास करैं जग सेन लखै बहु ताप के ठप्प सहावे॥

—स गीता पद-सं ६६

कोउ सहैं शीतोष्ण सदा तपते निज देह को सूख सुखावे।
कोउ बैठ एकान्त में साधु बने गिरि कन्दर जाइ के कोउ छिपावे॥
कोउ गीदड़ मान समान रहैं बहु भेष बनाइ के लोग ठगावे।
योगेश्वर आतम ज्ञान बिना सब व्यर्थ मरै निज मर्म भुलावे॥

—स गीता पद-सं ६९

बहु भेष सँवारि के माल गले, बहु आसन माँहि विभूति रमावे।
योगेश्वर आतम ज्ञान बिना मन होइ अनन्तर खूब नचावे॥

—स गीता पद-सं १

होइ मुसल्ल के कहि तुर्क तिन्हें निज औरत को बहु काट कटाई।
तुरक शीश शिखा नहिं राखत बीबी न शीश सो मोट कटाई॥
अपने सिर चन्दन लेपत ना तिय ईंगुर सिन्दुर माल भराई।
योगेश्वर तुरक आप बने निज औरत माहिं रखे हिन्दुआई॥

—स गीता पद-सं १०८

आप अनेक प्रकार किये सबहीं सिद्धान्त एक पर आवे।
कोई कहे नारद व्यास मुल्ला कवि कोई वेद वेदान्तहु गावे॥
कोई हदीस कुरान कहैं पुनि कोइ इसाई किताब बतावे।
योगेश्वर हेर देखा तब के मत आपहि आप सबन बनावे॥

(७) भगती दास

[मठवक चिलवनिया सरभंग-मठ—मोतिहारी के निकट ३ मील पश्चिम—१ वर्ष पूर्व १२५ वर्ष की आयु में समाधिस्थ हुए ।]

कुछ प्राप्त रचनाएँ—

(१)

गुरु पइयाँ पड़ी नाम के लखा दीना ।
जनम जनम के सुतल मनुआ शबद बान से जगा दीना । गुरु
मोरे उरन कराब प्रति बाड़े इमरित पड़ा पिला दीना ॥ गुरु
भगतीदास कहे कर जोरी जमुआ का भरम छुड़ा दीना ॥ गुरु

(२)

भुला गइल मनवा आन के ।
मात गरम में भगती कबूलल इहाँ सुतल बाड़ तान के ॥
एही काया गढ़ में पाँच गो पुरागिन पाँचो सुतल बा एको नाहीं जाग के ॥
कहे भगतीदास कर जोरी एक दिन जमुआ ले जाइ बान्ह के ॥

(३)

कर वर भगती मानव तन पाके ।
दाल निराइले भात निराइले हरदी लगा के ॥
चौका भीतर मुरदा निराइले बात मारे सराह के ।
मात पिता से कड़ुआ बोले मेहरी से हरखा के ॥
पड़ जइबे नरक का बंरा मू जइबे पछता के ।
कहीले भगतीदासजी बहुत तरह समझा के ।
मारे लागिहें जमुइया तब रोए लगबे मुँह बा के ॥

(३) रघुबीरदास

[चम्पारन निवासी—मठ में रहते थे । जन्म-मृत्यु—अज्ञात]

करव का सखिया रे अइले लगनवाँ ।
अगचक में बालम समाव साजि अइले मोह लगा के छोड़व ईहे भवनवाँ ।
इहाँ से पाँच-पाँच ठो इयार रंगरसिया मोह लगा के बाबा के छोड़व नगरवा ॥
ससुरा के हाल सुन बाप बिना काँपे मुनीला कि सइयाँ मारे बारे मसनवाँ ।
कहे रघुबीर मिलहु सब सखिया नइहर में आवे के कवन बा ठिकनवाँ ॥

(४) दरसनदास

[मोतिहारी के निकट चरहाहा ग्राम में रहते थे और वहीं १ वर्ष पूर्व धर्माभिस्थ भी हुए।]

(१)

काहु का ना छूटी बा मन के हरिनमवा।
कन्था तोरा भावत फिरे चहु गगनवा।
माया के किसरेला मदन बा हैरनवा।
साधु देखी पीठ देके भागेले सुजानवाँ।
माया के मुँह देखी भइल बा मगनवा।
छाती तोहर फटली केह दिन आई बलावनवा।
परचे-परचे छुटली मिली ना ठिकनवाँ।
घुमा के करोहर देखी करहे बा गुमनवाँ।
भस मार मारी जमु मिली ना ठिकनवाँ।
काह रे माया मोह लागे ना घिनवाँ।
कहे दरसन पद भजन निरवनवाँ।

(२)

औचक काका पक्षी मन में कर होशियारी हो।
करता निरंजन बड़ा खेलत बा खेलाड़ी हो।
सुर नर मुनी देवता लोग घर के पकारी हो।
ब्रह्मा के ना छोड़ी जिन वेद के विचारी हो।
शिव के ना छोड़ी जिन बइठल जंगल भारी हो।
नाहि छोड़े सेत रूप नाहीं जटाधारी हो।
राजा के ना छोड़ी नाहि प्रजा भिखारी हो।
भोरहर देके बान्ही जमु पतकल देके मारी हो
जिभी तोहर बाघ भइल तू देत प्रभु के बिसारी हो।
कहे दरसन तोरे जुग जुग मारी हो।

(५) मनसाराम

[सिमरैनमठ—घोड़ासाहन के निकट रहा करते थे।]

(१)

लाग गइल नजरी उलटा गगनवाँ में लाग गइल नजरी।
ना देखी भेष माला ना देखी कबरी।
टपकत बुन्द बा भींजे मोरा चुनरी॥

पेन्हीले सबुज सारी बटिया चलीले म्झारी।
चलत चलत गइल हरि जी का नगरी॥
एह पार गंगा मइया ओह पार जमुनी।
बिचही बखोवा माई उनकी बाड़ी घघरी॥
कहेलन मनसा राम सुनए कंकाली माई।
हमरा के ओह देहु ईसरजी के कगरी॥

(६) शीतलराम

[गजपूरा छितौनी-मोतिहारी निवासी थे। जाति के तेली थे। साहेबगंज (मुजफ्फरपुर) जाकर मकुआ साधु (जो एक प्रसिद्ध सरभंग सन्त थे) से दीक्षित हुए। गजपूरा छितौनी के निकट ही मठ बनाकर रहते थे। ५ वर्ष पूर्व समाधिस्थ हुए।]

(१)

मन मौसी ठगिनिया खेल फेर खेल।
पाँच तत के कोल्हू बन गेल तीन गुन के महन ठोक देल।
गजपूरा से छितौनी गेल जतने छ्प में देल फेर खेल।
श्रीशीतलराम साहेबगंज गेल रामदत्त मकुआ से संग करि लेल।

(७) सूरतराम

[मझाही (चम्पारन) में रहते थे। बहुत ही कर्मनिष्ठ योगी थे। बेतिया महा राजा के दरबार में एक स्त्री सुहागिन से इनका साक्षात् हुआ था। सुहागिन सन्त के उज्ज्वल चरित्र और प्रगाढ़ भक्ति से बहुत ही प्रभावित हुई थी। आजन्म इनकी सेवा में शिष्या रूप में रहीं। १ वर्ष पहले समाधिस्थ हुए।]

(१)

एक त बारी मोरी दोसरे पिया का चोरी तिसरे ये रसमस्ता रे।
फूल तोड़ चलहु बारी सारी मोरा अंटकल बाड़ी किनु सइयाँ रसिया केहुना छुड़ावत रे।
साड़ी मोरा फाटि गइले अंगिया मसकि गइले नख्न डपकी नव रंग मौजत रे।
मौजते-मौजते बारी चढ़ली अटारी जहाँ बसे पियवा मोर रे।
कोरी का महलवा राम अनहद बाजा बाजे उहाँ नाचे सुरति सुहागिन रे।
गगन अटारी चढ़ी खिलबेली सुरति सुहागिन इहाँ बसे पियवा मोर रे।
कहीले सुरतराम सुनए सुहागिन मगन भजनवे चलना देख रे।

(८) तालेराम

[जन्म—गोनरवा-मोहरवा; समाधि-स्थान—पौता समाधि-काल—१२१२ फसली लोहार-कुल के बालक थे।]

(१)

रामगुण न्यारो उ ॥टेक॥
चार वेद पुरान मागवत्‌गीता समनी के मैं मारो।
कितने सिद्ध साधु सब पचिगै कोई न पावै पारो ॥रामगुण ॥१॥
काशी के जे बासी पचगै पचगै कृष्ण मारो।
म्वाल बाल गोकुल के पचगै पचगौ बस अवतारो ॥रामगुण ॥२॥
बिना चुना के मंदिर चुनौटल उसमें साहेब हमारो।
न वह हिन्दु, न वह तुरक न वह बाध चमारो ॥रामगुण ॥३॥
पाँच के मारि, पचीस के बस करि, साँच दिया ठहरावो।
कहे 'ताले' सुन 'गिरिधर' योगी उतरि चलो भव पारो ॥रामगुण ॥४॥

(२)

खेती या मन लाई वो बन ॥टेक॥
उलट पलट के हल न जोतो बहु बिधि मेह लगाई।
शील सन्तोष के हेंगा फेरो ढेला रहै न पाई॥
लोभ मोह के बथुआ उपिलै, जैसे कोइ न जाई।
ज्ञान के खुरपी हाथ में लायो सौर रहै ना पाई।
काम क्रोध के उठै तरँगा खेत चरन के जाई॥
ज्ञान के लटका हाथ को लेको खेत चरन ना पाई॥
काट खोट के घर में लावन पुरा किसान कहाई।
कहे 'ताले' सुन 'गिरिधर' योगी आवा गमन नसाई॥

(३)

राम भजन कर भाई बिनवा बीजल हो जाई ॥टेक॥
साम किहाँ से बरस ले अपना सूत पर बेली लगाई।
भूखा ज्ञान मेल नहि जग में मरई के मूढ़ गँवाई ॥१॥
अपन साधो करम कछु कादो रहथो मन एकुआई।
जाहि जाहि कहि गिरबो चरन पर, पति रखिहै रघुराई ॥२॥
राम भजे से सब बनि जाई निरबनिया बन जाई।
कहे 'ताले' सुन 'गिरिधर' योगी बिनवा बीजल हो जाई ॥३॥

(४)

साधु ए सज्जन मोरई तार ॥टेक॥
आगे में नाम देखो स्वासा विचार।
त्रिकुटी ऊपर जोति उजियार॥

अष्ट दल कमल फूले गुलजार।
मेरे मन मधुकर करै गुलजार॥
इंगला पिंगला के काया निरधार।
सुखमन बटिया के खुल न केवार॥
नाभि कुंड बहै अमृत धार शब्द उठै जहाँ ओंकार।
तालदास तहाँ काया निरधार, जीति चलहुँ नहि देखा विरान॥

(५)

विहसन एक जड़ी हमारे गुरु॥टेक॥
इहो जड़िया मोंही प्यार लगत है अमृत रस से भरी।
इहो जड़िया कउ सन्त लोग जाने लै के जपत रही॥१॥
त्रिविध तापना तन से भागे दुर्मति दूर करी।
इहो जड़िया देखि मृत्यु डरावे और कौन का पुरी॥२॥
मनही भुजंग पाँचो नाड़ी मन तरंग भरी।
डाइन एक सकल जग खाये मोती देख डरी॥३॥
निशि वासर जन ताहि न बिसरै पल चित एको घड़ी।
कहै 'ताले' सुन 'गिरिवर' योगी सबको ध्यान हरी॥४॥

(६)

भजन में सन्तो प्यारा है॥टेक॥
बिनु छड़ली बिनु हाथ हवीली गढ़ल सकल संसारा है।
बिनु खम्भा असमान खड़ा है उसमें माया सारा है॥
बिनु चूना के मंदिल चुनौटल उसमें साहेब हमारा है।
कहै 'ताले' सुन गिरिवर योगी सतगुरु सबसे न्यारा है॥

(७)

सोऽहं नाहि बिचारी बन्धु हो॥टेक॥
नाहा बएलवा ढाढ़ नहिं अंगछे छन छन देत गिराई।
गुरु के शब्द से नाधु बएलवा हनि हनि मारहु पचारी॥१॥
ना हम लादी हीरा मोती ना हम लौंग सुपारी।
हमहुँ त लादब गुरु के सबदवा पूरा लाद हमारी॥२॥
'तालराम' पठिया लिखि भेजल, लछमी के महतारी।
साहब कबीर के घर भरत है अपने भरल बखारी॥३॥

(८)

सतगुरु मनिया सिंजड़ा पा लगा॥टेक॥
एक दमरी के मुनिया बेसहलो नौ दमड़ी के सिंजड़ा।
आएल बिलार झपट लेलक मुनिया गैय मारी दुनिया॥

अलख बाद पर बइठे मुनिया खाए बहर के बूटी।
साधु संगत में परि रहै मुनिया सहज ज्ञान के फूटी॥
सगरे नगर ढाले धुमि फिरि अएलन कतहुँ न रामनाम मुनिया।
कहे 'ढाले' सुन 'गिरिधर' योगी ई नगर बड़ा ठुनिया॥

(६)

हरि नाम सजीवन बाँधा खोलो गाँठ के॥टेक॥
रात के बिछरल चकवा रे चकवा प्रात मिलन जाके होत।
जो जन बिछरे राम भजन में दिवस मिलनवा के राती॥
योहि देशवा हंसा कद प्याना जहाँ जाति ना पाँती।
ध्यान मुरत धु मोहन करिहैं कुदरत जाके बाती॥
मुखल दह में कमल फुलाएल, कली कली रहि छाती।
कहे ढाले' सुन 'गिरिधर योगी हुलसत सद्गुरु के छाती॥

(१)

राम नाम धन पाई गहना ना गढ़ब हो माई॥टेक॥
दाम हथौड़ी पवन नेहाए कैची प्रेम कटाई।
राम नाम बने फुकनिया फु कत मन चित लाई॥
अठैंठी आठ पहर रघुवरजी के, पैंजनी पाँच सोहाई।
नथिया में नारायण बसतु हैं बेसर हाल बनाई॥
बिसुनीवास अयोध्या काशी तीन लोक में भाई।
कहनी विसुनी साँच कहतु है सोनवा ना पतआई॥
कहे 'ढाले सुन 'गिरिधर योगी गहना अजब गढ़ाई।
जे एहि गहना के मरम न जाने तिनको देहि पहिराई॥

(४) मिसरीदास

(१)

पाँच पचिस सखिया
मिलि मइले एक समनवाँ से
खेलि लेहु दु सतगुरु का आँगनवाँ से
ऐसन खेलवा खेलइ है मोरा साहेब से
मेटि जैहें मोरा आवागवनवाँ से
सब सन्तन मिलि कर एक मिलनवाँ से
बुझि लेहु गुरु गम के ज्ञानवाँ स
ठठर भूए सखिया खाहु विरानवाँ से

(४)

नैना के आगे पिया मोरा ठाढ़े से
देखि लेहु लोचन नयनवाँ से
देखते देखते मोरा नैना मुरझले से
बिजुली सरीखे झलके पिया के चननवाँ से
मैं तो अभागिन पिया के देखहु न पावलीं से
रोअते रोअत मोरा बितले जनमवाँ से
धीरज धरहु सखिया झाड़हु रोअनवाँ से
करि लेहु प्रभु के धेयानवाँ से
मिसरीदास भूमर खेलले गगनवाँ से
मिलि गइले पिया सुन भवनवाँ से

(५)

गंगा जमुना बहे सुरसरि धारवा से
झिलझिर खेलि लेहु सुखमन सइ वा घरिया से
मौजल नदिया अगम बहे सखिया से
कैसे पैबो हो बिना गुरु नैया से
कथि कर नैया कथि करुआरिया से
कौन विधि कैसे उतर ए सखिया से
सत कर नैया सुरत करुआरिया स
ताहि चढ़ि चलि उतर ए सखिया से
पाँच पचिस तीनि दास्व ए सखिया स
बिछोह करले मोरा पिया के सुरतिया स
रमरत झमरत मिसरीदास भूमर खेलल गगनवाँ स
होइ गेल हो पिया से मिलनवाँ स

(६)

संझा आरती निशुदिन सुमिरा हो
सुमिरन करत दिन दिन मीन हो
दे धीरज ध्यान दिढ़ कर बानी
गुरुजी के नाम अचल कर बाती हो
गगन धूप सुरती पद दीप
ब्रह्म अगिनि तन लगहु दीप हो
बाजा के थारी नारा पर चउर
प्रेम पुहुप लइ परिछहु पाई हो

परिशिष्ट (ग)

सन्तों के पदों की भाषा

सरभंग सम्प्रदाय अथवा औघड़ सम्प्रदाय का जो कुछ साहित्य उपलब्ध हुआ है तथा जिसके आधार पर इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त, साधना और आचार-व्यवहार आदि का निदर्शन किया गया है उसकी भाषा का विश्लेषण करने से उसमें मुख्यतः तीन धारायें प्रवाहित होती दीख पड़ती हैं—(क) अवधी तथा ब्रजभाषा का मिश्रित रूप (ख) खड़ी बोली—शुद्ध एवं मिश्रित (ग) भोजपुरी (शुद्ध एवं मिश्रित)। कहीं-कहीं एक ही पद में सभी धारायें त्रिवेणी के समान एक दूसरे से ओतप्रोत हैं। जिसे हम कबीर आदि सन्तों की 'सधुक्कड़ी भाषा' कहते हैं उसमें भी विभिन्न भाषाओं उपभाषाओं बोलियों तथा शैलियों का सम्मिश्रण मिलता है। भाषा शास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से इस प्रकार की सम्मिश्रित भाषा एक समस्या भले ही हो किन्तु इसकी व्याख्या इस कारण है कि वे सन्त प्रायः देश के सभी भागों में विभिन्न भाषाओं के क्षेत्रों में घूमा करते थे; इनका सम्पर्क जितना सामान्य जनता से रहता था उतना तथाकथित शिष्ट वर्ग से नहीं। अतः उनके लिए यह आवश्यक होता था कि जहाँ-जहाँ विचरण करें वहाँ-वहाँ की क्षेत्रीय भाषा का पुट अपनी वाणियों में समाविष्ट करें। इनका मुख्य लक्ष्य था भावों का आदान-प्रदान तथा संप्रेषण न कि भाषा की विशुद्धता की रक्षा। कबीर की निम्नलिखित पंक्ति इसी महत्त्वपूर्ण दृष्टि की ओर इंगित करती है—

'का भाषा का संसकिरत भाव चाहिए साँच।

इसमें जिन तीन धाराओं का उल्लेख किया है उनमें प्रथम का प्रतिनिधित्व औघड़ मत के प्रमुख आचार्य एवं प्रवर्तक किनाराम के पदों में है। किनाराम मुख्यतः काशी में रहा करते थे किन्तु उनपर सूरदास और तुलसीदास जैसे सगुणवादी सन्तों की सर्वजनसुलभ कविताओं का स्पष्ट प्रभाव प्रतीत होता है। किनाराम ने अपने ग्रंथों के जो नाम दिये उनसे भी अनुमान किया जाता है कि भाषा की दिशा में तुलसीदास की रामायण उनका आदर्श थी। उनके प्रमुख ग्रंथ हैं—विवेकसार रामगीता गीतावली और रामरसाल। तुलसी के समान ही किनाराम ने चौपाई, दोहे तथा कवित्त आदि छन्दों का प्रयोग किया है और उनकी भाषा भी तुलसी के साँचे में ही ढली है। एक-दो चौपाइयों के उदाहरण—

मन चंचल गुरु कही विचारी।
जाकी सकल लोक मझुवारी॥

अथवा

मनके हाथ सकल अधिकारा।
जो स्थिर करे सो पावै पारा॥

अथवा

हृदय बसी मन परम प्रवीना।
मात वृद्ध नहिं सदा नवीना॥

परिशिष्ट (ग)

सन्तों के पदों की भाषा

सरभंग सम्प्रदाय अथवा औघड़ सम्प्रदाय का जो कुछ साहित्य उपलब्ध हुआ है तथा जिसके आधार पर इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त साधना और आचार-व्यवहार आदि का निदर्शन किया गया है उसकी भाषा का विश्लेषण करने से उसमें मुख्यतः तीन धाराएँ प्रवाहित होती दीख पड़ती हैं—(क) अवधी तथा ब्रजभाषा का मिश्रित रूप (ख) खड़ी बोली—शुद्ध एवं मिश्रित (ग) भोजपुरी (शुद्ध एवं मिश्रित)। कहीं-कहीं एक ही पद में सभी धाराएँ खिचड़ी के समान एक दूसरे से ओतप्रोत हैं। जिसे हम कबीर आदि सन्तों की 'सधुक्कड़ी भाषा' कहते हैं उसमें भी विभिन्न भाषाओं उपभाषाओं बोलियों तथा शैलियों का सम्मिश्रण मिलता है। भाषा शास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से इस प्रकार की सम्मिश्रित भाषा एक समस्या भले ही हो किन्तु इसकी व्यापकता इस कारण है कि वे सन्त प्रायः देश के सभी भागों में विभिन्न भाषाओं के क्षेत्रों में घूमा करते थे इनका सम्पर्क जितना सामान्य जनता से रहता था उतना तथाकथित शिष्ट वर्ग से नहीं। अतः उनके लिए यह आवश्यक होता था कि जहाँ-जहाँ विचरण करें वहाँ-वहाँ की क्षेत्रीय भाषा का पुट अपनी वाणियों में समाविष्ट करें। इनका मुख्य लक्ष्य था भावों का आदान-प्रदान तथा संक्रमण न कि भाषा की विशुद्धता की रक्षा। कबीर की निम्नलिखित पंक्ति इसी महत्त्वपूर्ण दृष्टि की ओर इंगित करती है—

'का भाषा का संसकिरत भाव चाहिए साँच।

हमने जिन तीन धाराओं का उल्लेख किया है उनमें प्रथम का प्रतिनिधित्व औघड़ मत के प्रमुख आचार्य एवं प्रवर्तक किनाराम के पदों में है। किनाराम मुख्यतः काशी में रहा करते थे; किन्तु उनपर सूरदास और तुलसीदास जैसे सगुणवादी सन्तों की सबजनसुलभ कविताओं का स्पष्ट प्रभाव प्रतीत होता है। किनाराम ने अपने ग्रंथों के जो नाम दिये उनसे भी अनुमान किया जाता है कि भाषा की दिशा में तुलसीदास की रामायण उनका आदर्श थी। उनके प्रमुख ग्रंथ हैं—विवेकसार रामगीता गीतावली और रामरसाल। तुलसी के समान ही किनाराम ने चौपाई दोहे तथा कवित्त आदि छन्दों का प्रयोग किया है और उनकी भाषा भी तुलसी के ढाँचे में ही ढली है। एक-दो चौपाइयों के उदाहरण—

मन चंचल गुरु कहीं दिखाई।
ताकी सकल लोक प्रभुताई॥

अथवा

मनके हाथ सकल अधिकारा।
जो हित करे तो पावै पारा॥

अथवा

हृदय बसै मन परम प्रवीना।
मारा मूढ़ नहिं सदा मलीना॥

जाती है तथा पुनः दक्षिण और फिर उत्तर की ओर मुड़कर जशपुर-राज्य को अपने अन्तर्गत कर लेती है। यहाँ छत्तीसगढ़ी तथा बघेली को वह अपन बायें छोड़ देती है। यहाँ से मंडरिया तक पहुँचकर यह पहले उत्तर-पश्चिम और पुनः उत्तर-पूरब मुड़कर सोन नदी का स्पर्श करती हुई 'नगपुरिया' भोजपुरी की सीमा पूर्ण करती है।

'सोन नदी को पारकर भोजपुरी अवधी की सीमा का स्पर्श करती है तथा सोन नदी के साथ यह ८२ देशान्तर-रेखा तक चली जाती है। इसके बाद उत्तर की ओर मुड़कर यह मिर्जापुर के १५ मील पश्चिम की ओर गंगा नदी के मार्ग से मिल जाती है। यहाँ से यह पुनः पूरब की ओर मुड़ती है गंगा को मिर्जापुर के पास पार करती है तथा अवधी को अपने बायें छोड़ती हुई एवं सीधे उत्तर की ओर 'ग्रांड ट्रंक रोड' पर स्थित 'तमंचाबाद' का स्पर्श करती हुई जौनपुर शहर के कुछ मील पूरब तक पहुँच जाती है। इसके पश्चात् घाघरा नदी के मार्ग का अनुसरण करती हुई वह 'अकबरपुर तथा 'टाँडा' तक चली जाती है। घाघरा नदी के उत्तरी बहाव-मार्ग के साथ-साथ पुनः यह पश्चिम में ८२ देशान्तर तक पहुँच जाती है। यहाँ से टेढ़े-मेढ़े मार्ग से होते हुए बस्ती जिले के उत्तर-पश्चिम नेपाल की तराई में स्थित यह सीमा 'अरवा' तक चली जाती है। यहाँ पर भोजपुरी की सीमा एक पतली पट्टी बनाती है जिसका कुछ भाग नेपाल-सीमा के अन्तर्गत तथा कुछ भारतीय सीमा के अन्तर्गत आता है। यह पट्टी १५ मील से अधिक चौड़ी नहीं है तथा बहराइच तक चली गई है। इसमें थारू बोली बोली जाती है जिसमें भोजपुरी के ही रूप मिलते हैं।

भोजपुरी की उत्तरी सीमा अवधी की उस पट्टी को जो भोजपुरी तथा नेपाली के बीच है बाईं ओर छोड़ती हुई दक्षिण की ओर ८३ देशान्तर-रेखा तक चली गई है। यह पूरब में रुम्मनदेई (बुद्ध के जन्मस्थान प्राचीन लुम्बिनी) तक पहुँच जाती है। यहाँ से यह पुनः उत्तर-पूरब ओर, नेपाल-राज्य में स्थित बुटवल तक चली जाती है तथा वहाँ से पूरब होती हुई नेपाल-राज्य के अमलेखगंज के १५ मील पूरब तक पहुँच जाती है। यहाँ से यह फिर दक्षिण ओर मुड़ती है। इसके पूरब में मैथिली का क्षेत्र आ जाता है। मुजफ्फरपुर के ? मील इधर तक पहुँचकर यह सीमा पश्चिम की ओर मुड़ जाती है तथा गंडक नदी के साथ-साथ यह पटना के पास तक जाकर गंगा नदी से मिल जाती है। "इसके बोलनेवालों की संख्या भी अन्य दो बिहारी बोलियों मैथिली तथा मगही की संयुक्त संख्या से लगभग दुगुनी है।"

डॉ० तिवारी ने यह आश्चर्य प्रकट किया है कि भोजपुरी की इतनी व्यापकता एवं उसके बोलनेवालों का उसके प्रति अधिक अनुराग होते हुए भी उसमें लिखित साहित्य का क्यों अभाव है। इसका एक कारण उन्होंने यह दिया है कि मिथिला तथा बंगाल के ब्राह्मणों ने प्राचीन काल में संस्कृत के साथ-साथ अपनी मातृभाषा को भी साहित्यिक रचना के लिए अपनाया किन्तु भोजपुरी-क्षेत्र के ब्राह्मणों ने संस्कृत पर ही विशेष बल दिया। आज भी भोजपुरी बोलनेवाले भोजपुरी को उतना प्रश्रय शिक्षा के माध्यम आदि के रूप में देना नहीं चाहते जितना मैथिली बोलनेवाले अपनी बोली को। भोजपुरी बोलनेवाले

भाषा की दृष्टि से जहाँ तक प्रस्तुत ग्रंथ का सम्बन्ध है सर्वाधिक महत्त्व उसकी भोजपुरी धारा का है। भोजपुरी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में अबतक जो उच्च कोटि के अनुशीलनात्मक ग्रंथ प्रस्तुत अथवा प्रकाशित हुए हैं, वे हैं—डॉ० उदयनारायण तिवारी का 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' डॉ० विश्वनाथ प्रसाद का 'भोजपुरी ध्वनिशास्त्र' डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय का 'भोजपुरी लोकगीतों का अध्ययन' तथा डॉ० सत्यव्रत सिन्हा की 'भोजपुरी लोकगाथा'। इनके अतिरिक्त रामनरेश त्रिपाठी दुर्गाशंकर सिंह देवेन्द्र सत्यार्थी आदि ने लोकगीतों तथा ग्राम-गीतों के संकलन और सम्पादन की दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया है। प्रस्तुत ग्रंथ में अनेकानेक ऐसे संतों की भोजपुरी-रचनाओं के उद्धरण मिलेंगे जिनकी ओर उपरिलिखित विद्वानों मनीषियों अथवा अनुसंधायकों का ध्यान भी नहीं गया है। इन संतों की वाणियों का भाषा शास्त्र की दृष्टि से तो महत्त्व है ही सांस्कृतिक तथा धार्मिक दृष्टि से भी कम महत्त्व नहीं है। अभीतक जो संत-साहित्य हमें उपलब्ध हैं उनमें कबीर धरमदास धरनीदास दरियादास, शिवनारायण आदि संतों की कुछ भोजपुरी अथवा भोजपुरी मिश्रित कविताएँ प्राप्त हैं। किन्तु सरभंग सम्प्रदाय के अनुशीलन-क्रम में जिन संतों की भोजपुरी रचनाएँ मिलीं उनमें से प्रमुखों का नामोल्लेख आवश्यक है। वे हैं—भिनकराम टेकमनराम योगेश्वराचार्य मोतीदास शोभीदास नारायनदास बिहूराम गोविन्दराम बालखण्डीदास केशोदास अच्छानंद रघुपती मलिन मुक्खू भगत आदि। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे पद प्राप्त हुए हैं जिनके रचयिता संतों के नाम सुलभ नहीं हो सके हैं। यदि अघोर या सरभंग-सम्प्रदाय के समस्त विशाल साहित्य का भाषा तथा शैली की दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो भोजपुरी-भाषा के सम्बन्ध में जो वर्तमान ज्ञान दिग्विन्दु है उसका कितना अधिक विस्तार होगा इसका अनुमान सुगमता से किया जा सकता है।

डॉ० ग्रियर्सन ने पश्चिमी मागधी बोलियों का 'बिहारी' नाम दिया है। ये तीन हैं—भोजपुरी मैथिली और मगही। इनमें क्षेत्र की व्यापकता की दृष्टि से सर्वप्रथम स्थान भोजपुरी का ही है। इसके चार उपविभाग हैं—उत्तरी भोजपुरी (सरवरिया तथा गोरखपुरी) दक्षिणी भोजपुरी पश्चिमी भोजपुरी तथा नगपुरिया। इनकी व्यापकता के परिचय के लिए डॉ० उदयनारायण तिवारी के भोजपुरी भाषा और साहित्य से उद्धरण देना उचित होगा।

'भोजपुरी' ४१ वर्गमील में बोली जाती है। इसकी सीमा प्रान्तों की राजनीतिक सीमा से भिन्न है। भोजपुरी के पूरब में—इसकी दो बहनों मैथिली तथा मगही का क्षेत्र है। इसकी सीमा गंगा नदी के साथ-साथ पटना के पश्चिम कुछ मील दूरी तक पहुँच जाती है जहाँ से सोन नदी के मार्ग का अनुसरण करती हुई यह रोहतास तक पहुँच जाती है। वहाँ से यह दक्षिण-पूरब का मार्ग ग्रहण करती है तथा आगे चलकर राँची के प्लेटो के रूप में एक प्रायद्वीप का निर्माण करती है। इसकी दक्षिणी पूर्वी सीमा राँची के बीस मील पूरब तक जाती है तथा जोड़ के चारों ओर घूमकर यह जसपुर तक पहुँच जाती है। वहाँ से यह उड़िया को अपने बायें छोड़ती हुई, पश्चिम की ओर मुड़

जाती है तथा पुन: दक्षिण और फिर उत्तर की ओर मुड़कर जशपुर-राज्य को अपने अन्तर्गत कर लेती है। यहाँ छत्तीसगढ़ी तथा बघेली को वह अपने बायें छोड़ देती है। यहाँ से मंडरिया तक पहुँचकर वह पहले उत्तर-पश्चिम और पुन उत्तर-पूरब मुड़कर सोन नदी का स्पर्श करती हुई 'नगपुरिया' भोजपुरी की सीमा पूर्ण करती है।

'सोन नदी को पारकर भोजपुरी बघेली की सीमा का स्पर्श करती है तथा सोन नदी के साथ वह ८२ देशान्तर-रेखा तक चली जाती है। इसके बाद उत्तर की ओर मुड़कर वह मिर्जापुर के १५ मील पश्चिम की ओर गंगा नदी के मार्ग से मिल जाती है। यहाँ से यह पुन पूरब की ओर मुड़ती है गंगा को मिर्जापुर के पास पार करती है तथा अवधी को अपने बायें छोड़ती हुई एवं सीधे उत्तर की ओर 'ग्रांड ट्रंक रोड' पर स्थित 'तमंचाबाद' का स्पर्श करती हुई जौनपुर शहर के कुछ मील पूरब तक पहुँच जाती है। इसके पश्चात् घाघरा नदी के मार्ग का अनुसरण करती हुई वह 'अकबरपुर' तथा 'टाँडा' तक चली जाती है। घाघरा नदी के उत्तरी बहाव-मार्ग के साथ-साथ पुन: यह पश्चिम में ८२ देशान्तर तक पहुँच जाती है। यहाँ से टेढ़े मेढ़े मार्ग से होते हुए बस्ती जिले के उत्तर-पश्चिम नैपाल की तराई में स्थित यह सीमा 'उरवा' तक चली जाती है। यहाँ पर भोजपुरी की सीमा एक पतली पट्टी बनाती है जिसका कुछ भाग नैपाल-सीमा के अन्तर्गत तथा कुछ भारतीय सीमा के अन्तर्गत आता है। यह पट्टी १५ मील से अधिक चौड़ी नहीं है तथा बहराइच तक चली गई है। इसमें थारू-जाती बोली जाती है जिसमें भोजपुरी के ही रूप मिलते हैं।

भोजपुरी की उत्तरी सीमा अवधी की उस पट्टी को जो भोजपुरी तथा नैपाली के बीच है बाईं ओर छोड़ती हुई दक्षिण की ओर ८३ देशान्तर-रेखा तक चली गई है। यह पूरब में रुम्मनदेई (बुद्ध के जन्मस्थान प्राचीन लुम्बिनी) तक पहुँच जाती है। यहाँ से यह पुन उत्तर-पूरब ओर नैपाल राज्य में स्थित बुटवल तक चली जाती है तथा वहाँ से पूरब होती हुई नैपाल-राज्य के अमलेखगंज के १५ मील पूरब तक पहुँच जाती है। वहाँ से यह फिर दक्षिण ओर मुड़ती है। इसके पूरब में मैथिली का क्षेत्र आ जाता है। मुजफ्फरपुर के मील इधर तक पहुँचकर यह सीमा पश्चिम की ओर मुड़ जाती है तथा गंडक नदी के साथ-साथ वह पटना के पास तक आकर गंगा नदी में मिल जाती है। इसके बोलनेवालों की संख्या भी अन्य दो बिहारी बोलियों मैथिली तथा मगही की संयुक्त संख्या से लगभग दुगुनी है।"

डॉ॰ तिवारी ने यह आश्चर्य प्रकट किया है कि भोजपुरी की इतनी व्यापकता एवं उसके बोलनेवालों का उसके प्रति अधिक अनुराग होते हुए भी उसमें लिखित साहित्य का बड़ा अभाव है। इसका एक कारण उन्होंने यह दिया है कि मिथिला तथा बंगाल के ब्राह्मणों ने प्राचीन काल में संस्कृत के साथ-साथ अपनी मातृभाषा का भी साहित्यिक रचना के मध्य अपनाया किन्तु भोजपुरी-क्षेत्र के ब्राह्मणों ने संस्कृत पर ही विशेष बल दिया। आज भी भोजपुरी के स्थान भोजपुरी का उतना प्रभाव शिक्षा के माध्यम आदि के रूप में देखा नहीं जाता जितना मैथिली बोलनेवाले अपनी बोली को। भोजपुरी बोलनेवाले

शायद ऐसा अनुमान करते हैं कि भोजपुरी को शिक्षा का माध्यम बनाने से राष्ट्रभाषा हिन्दी को क्षति पहुँचेगी। दूसरा कारण यह है कि जो विशाल साहित्य भोजपुरी में है भी—मुख्यतः निगु ण-परम्परा के संतों की बानियों में—उसकी ओर अबतक हमने उपेक्षा की भावना रखी है और उसे गवेषणा की परिधि से बाहर रख छोड़ा है। आवश्यकता है कि हम भारत के एक विस्तृत भूखंड की भाषा—भोजपुरी—के मौखिक तथा लिखित साहित्य का संकलन एवं अध्ययन करें। सरभंग-संतों की शत-सहस्र फुटकल रचनाएँ इस अध्ययन में चार चाँद लगायेंगी—यह हमारा दृढ़ विश्वास है।

आज 'शिष्ट' साहित्य के नाम पर हम भोजपुरी के अनेकानेक समर्थ शब्दों को 'ग्राम्य या 'स्लैंग' (slang) कहकर टाल देते हैं किन्तु हमें भय है कि ऐसा करके हम एकरूपता तो लाते हैं पर जीवन्त विविधता की हत्या भी करते हैं। उदाहरणतः भोजपुरी-क्षेत्र में थोड़े-थोड़े भाव-भेद के साथ 'डंडा' 'सोंटा' 'लाठी' 'लट्ठ' 'गडर' बाँस' 'लबदा' 'छड़ी' 'छड़की' 'गोजी' 'पैना' 'मुगदरन' आदि अनेकानेक शब्द एक ही अर्थ—प्रहरण-माध्यम—के द्योतक हैं। क्या यह दुर्भाग्य की बात नहीं होगी यदि हम शिष्ट साहित्य अथवा खड़ीबोली के साहित्यिक रूप की वेदी पर इन जीवन्त शब्दों की बलि चढ़ा दें। भोगेश्वराचार्य के 'स्वरूप-प्रकाश' के पदों से कुछ उदाहरण लें—

तू तो जानल जमपुर जइबs हो बैमनवाँ मनवाँ मोर।
धर्मराज जब पकड़ि मगइहें गोंजन होइहें ठोर॥
एक दिनवाँ जमु करि दौरा गदर-मदर दिहें फोर।
झूठ बच कस करि माया बटोरी कइलs लाख करोर॥
उठवाँ हाथ मींजि पछतइबs सूखी जास से ठोर।

× × ×

पाँच भँवर घुमि आगी लागे धह-धह उठी धँधोर।

× × ×

पियाजी के पहुँचल पतिया हो संग पिआरी निआर।
सुनि-सुनि उमगल छतिया हो कब होइहें दिदार॥
आइ गइल डोलिया कँहरिया हो रंग लगुनी ओहार।
पियवा के उनके बलइया हो मोरे करबो दुलार॥
मिलि लेहु सखिया सलेहरि हो, करि भेंट अँकवार।

× × ×

किस चंचल होइ गइले हो मारले मिनुसार।

होय सबेर पौ फाटल हो मोरे गेल अन्हिआर।
बरिआतिया अगुतायल हो बोलि दिहले कँहार॥

× × ×

जनतों में बैबी अमरपुर हो इहाँ कोइ ना हमार।
बाबा के संपति अगिआ लेरुहीं हो लेवों सम्हारे सम्हार॥

× × ×

अवचक में पिया अइलन हो लेले डोलिया कँहार।

× × ×

सुन मन मोरे भोरहनवाँ हो अबहु सम्हार।

× × ×

दिन नियराइले गवनवाँ हो अइले डोलिया कँहार।

छुटि गेल भरत भरोहर हो छुटे अपन परार।

× × ×

कवन कसूर बिसरायेउ हो धनि भारी बपस।

× × ×

बेस्वा मई बहुत पतिबरता तू न छोड़व सबराई।

× × ×

गोड़ हम लागीले साहेबजी के हम भरीले हो राम।
किया हो राम नइहर लागेले उघार ससुरा मन भावेले हो राम॥

× × ×

कथी के कागज कथी के सेम्हुरिया।
कमिए में मसली पहिरि के सरिवा॥

× × ×

कुछ अन्य सन्तों की बानियों से भी स्थालीपुलाक-न्याय से उदाहरण दिये जाते हैं—
मत करहऽ मति भउरौहऽ ए साजन मत करहऽ

× × ×

सब संतन मिलि सौदा करतो, जहाँ हसन के लागल बा कचहरी।

× × ×

सु रखा लोहावन पोखरी अमित रस से भरल भगरी।

× × ×

केतइत रहनीं सखिन्ह संगे रे, औचक में भेजले निवार।
सुनते चिहुँकि मनवा बेअगर भइले रे फूटल नैना से धार।

× × ×

बपया के भइले रामा घर के बिलैया
बाप पीठे फैंकले सिआर।

शायद ऐसा अनुमान करते हैं कि भोजपुरी को शिक्षा का माध्यम बनाने से राष्ट्रभाषा हिन्दी को क्षति पहुँचेगी। दूसरा कारण यह है कि जो विशाल साहित्य भोजपुरी में है भी—मुख्यतः निगु ण-परम्परा के संतों की बानियों में—उसकी ओर अबतक हमने उपेक्षा की भावना रखी है और उसे गवेषणा की परिधि से बाहर रख छोड़ा है। आवश्यकता है कि हम भारत के एक विस्तृत भूखंड की भाषा—भोजपुरी—के मौखिक तथा लिखित साहित्य का संकलन एवं अध्ययन करें। सरभंग-संतों की शत-सहस्र फुटकल रचनाएँ इस अध्ययन में चार चाँद लगाएँगी—यह हमारा दृढ़ विश्वास है।

आज 'शिष्ट' साहित्य के नाम पर हम भोजपुरी के अनेकानेक समर्थ शब्दों को 'ग्राम्य' या 'स्लैंग' (slang) कहकर टाल देते हैं किन्तु हमें भय है कि ऐसा करके हम एकरूपता तो लाते हैं, पर जीवन्त विविधता की हत्या भी करते हैं। उदाहरणतः भोजपुरी-क्षेत्र में थोड़े-थोड़े मात्रा-भेद के साथ 'डंटा' 'सोंठा' 'लाठी' 'लठ' 'लठर' बोंग 'लबदा' 'छड़ी' 'लकड़ी' 'गोजी' 'पैना' 'कुबड़ा' आदि अनेकानेक शब्द एक ही अर्थ—प्रहरण-माध्यम—के द्योतक हैं। क्या यह दुर्भाग्य की बात नहीं होगी यदि हम शिष्ट साहित्य अथवा खड़ीबोली के साहित्यिक रूप की वेदी पर इन जीवन्त शब्दों की बलि चढ़ा दें? योगेश्वराचार्य के 'स्वरूप-प्रकाश' के पदों से कुछ उदाहरण लें—

तू तो बालम जमपुर जइबऽ हो नैमनवाँ मनवाँ मोर।
धर्मराज जब पकड़ि मगइहें गोजन होइहें थोर॥
एक दिनवाँ प्रभु करि दौरा नगर-नगर दिहें फोर।
छल बल कल करि माया बटोरी कइलऽ लाख करोर॥
उहवाँ हाथ मींजि पछतइबऽ सूझी नाहि से ठोर।

× × ×

पाँच भँवर घुमि आयी लागे, बह-बह उठी बँकोर।

× × ×

पियाजी के पहुँचल पतिया हो संग पिआरी निआर।
सुनि-सुनि उमगत छतिया हो कब होइहें दिदार॥
आइ गइल डोलिया कहँरिया हो रंग लगुली ओहार।
पियवा के उनकै बड़का हो, मोरे नेरहे पुकार॥
मिलि लेहु सखिया सहेलरि हो करि भैंट अंकवार।

× × ×

पिछ पंचवा होइ गइले हो मइले मिनुसार।

होत सबेर पी फाटल हो मोरे गेल अन्हिआर।
करिअरिया अगुआइल हो कोठि लिहले कँहार॥

× × ×

नन्हीं में बैठी अमरपुर हो जहाँ कोई ना हमार।
बाबा के संपति अगिया लेवती हो लेठों सम्हारे सम्हार॥

× × ×

भवचक में पिया मारन हो लेले डोलिया कँहार।

× × ×

सुन मन मोरे भोरवनवाँ हो अबहु सम्हार।

× × ×

दिन नियराइले गवनवाँ हो अइले डोलिया कँहार।

छुटि गेल नइहर धरोहर हो छुटे अपन परार।

× × ×

कवन कसूर बिसरावल हो मनि मारी बएस।

× × ×

केस्या मई बहुत पतिव्रता तू न छोड़व सवराई।

× × ×

गोड़ हम लागीले साहेबजी के हम चरीले हो राम।
किया हो राम नइहर लागेले उचाट ससुरा मन भावेले हो राम॥

× × ×

कथी के काजल कथी के सेन्दुरिया।
कथिए में चलली पहिरि के सरिया॥

× × ×

कुछ अन्य सन्तों की बानियों से भी स्थालीपुलाकन्याय से उद्धरण दिये जाते हैं—

मन कहल मति बउरैलऽ ए साजन मन कहल।

× × ×

चल संतन मिलि सौदा करले, जहाँ हसन के लागल बा कचहरी।

× × ×

सुरत्या सोहागन पोखरी अमित रस से भरल गगरी।

× × ×

बेहाल रहनी सखिनई संगे रे, चौमक में मेवले नियार।
सुनते सिहुकि मनवाँ बेअगर भइले रे फूटल नैना से धार।

× × ×

समया के बादले रामा धन के बिसेवा
बाम पीठे फेंकले सिंगार।

शायद ऐसा अनुभव करते हैं कि भोजपुरी को शिक्षा का माध्यम बनाने से राष्ट्रभाषा हिन्दी को क्षति पहुँचेगी। दूसरा कारण यह है कि जो विशाल साहित्य भोजपुरी में है भी—मुख्यतः निर्गुण-परम्परा के संतों की बानियों में—उसकी ओर अबतक हमने उपेक्षा की भावना रखी है और उसे गवेषणा की परिधि से बाहर रख छोड़ा है। आवश्यकता है कि हम भारत के एक विस्तृत भूखंड की भाषा—भोजपुरी—के मौखिक तथा लिखित साहित्य का संकलन एवं अध्ययन करें। सरभंग-संतों की शत-सहस्र फुटकल रचनाएँ इस अध्ययन में चार चाँद लगायेंगी—यह हमारा दृढ़ विश्वास है।

आज 'शिष्ट' साहित्य के नाम पर हम भोजपुरी के अनेकानेक समर्थ शब्दों को 'ग्राम्य' या 'स्लैंग' (slang) कहकर टाल देते हैं किन्तु हमें भय है कि ऐसा करके हम एकरूपता तो लाते हैं, पर भौगोलिक विविधता की हत्या भी करते हैं। उदाहरणस्वरूप भोजपुरी-क्षेत्र में थोड़े-थोड़े भाव-भेद के साथ 'डंटा' 'सोंटा' 'लाठी' 'लट्ठ' 'लउर' 'बाँस' 'लबदा' 'छड़ी' 'लकड़ी' 'गोजी', 'पैना' 'कुल्हरन' आदि अनेकानेक शब्द एक ही अर्थ—प्रहरण-माध्यम—के द्योतक हैं। क्या यह दुर्भाग्य की बात नहीं होगी यदि हम शिष्ट साहित्य अथवा खड़ीबोली के साहित्यिक रूप की वेदी पर इन भौगोलिक शब्दों की बलि चढ़ा दें! योगेश्वराचार्य के 'स्वरूप-प्रकाश' के पदों से कुछ उदाहरण लें—

तू तो जानल जमपुर जइबऽ हो बैमनवाँ मनवाँ मोर।
धर्मराज जब पकड़ि मँगइहें गींजन होइहें तोर॥
एक दिनवाँ प्रभु करि दीन्हा गतर-गतर दिहें फोर।
धन मद धन करि माया बटोरी कइलऽ लाख करोर॥
उहवाँ हाथ मींजि पछतइबऽ सूखी घास से ठोर।

× × ×

पाँच भँवर धुमि आगी लागे धह-धह उठी बँबोर।

× × ×

पियाजी के पहुँचल पतिया हो संग पियरी लिलार।
सुनि-सुनि उमगत छतिया हो मन होइहें विहार॥
आइ गइल कोहिलिया ओँरिया हो रंग धनुषी भीहार।
पिअवा के उनके बखेरवा हो मोरे केरल सुमार॥
मिलि लेहु सखिया सहेलरि हो, करि भेंट अँकवार।

× × ×

फिर चंचल होइ मइलो हो मइलो भिनुसार।

होत भोर यो फाटल हो मोरे गेल अन्हिआर।
हरिअरिया अगुवारल हो बीतल सिरसे कँहार॥

× × ×

परिशिष्ट (२)

घ शव-साधना; श्मशान-साधना

ङ मारण-मोहनादि मंत्र

उँटवा के मुँहवा में जिरवा न पड़से
चिउँटी मुख सँसरे पहार।

× × ×

बड़ा जोगे बड़ा तपे कुइयाँ हो खोनवले
डोरिया बाँटेंव बड़ा देरी लागल हो राम।
डोरिया बाँटि-बाँटि कुइयाँ पर धइली
पनिया भरत पाँचो पनिहारिन हो राम।
टुटि गइले डोरिया रामा कुइयाँ मंसिआइ गइले
उलुटि चलेले पाँचो पनिहारिन हो राम।

× × ×

हम इन उद्धरणों को और अधिक न देकर इतना ही कहना चाहेंगे कि ऐसी शत सहस्र पंक्तियाँ और पद भोजपुरी ही क्यों किसी भी लोकभाषा को साहित्यिकता के धरातल पर आसीन करने में समर्थ हो सकेंगे। आवश्यकता है इनके वैज्ञानिक संकलन एवं अध्ययन की तथा एक सुव्यवस्थित भाषा-सम्बन्धी नीति की।

●

परिशिष्ट (घ)

शव-साधना : श्मशान-साधना

अथ तारातन्त्रोक्तः शव-साधनप्रकारः

मूलम्

पुरश्चरणसम्पन्नो वीरसिद्धिं समाश्रयेत् ।
पुत्रदार-धनस्नेह-लोभ-मोह विवर्जितः ॥१॥
मन्त्रं वा साधयिष्यामि देहं वा पातयाम्यहम् ।
प्रतिज्ञामीदृशीं कृत्वा बलिद्रव्याणि चिन्तयेत् ॥२॥
पूर्वोक्तमुपहारादि समादाय तु साधकः ।
साधयेत् स्वहितां सिद्धिं साधनस्थानमाश्रयेत् ॥३॥
गुरुध्यानादिकं सर्वं पूर्वोक्तमाचरेत् सुधीः ।
वीरार्दनान्तिके भूमौ माया मोहो विधत ॥४॥
ये चान्येत्यादिमन्त्रेण भूमौ पुष्पाञ्जलित्रयम् ।
श्मशानाधिपतीनां तु पूर्ववद्बलिमाहरेत् ॥५॥
अघोरास्त्रेण मन्त्रेण बलिमासनमाचरेत् ।
सुदर्शनेन वा रक्षासुमाभ्यां वा प्रकल्पयेत् ॥६॥
माया स्फुरद्वयं भूयः प्रस्फुरद्वितयं पुनः ।
घोरघोरतरस्यान्ते तनो रूपपदं ततः ॥७॥
चटयुग्मात्परान्ते च प्रचटद्वितयं पुनः ।
कहयुग्मं रमयुग्मं च ततो बन्धयुग्मं ततः ॥८॥
घातयद्वितयं वर्म फडन्तः समुदाहृतः ।
एकपञ्चाशदर्णोऽयमघोरास्त्रमयो मनुः ॥९॥
हालाहलं समुद्रस्य महासारस्वरूपकम् ।
यथामृतं महामन्त्रं सुदर्शनस्य कीर्तितम् ॥१०॥
मूलशुद्धिं ततः कृत्वा न्यासजालं प्रविन्यसेत् ।
अष्टदुर्गाख्यमन्त्रेण सर्षपान् दिक्षु निःक्षिपेत् ॥११॥
विद्याऽत्मीति च मन्त्रेण तिलानपि विनिःक्षिपेत् ।
दधिपिष्टं गुडपिष्टं वस्तुगपिष्टं पयोमृतम् ।
रम्भापिष्टं सर्पवर्द्धं चापकालैर्यामिमूलकम् ॥१२॥
तथा सुन्दरं शवं ततो नग्नं समुन्नतम् ।
स्थापनविशल्यं च संमुखे रक्तचित्रकम् ॥१३॥

स्वेच्छामृतं द्विवयं च वृद्धा स्त्री च द्विर्यं तथा ।
प्रथामाप्तमृतं कुष्टं सतरात्राप्वर्गं तथा ॥१४॥
एवमन्यादृविध त्यक्त्वा पूर्वोक्तान्यतमं शवम् ।
गृहीत्वा मूलमन्त्रेण पूजास्थानं समानयेत् ॥१५॥
चापडालादिभिर्भूत्वा शीघ्र सिद्धिफलप्रदम् ।
प्रणवाद्यस्त्रमन्त्रेण शवस्य प्रोक्षणं चरेत् ॥१६॥
प्रणवं कूर्चबीजं च मृतकाय नमोऽस्तु फट् ।
पुष्पाञ्जलित्रयं दत्त्वा प्रणामस्त्वपनपूर्वकम् ॥१७॥
रे वीर परमानन्द शिवानन्दकुलेश्वर ।
आनन्दशङ्कराकार देवीपर्यङ्कशङ्कर ॥१८॥
वीरोऽहं त्वां प्रपद्यामि उत्तिष्ठ चण्डिकार्चने ।
प्रणम्यानेन मन्त्रेण स्नापयेच्चन्दनादरम् ॥१९॥
तारं शम्भं मृतकाय नमोऽन्तं मन्त्रमुच्यते ।
एवस्नापनमन्त्रोऽयं सर्वतन्त्रेषु देशितः ॥२०॥
धूपेन धूपितं कृत्वा वस्त्रादि वा प्रलिप्य च ।
रक्षाद्यो यदि देवेश भक्ष्येऽन्नसमायकम् ॥२१॥
यस्मा शवस्य साम्निध्यं धारयेत् कटिदेशत ।
मधुपक्वाववत् तस्य दद्याच्छिद्रिकर्ं मुखं ॥२२॥
पुनः प्रणामितं कृत्वा जपस्थानं समानयेत् ।
कुशाद्यम्भो परिस्तीर्य तत्र संस्थापयेच्छवम् ॥२३॥
एलालवङ्गकर्पूरजातो कदिरसाद्य कैः ।
ताम्बूलं तन्मुखे दत्वा शवं कुर्यादधोमुखम् ॥२४॥
स्थापयित्वा तस्य पृष्ठ चन्दनेन विलेपयेत् ।
बाहुमूलादिकट्यन्तं चतुरस्र विभावयेत् ॥२५॥
मध्ये पद्म चतुर्द्वारं दलाष्टकसमन्वितम् ।
ततश्चैवापमर्जितं कम्बलान्तरितं न्यसेत् ॥२६॥
ह्रस्वयाङ्कसमानेन वक्तव्यानि विद्यय ।
इमं बलिं गृहाण त्वं मुञ्च गृहाणय सुखं तत ॥२७॥
विघ्ननिवारणं कृत्वा सिद्धिं प्रयच्छेति द्रवम् ।
अनेन मनुना पूर्वं बलिं दद्याच्च साम्पितम् ॥२८॥
स्वस्वनामादिकं दत्वा पूर्ववद् बलिमाहरेत् ।
सर्वेषां लोकपालानां तत साधकसत्तम ॥२९॥
शवाधिस्थानदेवेभ्यो बलिं दद्यात्सुरासुतन् ।
चतुष्पदिप्रियीगिनीभ्यो डाकिनीभ्यो बलिं हरेत् ॥३ ॥

पूजाद्रव्यं सज्जियौ च दूरे चोत्तरसाधकम् ।
संस्थाप्यासनमभ्यर्च्य समन्तान्त्ते जपो पुन ॥३१॥
फडिस्यनेन मन्त्रेण तस्यारवारोहणं विरेचेत् ।
कुर्यात् पादतले तस्या शवकस्यान् प्रमाज्य च ॥३२॥
दद निबध्य चुटिकां हृत्सम्पुसाधकः ।
शवोपरि समारुह्य प्राणायामं विधाय च ॥३३॥
वीराद्रनेन मन्त्रेण विदु कोणान् समाश्रयेत् ।
ततो देवं समभ्यर्च्य उपचारैस्तु विस्तरै ॥३४॥
शवास्ये विधिवद् वि दस्ताप्यायनं चरेत् ।
उत्थाय सम्मुखे स्थित्वा पठेद् भक्तिपरायण ॥३५॥
मनो मे मम देवेश ममामुकपद तत ।
सिद्धिं देहि महाभाग भूताभवपरात्पर ॥३६॥
मूलं समुच्चरन् मन्त्री शवपादद्वय तत ।
पट्टसूत्रेण बध्नीयात् ततोत्थातु न शक्यते ॥३७॥
भीं भीर भोम भयाभाव मम्मलोचन मानुक ।
पाहि मां देवदेवेश शवानामधिपाधिप ॥३८॥
इति पादतले तस्य त्रिकोण चक्रमालिखेत् ।
ततोत्थातु न शक्नोति शवापि निश्चलो भवेत् ॥३९॥
उपविश्य पुनस्तस्य बाहू नि माय पार्श्वयो ।
हस्तयो कुशमास्तीर्य पादौ तत्र निधापयेत् ॥४०॥
ओष्ठौ तु सपुटौ कृत्वा स्थिरचित्त स्थिरेन्द्रिय ।
तदा देवीं हृदि ध्यात्वा मौनी तु जपमाचरेत् ॥४१॥
श्मशाने मोक्षसंसर्गाभिजर्प कुर्यात् कुलेश्वरि ।
अर्धरात्रिमकालात्तु यावच्चोदयते रवि ॥४२॥
अपराह्ननिपर्यन्त जप्ते किञ्चिन्न शक्यते ।
तदा पूर्वदर्श्यादि समपाद्यागतानि च ॥४३॥
कृत्वोपविश्य तत्रैव जपं कुर्यादनन्यधी ।
जपासनाद् भयं नास्ति भयं जाते वदेत्तत ॥४४॥
गत्वार्थयसि देवेशि दातव्यं कुम्भरादिकम् ।
दिनान्तरं प्रदास्यामि स्वनाम कथयस्व मे ॥४५॥
इत्युक्त्वा संकल्पनेन निर्भयस्तु पुनर्जपेत् ।
ततश्चेन्मधुरं वक्ति वक्तव्यं मधुरं तत ॥४६॥
तदा सत्यं च संस्काय नर च प्रार्थयेत्ततः ।
यदि सत्यं न कुर्याच्च वरं वा न प्रयच्छति ।
तदा पुनर्जपेद्धीमानकाम मानसं मजन् ॥४७॥

न परमस्य मुखे जाते न मार्येत न च स्पृशेत् ।
एकचित्तो भवेत् कृपापात्रस्य पक्वो भवेत् ॥४८॥
न क्षुभ्येत मये जाते न क्षोभे क्षुभ्यतां भवेत् ।
यदि न क्षुभ्यते तत्र तदा किंवा न लभ्यते ॥४९॥
स्त्रीरूपधारिणी देवी द्विजरूपधरः पुमान् ।
चरं गृह्णीति शब्दं वै भिक्षान्ते चरं लभेत् ॥५ ॥
साधुनाऽप्यसाधुना चापि योपितश्चेद्वरदायिनी ।
तदा वीरपदस्थस्य किं न सिध्यति भूतले ॥५१॥
नवस्थामत्वचेद् वा पदस्फूर्ति करोति च ।
एतेन जायते वीरसिद्धिस्त्वघोरतो भवेत् ॥५२॥
देवतां च गुरुं नत्वा विसृज्य हृदयं पुनः ।
स्थापयेत्तोपयेद् विद्वान् सर्वदोषं विनिक्षिपेत् ॥५३॥
तस्य हृते चरं लब्ध्वा संत्यजेच्च जपादिकम् ।
जात फलमिति ज्ञात्वा गुटिकां मोचयेच्च ॥५४॥
संप्रदाय च संस्थाप्य गुटिकां मोचयेत्तदा ।
पदचक्र मार्जयित्वा पूजाद्रव्यं जले क्षिपेत् ।।५५॥
शवं चेदथ गर्ते वा निक्षिप्य स्नानमाचरेत् ।
ततस्तु स्वगृहं गत्वा बलिं दद्याद्दिनान्तरे ॥५६॥
अथ वैताचित्वरथास्य-नर-कुञ्जर शूकरान् ।
दत्वा पिष्टमयानेव कर्तव्यं समुपोषणम् ॥५७॥
भयघोरमपि चाऽपि शान्तिघोरमयं तथा ।
कथमुल्लासेन किञ्चित् तत्र मन्त्रं पाठयेत् ॥५८॥
परेऽर्हि नित्यमाचम्य पञ्चगव्यं पिबेत्ततः ।
मासमात्रं मोक्षयेत्तम पञ्चनिशाधिसंसम्यकान् ॥५९॥
त्रिरात्रं चाऽथ षड्रात्रं गोपयेत् कुलकाननम् ।
शय्यायां यदि वा गच्छेत्तदा व्याधिः प्रजायते ॥६ ॥
गीतं श्रुत्वा तु बधिरो निरचक्षुस्त्वदर्शनात् ।
यदि वक्ति दिन वाक्यं तदा स मूकतां भवेत् ॥६१॥
पञ्चरात्रविनाभ्यादि पदे देवस्य संस्थितिः ।
मोक्षाभ्यानां देवानां निन्दां कुर्यान्न कुत्रचित् ॥६२॥
देवगोब्राह्मणादीभ्य प्रत्यक्ष संस्पृशेत्तु च ।
प्रातर्नित्यक्रियान्ते तु बिल्वपत्रोदकं पिबेत् ॥६३॥
ततः स्नायात्तु तीर्थोदे प्राप्त पोडशवासरे ।
इत्यनेन विधानेन सिद्धिमाप्नोति निश्चितम् ॥६४॥

करे। स्वयं भी वही द्रव्य भोजन करे और उन लोगों को भोजन करावे। इस काम से संसार में गुप्त सिद्धि को साधक प्राप्त कर लेता है। उससे उसको परम आनन्द, शत्रु-राष्ट्र की विजय, संसार का मोहन वशीकरण आदि सिद्ध होता है। संग्राम में शत्रु की सेना उसको देखकर भाग जाती है। बड़े-बड़े शत्रु भी मानव हैं, छोटे शत्रु का क्या ठिकाना। साधक इसी तरह की सिद्धि का भाजन बन जाता है। यह साधन अत्यन्त गोपनीय है। कायर पशु-साधकों को यह कभी न बताना चाहिए।

●

परिशिष्ट (ङ)

मारण-मोहनादि मंत्र[1]

पिछले परिशिष्ट में तंत्रशास्त्रोक्त शव-साधन विधि का उल्लेख किया गया है। यहाँ वास्तविक साधकों के सम्पर्क से जो सूचनाएँ मिलीं उनके आधार पर न केवल श्मशान सिद्धि का कुछ विवरण दिया जायगा अपितु कुछ अन्य मंत्रों का भी उल्लेख होगा।

औघड़ मत की साधना मुख्यतः दो प्रकार की है—एक वैष्णवी; दूसरी श्मशानी। वैष्णवी साधना में मा दुर्गा की पूजा होती है और उसमें मदिरा मांस इत्यादि वर्जित हैं। फल गुड़ आदि की बलि से ही पूजा होती है। किन्तु श्मशानी साधना में शव के माध्यम से प्रेतात्मा को वश में किया जाता है। जब शरीर से आत्मा निकलती है तब वह तेरह दिनों तक अपने घर में ही चक्कर काटती है फिर वह अपने कर्मानुसार सीढ़ियों पर चढ़ती है; जबतक वह पाँचवीं सीढ़ी नहीं पार करती तब तक उसे श्मशान में रहना पड़ता है। इसी बीच साधक उसको वश में करके उससे अपना काम लेता है। शनि या मंगल को विशेषतः विजया-दशमी के अवसर पर १ बजे रात्रि या उससे परे साधक को श्मशान में जाना चाहिए। उसे घर से घी दारू, मिठाई पान फूल धूप कच्ची कपटी सिन्दूर धूप अरवा चावल आक की सूखी लकड़ी कटहल की पत्ती ले जाना चाहिए। जाते समय देह-रक्षा के लिए निम्नलिखित मंत्र को पढ़ना चाहिए—

> बामन की चोटी
> कालिका के बान
> —के मारौं समौखी के बान।
> छौर-बान शक्ति-बान
> सिंह बड़ बीच
> तुरत कर दे पानी॥

गंगा या किसी अन्य नदी से मुर्दे को बाहर कीजिए—अच्छा हो कि वह किसी छोटी का एक भेद जात का मृत शिशु हो। फिर उसे स्नान कराइए; सारे अङ्ग में घी लगाइए; घी से दीया जलाइए और उसके नजदीक बैठ जाइए। मिट्टी का चूल्हा बनाकर उस पर श्मशान के खप्पर में दूध और चावल डालकर खीर बनाइए। तैयार होने पर निम्नलिखित मंत्र का इक्कीस बार पाठ कर देवी का आवाहन कीजिए—

> या देवी सवभूतेषु सवमङ्गलमङ्गले।
> शिवे सर्वार्थसाधिके शरण्यत्मे बके (?)
> गौरि नारायणि नमोस्तु ते।
> सर्व बहर अनग इलाइल पानीयम् ददामि करिष्यामि इति कामाद्देव्यै नम।
> —दोहाई नोनिया चमारिन के।

ऐसा करने से मा की ज्योति का दर्शन होगा ; साधक के दोनों हाथ में जो चिता पर बनी हुई खीर रहेगी उसे कालभैरव उठा लेंगे। मुर्दा जबड़ा खोलेगा और बन्द करेगा ; तब आप खीर देते जाइए। अब दूसरा मंत्र पढ़िए—

कालीं कराल वदनां घोराम्
मुक्तकेशीं चतुर्भुजाम्
देवीं कामाक्षीं खराम्
देहि मे भविष्यानां (?) प्रेतपिशाचानाम्

—इति कामाख्यादेव्यै नमः।

तब दस बीस शव वहाँ आवेंगे। आप रेखा के उसी पार रहिए और वहीं से कचरस के पत्ते पर दारू और खीर देते जाइए। उसे वे प्रेतयोनि के लोग लेते जायेंगे। श्मशान के सरदार सबसे पीछे आयगा। वे दारू की बोतल ले लेगा और पीकर लौट जायगा। अगर उसने दारू पीकर बोतल लाश पर फेंक दी हो, मानिए, श्मशान सिद्धि हो गई ; अगर इधर उधर फेंक दी तो आपकी सिद्धि अधूरी रही। सिद्धि की सूचना पाकर आप मृत शिशु को मूत्र से लिप्त करके फिर स्नान कराइए। अब छुरी से पहले नीबू काट लीजिए और फिर छुरी को धोइए। इसके बाद निम्नलिखित मंत्र से छुरी को बाँधिए—

माटी माटी माटी महादेव मरो फूंठी
बांझ बन्द करे दो सियार बन्द करे दो
बाघ भी माल चोर चोहा
भूत प्रेत बामन जोगिन शाकिन

—दोहाई नरसिंह गुरु के बन्दी पाट।

इस मंत्र से छुरी को पाँच बार बाँधिए। इसके बाद जो अङ्ग चाहे 'मुख्यत' कलाई या खोपड़ी की हड्डी काट कर रख लीजिए। इस हड्डी में सिन्दूर और घी का लेप कीजिए। अन्त में एक बार धूप देकर उसे लेते हुए घर चले आइए। आप को यह प्रेत (श्मशान या 'मसान) सिद्ध हो गया अर्थात् वह आप के वश में हो गया। अब तो वह आपके असंभव इच्छाओं को भी संभव कर दिखायगा।

यदि मा को ज्योति के दर्शन में देर हुई अर्थात् सिद्धि नहीं मिल सकी तो जलती हुई चिता के मुर्दे की छाती पर बैठकर (?) चिता की आग में ही आँटे के साथ छाती के चाम के नीचे का मांस मिलाकर रोटी पकाइए और उसे खाइए। यह क्रिया साल में कम-से कम एक बार, अर्थात् आश्विन शुक्ल अष्टमी (दुर्गा-पूजा) को अवश्य करनी चाहिए।

यह नहीं समझ लेना चाहिए कि साधक को उसका गुरु उपर्युक्त श्मशान क्रिया के लिए तुरत आज्ञा दे देगा। कई महीनों तक कभी-कभी वर्षों तक गुरु की सेवा करनी

होगी और उससे मंत्र सीखने होंगे। इसे पहले 'देह ठीक करने' का मंत्र सीखना होगा यथा—

सीक भया बाँध बाँधो
बीन गाँठी बाँध बाँधो बाँधो संसार
हाथ चबूका मारा पके
भूता धूप भुपाय।
—दोहाई नरसिंह गुरु के कवी पाट।

एक दूसरा मन्त्र दिया जाता है जिसके द्वारा इस पुरुष या रोगी के चारों तरफ का 'सीवाना' (सीमा) बाँधा जाता है—

ओझउस कली रक्त की माला
तापर डायन करे सियार
काला कौआ काँव-काँव करे
रे कागा
काइ कलेजा खा दे तोहिं मोरे हाथ।
ना खावे तो छह महीना सुखावे खाट
—दोहाई नोनिया चमारिन के।

जिस साधक ने इन कुछ मंत्रों से लेखक को परिचित कराया उनका कहना था कि उन्हें इस प्रकार के लगभग डेढ़-दो सौ मंत्र याद हैं। जिस 'मंत्र का बहुआ' शीर्षक ग्रन्थ की चर्चा इस परिशिष्ट की प्रथम पादटिप्पणी में की गई है उसमें सैकड़ों प्रयाजनों के विभिन्न मंत्र दिये गये हैं। केवल कुछ नमूने के तौर पर यहाँ अविकल उद्धृत किये जाते हैं।

देह-बन्धन-मंत्र—

नीचे बाँधू धरती ऊपर बाँधू अकाश कामनी बाँधो पताल के डाकनी बाँधो उत बाँधो भूत बाँधो चारा दिसा डाइन के गुप्त बाँधो ओझा का विद्या नजर बाँधो गुजर बाँधो ठहरानी पेसल पोसल सर्प बाँधो मलयागिरि समठानी बाघमेल के नजर बाँधो फेर ना मांगे पानी तीर बाँधो तरकस बाँधा बाँधो तब होवे कल्याणी। दोहाई गुरु गोरखनाथ मछंदर जोगी के दोहाई ईश्वर महादेव गौरा पारवती दोहाई नैना जोगिन जिरिया उमोहिन हिरिया धोबिन चमरुखा बासिन के॥

शत्रु-नाशन-मंत्र—

ओं ऐं ह्रीं महा महाविकराल भैरव उदल काय मम शत्रु दह दह हन हन हन पच पच उन्मूलय उन्मूलय ओं हां ह्रीं हूं फट्॥

(श्मशान में भैंसे के चर्म पर बैठकर हाड़ की माला लेकर इस मंत्र को जप पश्चात् सवा सेर सरसों का हवन करे; सात रात ऐसा करने से निश्चय शत्रु का नाश हो।)

शत्रु विद्वेषण-मंत्र—

ओं गां गीं गु हाशवि मम्बोल हां हां हां भ्यां भ्यां भ्यां भाहि भाहि कों हीं हीं ॥

(साही के चम पर बैठकर एतवार मंगल की रात में इस मंत्र को पढ़-पढ़ उड़द और साही के रोम मिलाकर अग्नि में आहुति दे। तत्पश्चात् साही का कांटा अभिमंत्रित कर शत्रु की देहली के नीचे गाड़ देने से परस्पर विग्रह हो।)

सज्जन-वशीकरण-मंत्र—

ओं ताल सुवरी यह यह हरे माल माल भ्रां भ्रां हुं हुं हुं हें हें काल कमानी कोर कालिका ओं ठः ठः ॥

(राजहंस का पंख और कोयली के फूल सुखा गौ के दूध में खीर पकाकर मंत्र पढ़कर अग्नि में आहुति करे, चित्त में वश करनेवाले का ध्यान करे तत्काल सिद्धि होय।)

प्रेत-वशीकरण-मंत्र—

ओं सात सहेला छोसठ भाई काम पर्दा भाई भाई ओं ठं ठं ठं ठ ठः ॥

(शनैश्चर की अर्धरात्रि में नग्न हो बबूल के वृक्ष के नीचे आक की लकड़ी जलाकर मंत्र पढ़-पढ़ काले तिल उड़द की आहुति दे। जब प्रेत सम्मुख आ बातें करे उस समय वह हो अपना हाथ काटकर सात बूँद रक्त की पृथ्वी पर टपकावे प्रेत सदा वश में रहे। जब बुलाना हो, रात्रि में मल-त्याग कर आबदस्त से शेष पानी बबूल पर चढ़ाता जाय मंत्र पढ़ता जाय तुरत आ जाय।)

टिप्पणियाँ

परिशिष्ट (क)—पृ० १८

१ इस परिचय में क्रम से निम्नलिखित आधारभूत साहित्य का उल्लेख किया है—

(१) Beal Si-y ki Buddhist Records of the W World, i 55
(२) Watters Yuan Chuang s Travels in I dia, i 123
(३) माधवाचार्य शंकरविजय।
(४) H H Wilson Essays i 264
(५) स्मृति मतसमीमांसा।
(६) Wilson Theatre of th Hindus ii 55
(७) Frazer Lit History of India, 289 ff
( ) प्रबोधचन्द्रोदय (J T ylor द्वारा अंगरेजी-अनुवाद; पृ पृष्ठ)
(९) दबिस्तां (Shea Troyer द्वारा अंगरेजी-अनुवाद II 129)
(१) Havell; Benares Th Sacred City पृ ११ आ)
(१) M Th venot Travels.
(१२) Ward, View of the Hindoos (1818) II 373
(१३) Tod Tra ls in W Indi (1839) पृ १ आ

(१४) Buchanan, E India ii 49* ff
(१५) The Revelations of an Orderly
(१६) Monier Williams Hinduism and Brahmanism पृ ५६
(१७) Barth, Religi ns of India पृ ५६
(१८) Wilson Essays i 21 *64
(१९) Panjab Notes and Queries iv 142; ii 75
(२) H. Balfore (JAI [1897] xxvi 340 ff)
(१) Colebrooke Essays ed 1858 36
(२२) Crooke Pop Religion ii, 204ff
(२३) Pliny HN xxviii, 9
(४) Crooke Tribes and Castes i 26; T and Castes of N W Provinces (1896) i 26ff
(२५) कालिका पुराण ।
(२६) Hopkins Rel. of India 490 533
(२) Gait Census Rep Bengal 1901 i, 181 F ; Assam, 1891 i,80- Pop Rel ii, 169 ff
( ) Hartland Legend of Perseus ii 278 ff
(२९) Hadden Report Cambridge Exped. v 321
(३) JAI x. 305; Halenesians 232 xxxii, 46 xxvi 347 ff. xxvi,357 ib xix 285
(३१) Johnston Uganda, ii, 578 692, f
(३२) कथा सरित्सागर (Tawney) i 158 ii 450 594
(३३) Temple-steel Wideawake Stories, 418
(३४) Fawcett Bulletin of the Madras Museum iii, 311
(३५) Man, ii, 61
(३६) Waddell, Among th Himalayas 401
(३) Lhasa and its Mysteries 220 221 243 270
(३) Paulus Diaconus Hi t. Langot ii 28 in Gummere Germ. Orig 120
(३९) F lk-lore vii 276; xiv 270
(४) Mitchell, Th Past in th Present 154.
(४१) Rogers, Social Life in Scotland, iii 225
(४२) Black Folk Medicine 96
(४३) Buchman, Hamilton Account of the Kingdom of N pal 35
(४४) PASB iii, 209 f 300 ff ; iii, 241 f iii, 348 ff ; iii (1893) 197ff (E T Leith)
(४५) North Indian Notes and Queries ii 31

गोसाईं बाबा कैनारायनरामजी महाराज की समाधि

पं. मनोहर चौबे

बाबा प्रतापचन्द्र 'आनन्द'

गोसाईं बाबा मैनारायनरामजी महाराज

भवरा-मठ में लेखक—बाईं ओर से दूसरा

वाराणसी के औघड़-मठ की समाधियाँ

हरपुर ग्रामस्थ एक दूसरे मठ की मार्तरम

वाराणसी के [illegible] मठ के महन्त

झखरा मठ का मुख्य स्थान जहाँ टेकमनराम की समाधि है।

बकरी—मालोपाली (सारन) मठ के औघड़ साधु

गोसाईं बाबा किनाराम

कबरा-मठ में अनुसन्धान के सिलसिले में लेखक के साथ प नगर भीड तथा श्रीरामनारायण शास्त्री

कामाख्या का मन्दिर (आसाम)

शब्दानुक्रमणी

शब्दानुक्रमणी

[पीठिकाध्याय]

[मूल-ग्रन्थ]

ख

ग